समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विविध समीक्षा शास्त्र का सैद्धान्तिक इतिहास तथा विभिन्न देशों की प्रमुख भाषाओं तथा परम्पराओं विशेष रूप से संस्कृत, हिन्दी यूनानी, रोमीय, अंग्रेजी फ्रांसीसी स्पेनी जर्मन, रूसी, तथा अमरीकी आदि का वैज्ञानिक एवं गवेषणापूर्ण अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्रमुख समीक्षात्मक परम्पराओं, विचार प्रणालियों तथा चिंतन धाराओं का विकासात्मक इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही साथ इसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य वैचारिक दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा सम्यक मूल्यांकन भी उपस्थित किया गया है जिसके कारण यह प्रबंध हिंदी शोध के इतिहास की गौरवशालिनी परम्परा में एक ऐतिहासिक उपलब्धि बिन्दु के रूप में मान्य होगा।

डॉ० प्रतापनारायण टंडन—जन्म: लखनऊ, शिक्षा बी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए (स्पेशल) लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा, मध्यमा विशारद तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् १९५८ में लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास शीर्षक प्रबन्ध पर पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। लखनऊ विश्वविद्यालय से ही १९६१ में समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रबन्ध पर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६१ का बोनर्जी रिसर्च प्राइज भी प्रदान किया गया। प्रकाशित कृतियाँ: आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) सन् १९५६ (प्रकाशक—विद्यामंदिर, लखनऊ) हिन्दी उपन्यास में वर्ग भावना प्रेमचन्द युग (शोध-रचना) सन् १९५५ (प्रकाशक—हिंदी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय) कैंडिडे (अनुवाद) सन् १९५९ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली), रीता की बात (उपन्यास) सन् १९५७ (प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन लखनऊ) हिंदी साहित्य: पिछला दशक (आलोचना) सन् १९५७ (प्रकाशक हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ) हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (शोध-प्रबन्ध) सन् १९५९, (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ) अन्धी दृष्टि (उपन्यास) सन् १९६० (प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) बदलते इरादे (कहानी-संग्रह) सन् १९६ (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ), हिंदी उपन्यास का उद्भव और विकास (संक्षिप्त प्रबन्ध) सन् १९६० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य भण्डार, लखनऊ) रीता (पाकेट-संस्करण) सन १९६२ (हिंद पाकेट बुक्स नई दिल्ली) स्वर्ग यात्रा (नाटक) सन् १९६२ (प्रकाशक—भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली) सहमे पानी की बूँदें (उपन्यास) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) शून्य की पूर्ति (कहानी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) नवाब ननकौमा (एकांकी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) तथा हिन्दी उपन्यास कला सन् १९६५ (प्रकाशक—हिन्दी समिति, उ० प्र० शासन लखनऊ) आदि। उपर्युक्त में से हिंदी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास तथा अन्धी दृष्टि नामक रचनाएँ उत्तर प्रदेशीय शासन द्वारा पुरस्कृत की गयीं। संपादन कार्य लखनऊ से प्रकाशित नई कहानी संकलन (१९५६) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९५५ से १९५९ तक युग चेतना (लखनऊ) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक दर्जन से अधिक कहानियाँ वार्ताएँ तथा नाटक आदि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९६४ में इटली (योरप) की यात्रा की तथा रोम पिस्टोइया पीसा तथा फ्लोरेंस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। अध्यापन जनवरी-अक्टूबर १९५९ में राजकीय रजा डिग्री कालेज, रामपुर में हिंदी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९५९ से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप में काम कर रहे हैं।

समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[लखनऊ विश्वविद्यालय की डी० लिट० (हिंदी) की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

द्वितीय खंड

लेखक
डॉ० प्रतापनारायण टंडन
बी० ए० (ऑनर्स) एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्
प्राध्यापक हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ



विवेक प्रकाशन

डॉ० प्रतापनारायण टंडन—जन्म : लखनऊ, शिक्षा बी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए० (स्पेशल) लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा, मध्यमा विशारद तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। सन् १९५८ में लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास शीर्षक प्रबन्ध पर पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। लखनऊ विश्वविद्यालय से ही १९६३ में समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रबन्ध पर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६१ का ओसवाल रिसर्च प्राइज भी प्रदान किया गया। प्रकाशित कृतियाँ : आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) सन् १९५६ (प्रकाशक—विद्यामंदिर, लखनऊ) हिन्दी उपन्यास में वर्ग भावना प्रेमचन्द युग (शोध रचना) सन् १९५६ (प्रकाशक—हिंदी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय), कौड़िये (अनुवाद) सन् १९५६ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली), रीता की बात (उपन्यास) सन् १९५७ (प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन लखनऊ) हिंदी साहित्य : पिछला दशक (आलोचना) सन् १९५७ (प्रकाशक हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ) हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (शोध-प्रबन्ध) सन् १९५९ (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ), अन्धी दृष्टि (उपन्यास) सन् १९६० (प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) बदलते इरादे (कहानी-संग्रह) सन् १९६० (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ) हिंदी उपन्यास का उद्भव और विकास (संक्षिप्त प्रबन्ध) सन् १९६० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य भण्डार, लखनऊ) रीता (पाकेट-संस्करण) सन १९६२ (हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली) स्वर्ण यात्रा (नाटक) सन् १९६२ (प्रकाशक—भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली) सहमे पानी की बूँदें (उपन्यास) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) स्वप्न की पूर्ति (कहानी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) नवाब ननकौआ (एकांकी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन लखनऊ) तथा हिन्दी उपन्यास कला सन् १९६५ (प्रकाशक—हिन्दी समिति उ० प्र० शासन लखनऊ) आदि। उपर्युक्त में से हिंदी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास तथा अन्धी दृष्टि नामक रचनाएँ उत्तर प्रदेशीय शासन द्वारा पुरस्कृत की गयीं। संपादन कार्य लखनऊ से प्रकाशित नई कहानी संकलन (१९५६) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९५५ से १९५९ तक युग चेतना (लखनऊ) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक दर्जन से अधिक कहानियाँ वार्ताएँ तथा नाटक आदि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९६४ में इटली (योरप) की यात्रा की तथा रोम पिस्टोइया, पीसा तथा फ्लोरेंस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। अध्यापन जनवरी-अक्टूबर १९५९ में राजकीय रजा डिग्री कालेज, रामपुर में हिंदी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९५९ से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[लखनऊ विश्वविद्यालय की डी० लिट्० (हिंदी) की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

द्वितीय खंड

लेखक

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

बी० ए० (ऑनर्स) एम० ए०, पी-एच० डी० डी० लिट्०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ



विवेक प्रकाशन

मूल्य
पच्चीस रुपये (द्वितीय खण्ड)

संस्करण
प्रथम, १९६२

प्रकाशक
विवेक प्रकाशन
किशोर बुक डिपो अमीनाबाद लखनऊ

मुद्रक
वंदना प्रेस
नजीरगंज, हातीगंज, लखनऊ

विषय सूची

अध्याय ६

अध्याय ७

भारतीय वैचारिक भीतीपर्ने का स्वरूप और सैद्धांतिक आधार पृ० २९१—७२७

२६४३

अध्याय ८

विषय सूची

अध्याय ९

अध्याय १०

उपसंहार

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

अध्याय १

पाश्चात्य वैचारिक आंदोलनों का स्वरूप और सैध्दांतिक आधार

पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और विकास

पाश्चात्य समीक्षा की विविध परम्पराओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें समय-समय पर अनेक वैचारिक आन्दोलनों का सूत्रपात होता रहा है। पाश्चात्य चिन्तन के लगभग ढाई हजार वर्षों में साहित्य, काव्य समीक्षा, कला दर्शन तथा मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में अनेक आन्दोलन प्रवर्तित किये गये तथा उनके खंडन मंडन के प्रयत्न हुए। ये आन्दोलन वस्तुतः वाङ्मय की विधाओं के प्रति भिन्न दृष्टिकोण ही थे। साहित्य में किस तत्व को प्रमुखता दी जाय और उसके आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाय, यही भावना इन विचार प्रणालियों के मूल में थी। इसलिए जब कभी भी कोई नवीन विचार पद्धति प्रवर्तित की गयी तब उसने न केवल समकालीन चिन्तन को प्रभावित किया वरन् उसके भावी विकास की रूपरेखा भी स्पष्ट की। समीक्षा के मानदंडों के निर्धारण तथा साहित्य के प्रति मूल दृष्टिकोण में भी इनके द्वारा परिवर्तन किया गया। इसलिए इन वैचारिक आन्दोलनों का समीक्षा के इतिहास में विशिष्ट महत्व है।

आदर्शवाद

स्वरूप —

आदर्शवाद हिन्दी में अंग्रेजी शब्द 'आइडियलिज्म' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसे बहुधा विचारवाद भी कहा जाता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आइडिया या विचार से है। आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका आरोपण वाङ्मय के विविध अंगों के क्षेत्रों में बहुलता से हुआ है। साहित्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें आदर्शवाद से आशय एक ऐसी विचारधारा से समझा जाता है, जो मनुष्य को अपने जीवन में किन्हीं उदात्त तत्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की दिशा में चलने की प्रेरणा दे। ये

उपलब्धियाँ वस्तुतः मनुष्य के आत्मिक सन्तोष और सुख का मूल कारण होती हैं, क्योंकि वे हृदयगत होती हैं और प्रायः बाह्य रूप से संयम, त्याग और आत्म-पीड़न को श्रेयस्कर बताती हुई उनका समर्थन करती हैं। मनुष्य इस विचारधारा का समर्थन करता हुआ क्रमशः इस निष्कर्ष पर आने लगता है कि वस्तुतः बाह्य अथवा शारीरिक सुखों के द्वारा किसी स्थायी तृप्ति की भावना का अनुभव करना सम्भव नहीं है। इसीलिए उसका दृष्टिकोण अन्तर्मुखी होने लगता है और वह आन्तरिक सुख और सन्तोष की खोज में स्वभावतः बाह्य सुखों के प्रति उदासीन हो जाता है।

उद्देश्य —

आदर्शवाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण के साथ ही साथ यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि आदर्शवाद द्वारा निर्देशित यह आत्मिक सुख की भावना बाह्य सुखों की अपेक्षा इसलिए भी करती है, क्योंकि अन्ततः वह स्थायी सुखों के कारणों की खोज करती है। यह स्थायी सुख और सन्तोष प्रायः उस चिरन्तनता का सूचक होता है, जिसका प्रयोग आत्मा के सम्बन्ध में बहुधा किया जाता है। मनुष्य के शरीर में निवास करने वाली आत्मा अमनश्वर होती है। अतः यदि उसे किसी प्रकार का सन्तोष प्रदान करना है, तो इसके लिये चिर सन्तोष के सूत्रों की खोज करना आवश्यक है, क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसा होना सम्भव है। चिर सन्तोष के सूत्रों की खोज की पूर्ण प्रक्रिया इतनी दीर्घसमयी है कि मनुष्य की कल्पना और विचार शक्ति की कार्यशीलता उसकी खोज में अनवरत रूप से गतिशील रहती है। इसके परिणाम स्वरूप ही वह उन उपलब्धियों और उनकी सम्भावनाओं के भी संकेत पाता है जो उसे अभीप्ट होती हैं। *उनकी ओर उसकी उन्मुखता जाग्रत करना ही स्थूल रूप से आदर्शवादी* विचार धारा का उद्देश्य है।

आध्यात्मिकता —

मनुष्य के जीवन को उदात्तशील बनाने वाली इस विचारधारा की मूल वृत्ति अन्तर्मुखी है। उसके द्वारा जिन जीवन मूल्यों का निर्धारण होता है, वे भी उदात्तता के सूचक होते हैं। आदर्शवाद द्वारा निर्देशित निर्धारित ये जीवन मूल्य उस सामर्थ्य से युक्त होते हैं, जो जीवन के लिए एक प्रकार की प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। मानव जीवन को उसके उच्च लक्ष्य के धरातल का संस्पर्श कराने वाली यह शक्ति मूलतः सर्वहित और सर्व कल्याण की भावना का आधार लिये होती है। यही कारण है कि आदर्शवादी साहित्य के अन्तर्गत जिन रचनाओं की गणना की जाती है, वे एक प्रकार की अन्तर्मुखी

वृत्ति के साथ ही साथ साहित्य कला के उच्चतर मापों के अनुसार भी अपनी सार्थकता प्रमाणित करती है। परन्तु आदर्शवादी साहित्य में इस अन्तर्मुखी वृत्ति के समावेश का एक अनिवार्य परिणाम यह देखने में आता है कि वह एक प्रकार के आध्यात्मिकता के आवरण से आवृत आभासित होता है। यह आध्यात्मिकता का आवरण जहाँ एक ओर उसकी उच्चता और स्तरीयता का सूचक होता है, वहाँ दूसरी ओर वह स्पष्ट रूप से उसमें निहित उन तत्वों की ओर संकेत करता है जो संकुचित दृष्टिकोण और भावनाओं के विरोधी होते हैं।

उदात्त वृत्ति :—

स्थूल रूप से आदर्शवाद जगत और जीवन में पायी जाने वाली वास्तविकता का ही साहित्य में प्रतिष्ठित करने का विरोधी होता है। इस दृष्टि से इसे अवैज्ञानिक भी कहा जा सकता है। यह जीवन चित्रणों में वास्तविकता के स्थान पर उदात्तता के समावेश का समर्थन करता है। वह साहित्य में वर्णित प्रत्येक विषय के उदात्त स्वरूप को आदर्श मान कर उसी के चित्रण पर जोर देता है, क्योंकि उसके ही चित्रण और अंगीकरण से जीवन को उदात्त और कल्याणमय बनाया जा सकता है। आदर्शवाद की इस भावना को उसकी निरर्थकता का सूचक समझा जाता है, यद्यपि यही उसकी सार्थकता का सबसे प्रबल आधार है।

वास्तव में जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों और अंगों में दो प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं। एक तो वे जो जीवन के यथार्थ चित्र की सारहीनता के कारण उसके नाशात्मक तत्वों का अनुमनन करती हैं और दूसरी वे जो जीवन के सृजनात्मक पक्ष पर ही केन्द्रित रहते हुए सृजन के प्रेरणात्मक तत्वों का निर्माण करती हैं। इसलिए आदर्शवाद मानव जीवन की वास्तविकता से परिचित रहते हुए भी उसके एक ऐसे उदात्त स्वरूप की सम्भावनाओं पर बल देता है जो बोधगम्य और व्यावहारिक भी हो। आदर्शवाद के महत्व के मूल कारणों में से एक उसकी सृजनशीलता भी है, जो जीवन को ह्रासात्मकता से अछूता रखने की चेष्टा करता है।

जीवन मूल्य :—

इस प्रकार से आदर्शवाद द्वारा निर्धारित जीवन मूल्य यथार्थ में वे मूल्य हैं जिनके आधार पर उच्चतर जीवन स्तर के निर्वाह की प्रेरणा मिलती है। उसका आध्यात्मवाद के साथ सम्बन्धित सन्निकट यद्यपि उसके महत्व और परिवेश को सीमाबद्ध नहीं होने

देता परन्तु इतना निश्चित है कि उसके कारण उसका महत्व और गरिमा बढ़ जाती है। यों भी वाह्यात्मकता की उपेक्षा उसके स्थायित्व की खोज की सूचक है और इस कारण उसकी महत्ता प्रमाणित करती है।

मनुष्य का जीवन एक साधारण जीव अथवा पशु के जीवन से इसलिए भी भिन्न होता है क्योंकि मनुष्य में चिन्तन की शक्ति है और यह शक्ति उसे जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देती है। आदर्शवाद का लक्ष्य भी जीवन का उदात्तीकरण करना है। इसलिए आदर्शवादी जीवन दर्शन द्वारा निर्धारित मूल्य सृजनात्मकता की वृत्ति लिये हुए हैं और इस प्रकार से आन्तरिक उच्चता पर गौरव देते हुए एक उदात्त जीवन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। यह उदात्तता एक चिरन्तन सन्तोष की ओर उन्मुख होती है और इसलिए आदर्शवादी विचारधारा की विशिष्टता भी निर्देशित करती है।

क्षेत्र विस्तार —

आदर्शवादी विचारधारा किसी एक सीमित क्षेत्र में बद्ध नहीं है, ऐसा ऊपर कहा गया है। उसके इस अपरिमित विस्तार का परिणाम यह हुआ है कि उसने जीवन के विविध क्षेत्रों और वृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाली मान्यताओं को प्रभावित, निर्देशित और निर्धारित किया है। उदाहरण के लिए दर्शन शास्त्र धर्मशास्त्र समाजशास्त्र नीतिशास्त्र तथा साहित्य शास्त्र आदि के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आदर्शवादी विचारधारा अपने एक निश्चित स्वरूप की स्पष्टता के कारण विशिष्टता रखती है।

इन विविध क्षेत्रीय परिधियों में, विशेष रूप से साहित्य में, यह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर कल्पित और सम्भावित जीवन के उदात्त स्वरूप के निदर्शन की चेष्टा करता है। यह स्वरूप आधार रूप से यथार्थ जीवन पर ही निर्भर करता है यद्यपि यह जीवन की उस यथार्थता का समर्थन नहीं करता। आदर्शवाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है। और उसकी यही विशेषता उसकी दीर्घ परम्परा और महत्व का मूल कारण है। जीवन की यथार्थता से विमुख न होना और उसकी यथार्थता को दृष्टि गत रखते हुए उसके उदात्तीकरण की सम्भावनाओं का निर्देश करना एक ऐसा तत्व है, जो अन्य विचारधाराओं में नहीं मिलता। आदर्शवाद में यह इस कारण भी मिलता है, क्योंकि यह एक उदात्त विचारधारा है जो प्रत्येक दशा में जीवन की कल्याणता और सृजनशीलता की समर्थक और निर्देशक है।

शाश्वतता —

आदर्शवाद को एक शाश्वत विचारधारा के रूप में भी देखा जा सकता है। अतीत युगों से ही सभ्य मानव ने जीवन के विविध क्षेत्रों में उदात्तीकरण की वृत्ति को विकासशील पाया है। इसका एक कारण यह भी है कि मनुष्य के अन्तःकरण में निवास करने वाली विविध भावनाओं में प्रायः सभी प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इनमें से सृजनशील और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के आनुपातिक निष्कर्ष के आधार पर एक मनुष्य के मानसिक और बौद्धिक स्तर का भी निर्धारण किया जाता है। इनमें निम्न मानसिक और बौद्धिक स्तरीय प्राणियों के विकास और उन्नति के लिए यों भी आदर्शात्मक स्वरूपों को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्त रूप से इस आदर्शात्मकता का क्रम स्वतः उदात्तशील होता है और इस प्रकार से प्रत्येक युग में अपने पूर्व स्तर और उदात्तता के कारण मान्य होता है। आदर्शवाद की शाश्वतता का मुख्य कारण उसके मूल में निरन्तर कार्यशील रहने वाली यही प्रक्रिया है, जो मनुष्य को एक उन्नततर और महत्तर आदर्श की खोज और उपलब्धि की दिशा में एक प्रकार की प्रेरणा सी देती रहती है तथा स्वयं उसकी सम्भावना की सूत्र निर्देशिनी होकर इन दोनों के बीच में एक माध्यम का कार्य करती है।

सीमाएँ —

आदर्शवाद के विरुद्ध मुख्यतः दो आक्षेप लगाये जाते हैं। इनमें से प्रथम का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जिसके अनुसार आदर्शवाद यथार्थ जीवन से विमुख रहता है। दूसरा आक्षेप यह है कि आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो मुख्यतः भावनात्मक और कल्पनात्मक तत्त्वों से पूरित और इन्हीं पर आधारित है। किसी सीमा तक यह सत्य है कि आदर्शवाद में इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का बाहुल्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि किसी भी क्षेत्र में व्याप्त या स्थिर यथार्थता को दृष्टि में रखते हुए उसी में क्षेत्र में यदि किसी प्रकार के उदात्तीकरण की चेष्टा की जायगी तो उसमें इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का आंशिक रूप में समावेश हो ही जाना भी अनिवार्य होगा।

जहाँ तक आदर्शवाद का सम्बन्ध है, वह किसी भी क्षेत्र में भाव तथा कल्पना गम्य एक ऐसे स्तर की ओर संकेत करके उसकी महत्ता को निर्देशित करता है, जो स्पष्ट रूप से निश्चित और सम्भाव्य होता है। इसमें समावेशित इन दोनों प्रकार के तत्त्वों को

आदर्शवाद का आधार और प्रेरक मानना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि ये ही वास्तव में वे तत्व हैं जो जीवन को सृजनशील बनाकर ह्रासोन्मुखी वृत्तियों से उसे विमुख और इस प्रकार से उसे सार्थक बनाते हैं।

महत्व —

पाश्चात्य वैचारिक जगत में आदर्शवादी विचारधारा अनेक रूपों में महत्व रखती है। प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका प्रसार अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा अधिक है। प्राचीन पाश्चात्य शास्त्र की यूनानी परम्परा में आदर्श के समीक्षात्मक रूपों को धर्म भावना से समन्वित करके भी देखा गया। लौंजाइनस के उदात्तवादी विचारों को भी आदर्शवाद के ही एक रूप में मान्य किया जा सकता है क्योंकि इनका सम्बन्ध भी मानव समाज के सर्वतोमुखी उन्नयन से है। आगे चलकर अपेक्षाकृत नवीन विचार प्रणालियों की तुलना में यद्यपि इस विचारधारा को मुख्यता नहीं प्रदान की गयी परन्तु इसका समावेश किसी न किसी रूप में उन सभी में होता रहा।

प्रभाववाद

स्वरूप आरम्भ और क्षेत्र —

"प्रभाववादी" अथवा इम्प्रेशनिस्टिक आन्दोलन का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। यह आन्दोलन मूलतः चित्रकला के क्षेत्र में रहा। आधुनिक चित्र कला की शैली का आरम्भ इसी वैचारिक आन्दोलन के काल से हुआ। अन्य चित्र शैलियों की अपेक्षा इसकी विशिष्टता का बोध चित्रण के स्वरूप से ही मुख्यतः होता है।[1]

साहित्य के क्षेत्र में इसका आरम्भ बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से हुआ। फॉर्मिस्ट तथा मार्वेल आदि की गणना आरम्भिक प्रभाववादियों के अन्तर्गत की जाती है। रचनात्मक साहित्य में इसके रूप प्रायः काव्य के ही क्षेत्र में मिलते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी समीक्षा की प्रवृत्ति का आगे चलकर प्रचार हुआ जिसमें कृति के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया

1 'Enpsyclopeadia of Painting', Miors, p. 246.

जाता है । पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के अन्तर्गत रिम्बो कोर्न मेलार्मे बेल्रे हापकिन्स, इलियट ज्वायस तथा वर्जीनिया वुल्फ[1] आदि के विचारों पर इसका प्रभाव बताया जाता है ।

प्रतीकवाद

स्वरूप —

प्रतीकवाद पाश्चात्य समीक्षा के निर्धारक मानदंडों के आधारभूत आन्दोलनों में मुख्य है । प्रतीक का प्रयोग बिम्ब अथवा प्रतिरूप आदि के अर्थ में किया जाता है । प्रतीक की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है । स्थूल रूप से तो भाषा और शब्द को भी प्रतीक ही कहा जायगा क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक या वस्त्वात्मक सत्य की निहिति रखता है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा शब्द अथवा प्रतीक आदि में कोई अन्तर नहीं है और न एक दूसरे के पर्याय हैं । वास्तव में ऐसा नहीं है । शब्द भाषा तथा प्रतीक में भारी पारस्परिक भेद है ।

इनमें मुख्य अन्तर यह है कि शब्द अथवा भाषा प्रधानतः विचारों के माध्यम हैं । शब्द अथवा भाषा के अभाव में हम कुछ भी अभिव्यक्त नहीं कर सकते । यद्यपि प्रतीक के विषय में सत्य यह है कि प्रतीक व्यंजनात्मक रूप से या भावनात्मक समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हुए विशिष्ट शब्द या शब्द समूह हैं । प्रतीकों के अभाव में भावाभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, परन्तु शब्दों के अभाव में वह असम्भव है ।

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल वस्त्वात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अमूर्त भावनात्मक सत्य की अनुकृति करता है । इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर जिन शब्दों या शब्द समूह से काम लिया जाता है वे प्रतीक कहलाते हैं ।

1 'The Readers Companion to World Literature Calvin C. Brown, p 230

आदर्शवाद का आधार और प्रेरक भावना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ये ही वास्तव में वे तत्व हैं जो जीवन को सृजनशील बनाकर ह्रासोन्मुखी वृत्तियों से उसे विमुख और इस प्रकार से उसे सार्थक बनाते हैं।

महत्व —

पाश्चात्य वैचारिक जगत में आदर्शवादी विचारधारा अनेक रूपों में महत्व रखती है। प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका प्रसार अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा अधिक है। प्राचीन पाश्चात्य शास्त्र की यूनानी परम्परा में आदर्श के समीक्षात्मक रूपों को धर्म भावना से समन्वित करके भी देखा गया। लोंजाइनस के उदात्तवादी विचारों को भी आदर्शवाद के ही एक रूप में मान्य किया जा सकता है क्योंकि इनका सम्बन्ध भी मानव समाज के सर्वतोमुखी उन्नयन से है। आगे चलकर अपेक्षाकृत नवीन विचार प्रणालियों की तुलना में यद्यपि इस विचारधारा को मुख्यता नहीं प्रदान की गयी परन्तु इसका समावेश किसी न किसी रूप में उन सभी में होता रहा।

प्रभाववाद

स्वरूप, आरम्भ और क्षेत्र :—

"प्रभाववादी" अथवा इम्प्रेशनिस्टिक आन्दोलन का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। यह आन्दोलन मूलतः चित्रकला के क्षेत्र में रहा। आधुनिक चित्रकला की शैली का आरम्भ इसी वैचारिक आन्दोलन के काल से हुआ। अन्य चित्र शैलियों की अपेक्षा इसकी विशिष्टता का बोध चित्रण के स्वरूप से ही मुख्यतः होता है।[1]

साहित्य के क्षेत्र में इसका आरम्भ बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से हुआ। कमिंग्ज तथा आमेस आदि की गणना आरम्भिक प्रभाववादियों के अन्तर्गत की जाती है। रचनात्मक साहित्य में इसके रूप प्रायः काव्य के ही क्षेत्र में मिलते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी समीक्षा की प्रवृत्ति का आगे चलकर प्रचार हुआ जिसमें कृति के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया

1 'Encyclopeadia of Painting' Miors, p. 246.

ता है। पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के अन्तर्गत रिम्बो कोर्बे मेलार्मे वेलरे, हापकिन्स, सन" ग्लास तथा वर्जीनिया वुल्फ[1] आदि के विचारों पर इसका प्रभाव बताया ता है।

प्रतीकवाद

स्वरूप —

प्रतीकवाद पाश्चात्य समीक्षा के निर्धारक मानदंडों के आधारभूत आन्दोलनों में मुख्य है। प्रतीक का प्रयोग चिन्ह अथवा प्रतिरूप आदि के अर्थ में किया जाता है। प्रतीक की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है। स्थूल रूप से तो भाषा और शब्द को भी प्रतीक ही कहा जायगा क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक या दृश्यात्मक सत्य की निहिति रखता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा शब्द अथवा प्रतीक आदि में कोई अन्तर नहीं है और ये एक दूसरे के पर्याय हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। शब्द भाषा तथा प्रतीक में भारी पारस्परिक भेद है।

इनमें मुख्य अन्तर यह है कि शब्द अथवा भाषा प्रधानतः विचारों के माध्यम हैं। शब्द अथवा भाषा के अभाव में हम कुछ भी अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यद्यपि प्रतीक के विषय में सत्य यह है कि प्रतीक व्यंजनात्मक रूप से या भावनात्मक समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हुए विशिष्ट शब्द या शब्द समूह है। प्रतीकों के अभाव में भावाभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, परन्तु शब्दों के अभाव में यह असम्भव है।

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल दृश्यात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अमूर्त भावनात्मक सत्य की अनुकृति करता है। इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर जिन शब्दों या शब्द समूह से काम लिया जाता है वे प्रतीक कहलाते हैं।

1 'The Readers Companion to World Literature Calvin C. Brown, p. 230

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल दृश्यात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अमूर्त भावनात्मक सत्य की अनुकृति करता है। इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर जिन शब्दों या शब्द समूह से काम लिया जाता है, वे प्रतीक कहलाते हैं।

प्रारम्भ :—

पाश्चात्य साहित्य और कला के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में आधुनिक युग में प्रतीकवाद का प्रवर्तन फ्रांस में हुआ। यूरोपीय देशों में फ्रांसीसी भाषा के साहित्य में ही सर्वप्रथम विशिष्टता के साथ प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ हुआ। फिर इसका प्रसार और मान्यता यूरोप के अन्य देशों इंग्लिस्तान जर्मनी तथा अन्य महाद्वीपों अमेरिका आदि में भी हुआ। क्रमशः यह विविध आन्दोलनों से प्रभावित होता तथा उनको प्रभावित करता हुआ कला और संगीत में प्रभाववाद का समकालीन आन्दोलन हुआ। जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, बर्गसां के अर्थ चेतन के दर्शन से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आदर्शवादी आन्दोलन से सम्बद्ध हो गया।

यह स्वच्छन्दतावाद से तो पहले से ही इस अर्थ में भी सम्बन्धित था क्योंकि न्यूनाधिक रूप में यह वाद उसकी एक प्रशाखा के रूप में भी अपनी स्थिति रखता है। यों इसका संबंध अप्रत्यक्ष रूप से नव प्लेटोवाद के विश्व की रहस्यमय धारणा से भी रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी प्रकार की रूप भाव, गुण आकार, प्रयोग आदि की समता के कारण किसी साधारण के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त शैली का प्रतीकवाद कहा जाता है। विभिन्न अनुभूतियों के सूचक विभिन्न शब्दों को भी उन्हीं के समान गुण वाले अन्य भावों को भी प्रतीकवादी कहा जाता है।

इस प्रकार से प्रतीकवाद की विचारधारा किसी प्रकार की असाधारण अथवा असामान्य प्रवृत्ति पर आधारित न होकर अभिव्यक्ति की एक सहज शैली मानी जानी चाहिए। इसमें विशेषता इतनी अवश्य है कि किसी भी अव्यक्त की प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्ति किसी दूसरी व्यक्त वस्तु के द्वारा की जा सकती है। अतः प्रतीकवाद को इस प्रकार से भी परिभाषित किया जा सकता है कि प्रतीक के रूप में किसी विषय का अभिव्यंजन करना ही प्रतीकवाद है।

आधार और प्रक्रिया :—

प्रतीकवाद एक साहित्यिक प्रक्रिया के रूप में भाषा की शिथिलता अथवा

लचीलेपन पर आधारित है। यह शिथिलता अनेक स्तरों से अभिव्यक्त है। इन्हें आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद, सादृश्य तथा प्रत्यक्ष बिम्ब कहा जा सकता है। स्थूल रूप से प्रतीक के जितने भी रूप होते हैं उनका आधार तथा सम्भावनाएँ उपर्युक्त स्तरों पर ही होती हैं। प्रतीकवाद साहित्य के रूप में शैली की नवीनता के कारण इसलिए भी मान्य है, क्योंकि इसका विधान विविध प्रकार और क्षेत्रों में सम्भावित है।

किसी भी प्रत्यक्ष जड़ अथवा चेतन पदार्थ को देखने पर हमारे हृदय में कोई न कोई भावना जन्म लेती है। यह भावना स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान किसी ऐसी वस्तु की ओर ले जाती है जो गुण में उसी वस्तु के समान होती है, परन्तु वह एक प्रकार से भावनात्मक रूप से ही अपना अस्तित्व रखती है।

इस प्रकार से प्रतीक प्रचलित रूप में किसी भी अव्यक्त अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए उषा को हम किसी भी प्रकार के उत्साह, आशा, नवीनता तथा नवजीवन का संकेत मानते हैं और इसी कारण उसको प्रतीक के रूप में इन सबके लिए प्रयुक्त करते हैं। इसी प्रकार से किसी ऊँचे पर्वत को देख कर हमें उसकी दृढ़ता, स्थिरता गम्भीरता आदि का बोध होता है तथा इनके लिए हम उसका प्रयोग प्रतीक के रूप में करते हैं।

प्रतीक भेद —

प्रतीकों के हम दो भेद कर सकते हैं (१) साहित्यिक प्रतीक तथा (२) वैज्ञानिक प्रतीक। साहित्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, उनमें भावनात्मक तथा व्यंजनात्मक साम्य का तथा इसके साथ ही प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा जाता है। परन्तु विज्ञान में एक प्रतीक किसी विशिष्ट पदार्थ अथवा बिम्ब या विचार को किसी प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है।[1] इस प्रकार से बाह्य अथवा स्थूल विशेषताओं में साम्य रखते हुए भी इनमें विषय के अनुसार पर्याप्त अन्तर हो जाता है।

क्षेत्र विस्तार —

प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अनेक प्रतीक ऐतिहासिक, धार्मिक तथा

१ इस विषय में विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य
R. M. Eaton: 'Symbolism and Truth' 1925.
H. Flanders Dunbar: 'Symbolism in Medieval Thought.

अन्य क्षेत्रों में मान्य हैं, जिनकी परिधि मानव जीवन के अन्य पक्षों को भी आवरित कर लेती है। इसी कारण कुछ प्रतीक स्थायी रूप से मान्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिये संसार के प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज उसकी सम्पूर्ण एकता का प्रतीक होता है।

इसी प्रकार से प्रत्येक देश में धार्मिक तथा ऐतिहासिक चिन्ह तथा चरित्र भी ऐसे होते हैं जो वहां की पवित्रता और देवत्व के भी प्रतीक होते हैं। इसलिए प्रतीकवाद को कोई असामान्य विचारधारा नहीं मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतीकों का प्रयोग साहित्य अथवा कला के साथ ही साथ सामान्य और व्यावहारिक जीवन में भी बहुलता के साथ अत्यन्त स्वाभाविक रूप में किया जाता है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से हमारे सारे कार्य कलाप ही प्रतीकात्मक होते हैं। भाव प्रेषण की अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण के जितने भी माध्यम होते हैं उन सबको इस दृष्टिकोण से प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। इसी प्रकार से भाषाएँ तथा शब्द आदि भी इसीलिये प्रतीक हैं, क्योंकि प्रतीकों का मुख्य कारण एक माध्यम के रूप में ही होता है और वे मध्यस्थता करने वाले होते हैं।

प्रतीकवाद आरम्भ में अपने मौलिक अथवा रूढ़ अर्थ में प्रयोग किया जाता था। तब यह किसी पदार्थ के साम्य की ओर संकेत करने वाले चिन्ह अथवा प्रतिरूप तक ही सीमित था। बाद में क्रमशः इसका क्षेत्र की दृष्टि से भी विस्तार होता चला गया और अर्थ का विस्तार इन संकेतों चिन्हों तथा प्रतिरूपों की परिधि से अलग भी होता गया। फिर विभिन्न चिन्ह विभिन्न जीवन परिवेशों का सूचन करने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे और प्रतीकात्मक सम्भावनाओं का विकास होता रहा। इससे यह बोध भी होने लगा कि मनुष्य के जीवन का सारा कार्य कलाप इतना सांकेतिक होता है कि उसे किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही प्रतीक बद्ध किया जा सकता है।

समाज धर्म संस्कृति आदि की जितनी भी सजीव क्रियाएँ एक मनुष्य की होती हैं वे मूल रूप में प्रतीकात्मक होती हैं यही नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवन के अतिरिक्त भी प्रतीकात्मक सूत्रों का महत्व और अर्थ होता है। उदाहरण के लिए हमारे अवचेतन में जो प्रतिक्रियाएं होती हैं तथा जिन अव्यवहार्य संकेतों की उद्भावना हमें होती है, वे भी किसी न किसी व्यावहारिक यथार्थता का सूचन करते हैं। इस प्रकार से प्रतीकात्मक सार्थकता का प्रसार न केवल मनुष्य के चेतन क्रिया कलाप से होता है, वरन् उसके अवचेतन पर भी उसका प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।

कार्य और आवश्यकता —

केनथ बर्क कहता है कि प्रतीकों का काम किसी अनुभव के एक प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति का धार्मिक साम्य है। इसका प्रयोग कृति में सरलता की उद्भावना करता है जिससे कि भाव धारा या अमूर्त विचार बोधगम्य हो सके। इस प्रकार से प्रतीकों का काम संक्षेप में निम्नलिखित बताया जा सकता है (क) किसी वस्तु की व्याख्या करना, (ख) उस वस्तु को स्वीकार्य बनाना (ग) पलायन के रूप में (घ) किसी प्रसुप्त या दमित भावना या अनुभव के उद्घाटन करने की चेतना या अवगति प्रदान करना तथा (ङ) अलंकरण अथवा प्रदर्शन करना।

प्रतीकवाद की आवश्यकता इस कारण से भी प्रतीत होती है, क्योंकि मनुष्य के जीवन की विविधता तथा अनुभवों की विचित्रता के कारण शब्द अथवा साधारणत एक प्रकार की अपूर्णता प्रतीत होती है। मनुष्य ने प्रत्येक मूल अनुभूति अथवा भावना के लिए एक शब्द अथवा नाम की निर्मिति की है। सामान्य रूप से इस एक शब्द अथवा नाम से उनका काम चल जाता है तथा किसी अतिरिक्त माध्यम की आवश्यकता उसके लिए नहीं पड़ती। परन्तु यह केवल उनके स्थूल प्रयोग के विषय में ही सत्य होता है। जहाँ किसी सूक्ष्मतर प्रयोग की अपेक्षा होती है, वहाँ यह अपर्याप्त आभासित होता है। इसीलिए प्रतीक के रूप में उसे पूरा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त इस माध्यम के स्वीकरण के लिए जो मूल धारणा रहती है, वह यह कि किसी भी अपूर्ण वस्तु के लिए किसी ऐसी ही वस्तु से चयन भी किया जा सकता है, जो कम से कम उसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण हो। अतः मानवीय कार्य कलाप के लिए शब्द अथवा माध्यम का चयन भी किसी ऐसी वस्तु से हो सकता है, जो उसकी अपेक्षा पूर्णतर हो और इस दृष्टिकोण से मनुष्य प्रकृति में खोज करता है, क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टिकोण से पूर्णता लिए हुए है।

इसीलिए मानवीय भावनाओं तथा अनुभूतियों के लिए प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग होता है। परन्तु यह केवल इसकी एक आंशिक सम्भावना हुई। इसी प्रकार से अन्य अनेक ऐसे तत्व हैं, जो प्रतीकवाद की उद्भावना और विकास के इतिहास के पीछे कार्य-शील रहे हैं तथा जिनसे यह भी ज्ञात होता है कि प्रतीकवाद यों तो पाश्चात्य चिन्तन की एक प्रमुख आधुनिक विचारधारा के रूप में मान्य है परन्तु मूलतः इसका सम्बन्ध पूर्ण अभिव्यक्ति की समस्या से है और इसी कारण से इसका प्रसार और क्षेत्र विस्तार भी बहुत अधिक है।

साहित्य क्षेत्रीय मान्यता —

पाश्चात्य साहित्य और कला चिन्तन के क्षेत्र में प्रतीकवाद का स्थान एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में महत्व रखता है। यहाँ एक विशिष्ट साहित्य धारा के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ सन् १८८६ में 'फ़िगारो' में प्रकाशित एक घोषणा के द्वारा हुआ। यह घोषणा उस दल द्वारा प्रकाशित की गयी थी जो गत बीस वर्षों से पराभववादी धारा (डिकेडेंट स्कूल) के नाम से विख्यात था। इस प्रकार की साहित्याभिव्यक्ति में शब्दों का प्रयोग साहित्यकार की विविध मनोदशाओं का समर्थन कराने के लिए होता था, बजाय इसके कि वे विषयगत बौद्धिक विचारों का प्रतिबिम्बित्व करें। इस घोषणापत्र का आशय यह था कि प्रतीकवादी काव्य विचार अथवा भाव को ऐन्द्रिक रूप से आवृत करना चाहती है जो उसका सम्पूर्ण ध्येय नहीं है——इस प्रकार इस कला में समस्त मूर्त दृश्यमान् वस्तुएँ केवल ऐन्द्रिक उपमान हैं।

प्रभाव —

साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रतीकवाद का जो प्रभाव पड़ा उसके मुख्य प्रेरक मैलार्मे माने जाते हैं। प्रतीकवादी समीक्षा के मुख्य पोषकों में इसके अनुगमनकर्ता कवि आदि ही रहे। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन के विकास की दृष्टि से इसके स्पष्टीकरण का पहला प्रयत्न सन् १८८६ में हुआ। इस वर्ष जिनमोरे आस नामक कवि ने 'फिगारो' नामक पत्र के १८ सितम्बर के अंक में एक घोषणापत्र प्रकाशित किया। इसी समय से प्रतीकवाद का विकास एक संगठित आन्दोलन के रूप में होने लगा। बाद में प्रतीकवाद के मुख्य पोषकों में योरप के फ्रांस तथा अन्य देशों के जिन साहित्यकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, उनमें एडगर एलन पो, बोदलेयर, वारनर रोडेन बाख, मा स्राव, विलियम मेटरलिंक तथा हाउसमैन आदि हैं। इसके अतिरिक्त अन्य योरोपीय साहित्यकार भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुए, जिनमें टी० एस० ईलियट जेम्स ज्वायस, डब्ल्यू० बी० ईट्स तथा यूजीन ओ नील आदि हैं।

महत्व —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, साहित्य और कला के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का जन्म १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में सन् १८८६ के लगभग फ्रांस में हुआ। यह वह युग था जब पाश्चात्य देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में यथार्थवाद का सर्वाधिक प्रचार था। धीरे-धीरे यह प्रचार और प्रभाव इतना

अधिक बढ़ गया कि साहित्य के क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उसके फलस्वरूप प्रकृतवाद का जन्म हुआ। यह वाद भी धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप में फैला तथा अपने चरम रूप में इसका विस्तार होता चला गया। पुनः इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई तथा इस बार इस प्रतिक्रिया के रूप में प्रतीकवाद का जन्म हुआ, जो यथार्थवाद तथा प्रकृतवाद और अतियथार्थवाद के विरुद्ध आदर्शवाद का पोषक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यह था कि यथार्थपरक नग्न चित्रणों तथा अभिव्यक्तियों को रोका जाय। इसीलिए इस आन्दोलन के फलस्वरूप साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में साहित्यकारों और चित्रकारों द्वारा प्रतीकों का प्रयोग किया जाना आरम्भ हुआ। अब यथार्थ चित्रण के स्थान पर प्रतीकात्मक चित्रण किये जाने लगे और क्रमशः इसी प्रवृत्ति का अधिकाधिक प्रसार होता चला गया।

अज्ञेयवाद

'अज्ञेयवाद' अंग्रेजी के 'ऐग्नास्टिसिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। इसका प्रयोग अंग्रेजी में सर्वप्रथम टामस हेनरी हक्सले के द्वारा किया गया था। हक्सले ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस मत का समर्थन करते हुए उसके महत्व को स्वीकार किया था। अज्ञेयवाद के पोषकों के अनुसार इस संसार में जितने भी मूल तत्व हैं, वे अज्ञेय हैं। इसी कारण से उनके विषय में किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच सकना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। उनके सम्बन्ध में जिस ज्ञान का प्रदर्शन विद्वान करते हैं, वह केवल उनकी बौद्धिक क्षमता का द्योतक होता है और ईश्वर अथवा आत्मा जैसे गूढ़ विषयों के समझने के लिए मात्र एक दृष्टिकोण के रूप में उनका महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

इस वाद के समर्थक ईश्वर की सत्ता में आस्था न रखते हुए भी उसे पूर्णतः अस्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके विचार से यदि ऐसी किसी शक्ति की कल्पना मनुष्य करता है तो वह सत्य भी हो सकती है, परन्तु उसकी सत्यता की परीक्षा सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके विषय में किसी प्रकार का कोई ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। इस प्रकार से इस मत के अनुसार इस संसार में कोई अलौकिक शक्ति या ईश्वर का अस्तित्व अवश्य होगा परन्तु यह भी निश्चित है कि वह अज्ञेय भी है। इस मत के प्रसिद्ध पोषकों में कांट, हर्बर्ट स्पेंसर तथा काम्टे आदि हैं।

अभिव्यंजनावाद

स्वरूप

अभिव्यंजनावाद या एक्सप्रेशनिज्म कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप को कहते हैं जो किसी परिस्थिति के मूल आवेग की बाह्याकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। आधुनिक अर्थों में 'एक्सप्रेशन' शब्द का अर्थ या तो किसी आन्तरिक तथ्य का बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिबिम्बित करना और या सामान्य रूप से एक वस्तु द्वारा दूसरी की ओर संकेत करना होता है।

आरम्भ —

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इस वाद का आरम्भ आधुनिक युग में सन् १९२० ई० के लगभग जर्मनी में हुआ। यों उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भी कहीं-कहीं इसके संकेत मिलते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद यह जर्मन साहित्य में विशेष रूप से नाटकों में[1] अपने पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। यह फ्रैंक वेडकाइंड के 'अवेकनिंग आफ स्प्रिंग' तथा आगस्ट स्ट्रिंडबर्ग के 'दि स्पूक सोनाटा' आदि नाटकों में बीज रूप मिलता है। वे उनके पात्रों के अवगुणों या विशेषताओं को कल्पना शैली में बताते थे। इनकी भाषा बहुत प्रभावपूर्ण होती थी लेकिन उसमें आत्माभिव्यक्तिपूर्ण स्वगत कथन भी हो सकते थे। इनका कार्य आकस्मिक काल्पनिक या बहु आयामिक भी हो सकता था जिसका निर्माण कला चातुर्य और गम्भीर प्रभावयुक्तता से होता है।

क्रोचे —

'एक्सप्रेशनिज्म' एक ऐसा तत्त्व है जो किसी-किसी रचना में किसी अपनायी हुई विधि के बजाय प्रेरणा देता या प्रकाशित करता है। क्रोचे (१८६६–१९५२) ई० ने यह तथ्य स्पष्ट रूप से बताया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्ति का एक रूप है। उसके विचार से जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, वह बाह्य नहीं है यद्यपि मस्तिष्क मात्र ही

1 'The Adding Machine' 1923

अपने स्वयं के उद्देश्यों को गुप्त रख सकता है। स्काट जेम्स न क्रोचे के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि क्रोचे ने पृथ्वी पर जिस भवन का निर्माण किया है उसका कोई आधार नहीं है। वह कला के विषय में लिखता है और वह कलाकार से सलाह लेना भूल गया है। यदि वह उससे राय लेता, तो वह उसे बताता कि कला का सम्पूर्ण कार्य संसार को कुछ सन्देश देना है और यह कि वह कोई सुन्दर वस्तु होगी। क्रोचे सन्देश के विषय में बिल्कुल भूल गया है। उसका विचार है कि क्रोचे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता। अधिक से अधिक उसका भाषण एक स्वगत कथन हो सकता है। उनका कला के विषय में अपना विचार यह है कि कला भाषा से सम्बन्ध रखती है। वह किसी भी माध्यम से प्रकट की गयी हो यह गौण बात है। उसने क्रोचे तथा आर्नल्ड दान्ते, अरस्तू या पेटे आदि की वैचारिक भिन्ना को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सिद्धान्त —

सिसरो, होरेस तथा क्विंटिलियन और ओविड आदि के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी रचना में अभिव्यक्ति करने के प्रयोग की भाषा कथन के सन्दर्भ में तीन प्रकार से व्याख्या हो सकती है (१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, (२) समान रूप से उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा संकेत और (३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति। उपर्युक्त मानसिक विचारों के अतिरिक्त तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, जिनकी सहायता से एक्सप्रेशनिज्म को कहीं पहचाना जा सकता है (१) जिसे अभिव्यक्त किया जाता है (२) जो अभिव्यक्त करता है और (३) जिसके माध्यम से अभिव्यक्त किया जाय। इनमें से प्रथम से सम्बन्धित एक और आधुनिक सिद्धान्त है, जो किसी अभिव्यक्ति के बाह्याकार के प्रकटीकरण को यह समझता है कि वह उसे मस्तिष्क से बिल्कुल निकाल देता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि प्रभावों की अभिव्यक्ति और पहचानी हुई अभिव्यक्ति में काफी अन्तर है।

प्रमुख तत्त्व —

किसी कला में अभिव्यक्ति को सदैव उसकी प्रक्रिया में एक मुख्य तत्त्व तथा अभिव्यंजना को कार्य में एक प्रमुख तत्त्व माना जाता है। क्लैसिकल काव्यशास्त्र में में अभिव्यंजना को आकार या रचना से कम महत्वपूर्ण माना गया है। क्लैसिकल नियम का व्यवहार और सिद्धान्त सदैव यह रहा है कि यद्यपि कला में किसी विचार या अनुभूति

की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण हो सकती है परन्तु बिना किसी रचना के यह असम्भव है जो अभिव्यक्त करने योग्य होती है।

अभिव्यंजना की रचना के विरुद्ध निस्सन्देह आधुनिक सौन्दर्य शास्त्रियों की मुख्य समस्या लेसिंग के "लाओकून" का उस नियम से अलग हो जाने का विषय है। लेसिंग के बाद यूरोपीय सिद्धान्त अभिव्यंजना के महत्व पर अधिक जोर देने लगा है और इस प्रकार अन्त में एक ऐसी स्थिति को पहुँचता है जहाँ से ललित कला को एक उद्देश्य के निर्माण के लिए प्राथमिक नहीं माना जाता, लेकिन किसी विचार की अभिव्यक्ति के समान या व्यवहार में एक अनुभव की रिपोर्ट समझा जाता है। ललित कला विषयक यह धारणा यूरोप में सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में व्याप्त रही। और यद्यपि बीसवीं शताब्दी में उसकी बहुत आलोचना हुई है, तब भी अधिकता से यह हमारे समय की सौन्दर्य विषयक सामान्यतम धारणा है। क्रोचे इसका प्रमुख वैज्ञानिक प्रचारक है। उसके सिद्धान्त का आधार यह है कि अभिव्यक्ति और ललित कला दोनों एक दूसरे से मिलते जुलते हैं, और इस प्रकार चूँकि सब ललित कलाएँ अभिव्यक्ति हैं सब अभिव्यक्ति ललित कला है।

कला —

क्रोचे कला की समानता और सौन्दर्य का समर्थन करता है और उसे उनसे पृथक करता है, जिन्हें सामान्य रूप से कला कहा जाता है। उसका विचार है कि सौन्दर्य वस्तुओं का कोई गुण नहीं है चाहे वे पेड़ हों या पत्थर के टुकड़े लेकिन अन्य प्रकार के महत्व के समान केवल किसी आत्मिक क्रियाशील के स्वभाव के रूप में उत्पन्न होता है।[1] इसलिए क्रोचे, हीगेल शोपेनहावर तथा किसी सीमा तक कांट के विचार के अनुसार कला ज्ञान का एक रूप है, या वह हमारी प्रकृति के व्यावहारिक पक्ष के विरुद्ध मन्मयता सैद्धान्तिक है।[2]

महत्व —

पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद का विशेष रूप से महत्व है। कला और साहित्य में विशुद्ध अभिव्यंजना को प्रधानता देने वाली यह विचार

१ दे. दि थ्योरी आफ ब्यूटी: कोरिट।
२ दे. डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स: शिपले।

प्रभावी सौन्दर्य चिन्तन का आधार लेकर अपेक्षाकृत व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ। क्रोचे ने इसे विस्तृत और महत्तर अर्थ दिया है। उसने अभिव्यंजना को अन्तर्दर्शन बताया है, जो अपने आप में साहित्य और कला की चरम परिणिति है। आगे चलकर यद्यपि अन्य वादों की भाँति इस वाद के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के खंडन और मंडन की वृत्ति से युक्त मतों का प्रचलन हुआ, पर विशुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य अथवा कला का परीक्षण करने वाले एकमात्र मानदंड के रूप में इस विचारधारा का विशिष्ट महत्व निर्विवाद है।

रूपवाद

स्वरूप —

रूपवाद या "फार्मलिज्म" वह प्रयोग या सिद्धान्त है जो निर्धारित या बाह्य रूपों का कट्टर अनुगामी या उस पर निर्भर कहा जाता है, विशेष रूप से धार्मिक विषयों में, और इसका कोई भी उदाहरण बाह्य धार्मिक रूपों को बिना अर्थ की प्रवृत्ति या जीवन के उसका उपयोग करना या अनुसरण करना है। नाटक में यह उस नाटकीय प्रतिनिधित्व को कहा जाता है, जो उत्पादन के सभी तत्वों को साधारण या स्वतंत्र शब्दों में अर्थस्वामी रचनात्मक पृष्ठभूमि का उपयोग करके, सीमाबद्ध कर देता है। ललित कलाओं में इस व्यवस्था के लिए दी गई दृढ़ता या सतर्कता को कहते हैं, विशेष रूप से चित्र कला या मूर्तिकला में निर्धारित या परम्परागत रचना के नियमों को।

आरम्भ :—

रूपवाद की स्थापना सबसे पहले रूस में आलोचना के क्षेत्र में सन् १९२० ई० में हुई। लगभग एक दशाब्दी तक वहाँ इसकी प्रधानता रही। इस सिद्धान्त के आधार पर कला में शिल्प का ही विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। इसीलिए कोई कलाकार शिल्प विधान में जिस कला का प्रयोग करता था या जिस रूप की योजना करता था, उसी का महत्व होता था।

प्राचीनता :—

आकार या रूप किसी पदार्थ की विशेषता को कहते हैं, जो अनुभव की गयी हो, या वह रचना जिसमें किसी अनुभव या किसी वस्तु के तत्वों को संयोजित किया गया

हो। रूप विषयक धारणा इस आलोचनात्मक सिद्धान्त के प्रारम्भिक लेखों से प्राचीनतर है और पूर्व में भी उतनी ही सामान्य है जितनी पश्चिम में विशेष रूप से सृष्टि निर्माण की विधि के विचार के विषय में जिसमें बनायी जाने वाली वस्तु के विषय में मानसिक विचार या कल्पना को उस वस्तु का रूप या सिद्धान्त माना जाता है। प्लेटो के अनुसार रूप या किसी वस्तु के विचार अपनी सांसारिक उत्पत्ति से अलग, पूर्ण रूप से पूर्वस्थित होते हैं और जो इस प्रकार एक अनुकरण होता है। प्लेटो तथा अरस्तु के सिद्धान्तों पर आधारित रूप का आधुनिक अर्थ किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। किसी वस्तु या अनुभव की विशेषता या रचना के सन्दर्भ में इसके विश्लेषण या वर्णन का तात्पर्य रूप शब्द है, जिस प्रकार वह एक आकार या रूप प्रदान करता है।

पूर्व मान्यताएँ —

अरस्तु के विचार में रूप उन चार कारणों में से एक है जो पूर्णतया किसी वस्तु के अस्तित्व का आधार होते हैं। कारण चार होते हैं (१) उत्पादक, (२) उद्देश्य (३) विषय और (४) रूप। इनमें से प्रथम दो बाह्य होते हैं और अन्तिम दो आन्तरिक। विषय उसे कहते हैं जिससे कोई वस्तु बनती है और रूप उसे कहते हैं जो उसे आकार देता है। इसलिए अरस्तु के अनुसार रूप केवल आकार ही नहीं है, बल्कि आकार प्रदान करने वाला भी है, केवल रचना या विशेषता ही नहीं है, वरन् रचना व सिद्धान्त भी है, जो विशेषता देता है। अतः अरस्तु की धारणा है कि किसी कला कृति में रूप केवल रचना नहीं है (संकुचित अर्थ में) बल्कि वह सब कुछ है, जो किसी उत्कृष्ट विशेषता का निर्धारण करता है। अर्थ या अभिव्यक्ति और रचना भी बाह्य तत्व है। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृति के विषय को सामान्य रूप में उसकी वस्तु के समान माना जाता है जिसके लिए किसी कृति का अर्थ या एक सन्दर्भ होता है या स्वयं उस अर्थ के साथ और रूप तब केवल वही हो सकता है, जो एक कृति की विशेषता में से शेष रह गया हो, जब कि उसका अर्थ निकाल दिया गया हो, अर्थात् केवल उसकी भौतिक रचना और विशेष रूप से उसकी ध्वनि रचना।

व्याख्या :—

जिस विषय से कोई कवि अपनी कविता तैयार करता है, वह उसके समय या स्थान की भाषा होती है। लेकिन जब कोई कवि अपना कार्य करता है, यह भाषा किसी भी प्रकार से एक रूप हीन विषय नहीं होती बल्कि वह स्वयं कला से उत्पन्न होती है

और मनुष्यों के द्वारा युगों तक रूप का वस्तु के ऊपर लादा जाना होती है। जब एक लेखक अपना कार्य आरम्भ करता है, तब उसकी सामग्री बाह्य तत्व से युक्त होती है, लेकिन चूंकि वे सदैव बाह्य तत्व रहते हैं, जैसा कि उसके समाप्त हो गए कार्य से बाधित होगा है वे सब उसके लिए उस विषय का एक अंश हैं, जो उसे स्पष्ट करता है।

इसके कार्य का आधार वह आकार है, जो वह अपने आकारों के समूह पर लादता है और उन अधिक युक्त विषयों पर उसे सम्पूर्ण रूप से एक रचना का आकार और स्वयं अपने द्वारा विचारे गए अर्थ देने के द्वारा। जो आकार वह लादता है, वह उसके द्वारा कहे गए वक्तव्य की एक अनोखी पूर्ण विशेषता होती है। जब तक उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता वह नया आकार, जो वह अपनी भाषा पर लादता है एक विचार होता है, थोड़ा या बहुत अस्पष्ट रूप में उसके मस्तिष्क में विचार रूप में आता है, वह किसी वस्तु का विचार, जो वक्तव्य किया जाता है।

किसी बात की अभिव्यक्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि किसी रूप को किसी विषय पर लादा जाए और इस प्रकार रूप का किसी विषय पर लादा जाना इस विषय को स्पष्ट करता है, जो कोई बात अभिव्यक्त करता है। हम किसी पूर्ण कृति में इस बात की प्रशंसा नहीं करते कि विषय और आकार एक में संयुक्त कर दिए गए हैं लेकिन उस प्रशंसनीय आकार की करते हैं, जो विषय के साथ संयुक्त कर दिया गया है।

महत्व :—

रूपवाद के विषय में यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि इसका मार्क्सवाद से पूर्ण विरोध हुआ। रूसी क्रान्ति के बाद यह सम्प्रदाय धीरे-धीरे अपेक्षाकृत कम प्रचलित होता गया। साहित्य में कला और उसके व्यावहारिक उद्देश्य आदि को लेकर विचारकों में मतभेद रहा। मार्क्सवादी विचारधाराओं का प्रभाव बढ़ा। आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में भी समाजवादी यथार्थवाद की प्रवृत्ति का ही विशेष रूप से प्रचार है। इसलिए रूपवाद का विचार प्रणालियों के विकास में मुख्यतः ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

अस्तित्ववाद

स्वरूप और आरम्भ —

अस्तित्ववाद संसार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता रखता है। इसका आरम्भ मूलतः उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। यों तो अस्तित्ववाद एक दार्शनिक प्रणाली है परन्तु साहित्य में इसका प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। साहित्य में अस्तित्ववाद का आश्रय लेने वालों में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक साहित्यिक लेखक ज्याँ पाल सार्त्र हैं जिन्होंने इस विचार धारा को नया मोड़ भी दिया है। दार्शनिक जगत में इस विचारधारा के प्रवर्तक चिन्तकों में जर्मनी के हुसरेल तथा हेडेगर एवं डेनमार्क के कीर्कगार्ड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब यह विचारधारा यूरोप के किसी विशेष देश तक सीमित न रह कर सारे विश्व में प्रसिद्ध और व्याप्त हो गयी है।

दार्शनिक रूप :—

अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट या गतिरोध अथवा संक्रान्ति का दर्शन है। यह संकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्यान्य विचारकों के आकर्षण का कारण है। *इस विचारधारा के अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान* है। अनुभवों द्वारा शोधित एक सत्य सहस्रों अनावश्यक तथ्यों से आवेष्ठित रहता है जिसका फल यह होता है कि वह जल्दी ही लुप्त प्राय हो जाता है। उसे देख न पाने के कारण हम आधार रहित होकर समाज के प्रति आत्म समर्पण कर देते हैं तथा परिस्थिति के दास बन जाते हैं। एक आत्म चेतना पूर्ण विचार सहस्रों कल्पनाओं में विलीन हो जाता है जिसके कारण लक्ष्य विहीन अन्तश्चेतना अशान्त रहती है तथा कार्य क्षेत्र में एक क्षुद्र कायरता व्यर्थ के रोष के आवरण में कार्यशील रहती है। इस प्रकार आन्तरिक ज्ञान अन्धकारपूर्ण होता जाता है तथा अन्ध श्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है। इस दशा में भी संकट विद्यमान है। अस्तित्ववाद इस प्रकार के आध्यात्मिक संकट की बड़ी मौलिक व सटीक व्याख्या करता है तथा इन संकट के अन्धकार को पूर्ण प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है।

प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया पर आधारित होता है। यह प्रतिक्रिया एक संकट को जन्म देती है। यह प्रक्रिया पिछले युग की मान्यताओं से

स्वतंत्र होने की क्रिया होती है। पिछली मान्यताओं की प्रतिक्रिया के आधार पर ही नवीन मान्यताओं का जन्म होता है। इस प्रकार से इस प्रक्रिया के बीच एक समय ऐसा भी आता है जब कि प्राचीन पर से आस्था हट चुकी होती है तथा नवीन मान्यताओं के ऊपर बौद्धिक व भावनात्मक विश्वास पूर्ण रूपेण नहीं बन पाया होता है। यही समय संकट का समय कहलाता है।

आध्यात्मिक संकट —

आज का संसार सैद्धान्तिक या क्रियात्मक क्षेत्र में से किसी की भी कार्य विधि में सर्व मान्य आध्यात्मिक मूल्यों की सत्ता स्वीकार नहीं करता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कांट के अनुमान पर आधारित दर्शन की नींवें हिला दी थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों के सम्मुख महान कार्य यह था कि अमूर्त बौद्धिकता के स्थान पर किसी नवीन सत्ता की स्थापना करें। इसके लिए उन्होंने दो मार्गों का आश्रय लिया। ये थे आदर्शवाद और निश्चित वाद। आदर्शवाद एक ऐसे दर्शन का निर्माण करता है, जो अपने में निहित विचारों के अतिरिक्त किसी बाह्य सत्ता को नहीं मानता था।

इसके विपरीत निश्चित वाद ज्ञान तथा दैवी कृपा के स्थान पर वास्तविक संसार के सामाजिक तथा प्राकृतिक तथ्यों की सत्ता मानता था। इस प्रकार प्रथम में विचार पूर्ण स्वतंत्र थे जब कि द्वितीय में विचार प्रकृति के अधीन थे। इस प्रकार प्रथम से उत्कट मानववाद की सृष्टि हुई तथा दूसरी ने भौतिक वस्तुवाद को जन्म दिया। कला के क्षेत्र में यही दो धारायें स्वच्छन्दतावाद तथा यथार्थवाद के रूप में प्रकट हुईं। धीरे धीरे प्रथम विचारधारा इतनी वेगवती हो गयी कि प्रत्येक बन्धन को शिथिल करने की चुनौती देने लगी। तथा दूसरी प्रकृति के दासत्व की ओर ले जाने लगी। इतने गहरे विरोध के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में आध्यात्मिक संकट उत्पन्न हो गया तथा यह बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में विद्यमान रही।

विकास :—

बीसवीं शताब्दी ने किसी सर्वमान्य सिद्धान्त की स्थापना नहीं की। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अत्यधिक दार्शनिक आलोचनाओं के कारण आदर्शवाद अवसानप्राय हो चुका था, अतः आलोचकों ने निश्चित वाद को अपना लक्ष्य बनाया। इस विचारधारा का पूर्ण विकास अनेकानेक आत्मवादी तथा बुद्धिवादी विचारधाराओं के प्रश्रय में

हुआ। दर्शन ने, इस नवीन युग में, प्राचीन रीतियों तथा इसलाम की विचार धारा को अपनाया। इसका कारण यह था कि युद्ध विचारवादी परम्परा से वे असन्तुष्ट थे, परन्तु यह अन्तर्दृष्टि की परम्परा भी अधिक विकसित न हो सकी।

इस प्रकार से इस शताब्दी ने पूर्ववर्ती विचारधाराओं की सत्ता से विश्वास हटाया ही, तथा इसके साथ ही साथ किसी ऐसी नवीन आध्यात्मिक विचारधारा का सृजन न कर सकी जिस पर उसे आस्था हो। इस अनास्था ने एक ऐसे आध्यात्मिक संकट को जन्म दिया जिसका ध्येय किसी नवीन विचारधारा का प्रणयन न होकर अराजकता को जान बूझ कर स्वीकार कर लेना था।

इस दृष्टिकोण की तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है, जो अनास्था को अनास्था के लिए स्वीकार कर लेता है, और विनाश का वरण कर लेता है। इसका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नवीन प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव के रूप में आया, जिसके अन्तर्गत अपने आपको विभिन्न अमूर्त तथा मूर्त रूपों में गर्हित यह कलुषित विलासा श्रेयस्कर समझा जाता था। पिछली शताब्दी के अन्त तथा वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में यह विचारधारा एक ऐसे फैशन तथा रीति के रूप में आयी कि इसके अभिभावकों तथा विपक्षियों दोनों ने पराभव वाद की संज्ञा दी।

प्रारम्भ में यह वाद कला तथा साहित्य के क्षेत्र में था तथा बाद में यह दर्शन के क्षेत्र में नवीनता तथा साहसिकता बन कर अवतरित हुआ। इसी पराभववाद से जर्मन में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद का पराभववाद की सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में समावेश हुआ। अस्तित्ववाद जान बूझ कर आशा के स्थान पर निराशा को महत्व देता है तथा यह मानता है कि सक्रिय रूप से नष्ट होकर ही मनुष्य अपने सत्य को प्राप्त कर सकता है।

अस्तित्ववाद यह मानता है कि स्थिति तभी रह सकती है जबकि उस स्थिति के साथ ही अस्तित्व का आनन्द भी हो। अस्तित्ववाद स्थिति के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न व उद्भूत आनन्द को सन्तुलित करने के लिए शून्यता के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न परम पीड़ा को भी महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। इस विचारधारा ने उस प्रक्रिया में प्रतिरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो कि निरन्तर बढ़ती हुई गति से पुरानी आस्थाओं और सत्ताओं को नष्ट करती जाती है तथा नवीन आस्था तथा सर्वमान्य सत्ता के निर्माण से इनकार कर देती है।

इस विचारधारा ने युग की संस्कृति में आये हुए पराभव के तत्वों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है और आज यह विचारधारा पराभववाद की सैद्धान्तिक व्याख्या के रूप में सर्वस्वीकृत हो चुकी है। यह विचारधारा केवल मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती है तथा सुख व शान्ति के लिए वस्तु स्थिति के प्रति आत्म समर्पण को त्याज्य समझती है। साथ ही साथ यह भी पूर्ण रूप से निश्चित है कि यह किसी भी भुलावे में न पड़ेगी। इस शताब्दी से पूर्व परम्परावादी दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का संकट कभी भी उद्भूत नहीं हुआ था तथा इसी कारण अस्तित्ववादी दर्शन में संकट का प्राधान्य मिलता है तथा इसी कारण ही संकटकालीन दर्शन के रूप में इसका उद्भव और विकास हुआ है।

क्षेत्र वैविध्य —

ऊपर यह कहा गया है कि अस्तित्ववाद पराभववाद का दार्शनिक प्रतिरूप है। यह पराभववाद की प्रशंसा के लिए नहीं वरन् उसकी व्याख्या के लिए उद्भूत हुआ। पराभववाद एक साहित्यिक वाद न होकर एक आध्यात्मिक मनःस्थिति का वातावरण है, जिसका प्रतिरूप हमें साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। दर्शन के क्षेत्र में यही अस्तित्ववादी दर्शन है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है तथा इसके प्रभावान्तर्गत लिखा गया काव्य दार्शनिक होते हुए भी तर्कशीलता की अपेक्षा भावनात्मकता की ओर अधिक झुकता है।

इसकी शैली व भाषा काव्य प्रयुक्त होने के कारण मुख्यतया सौन्दर्यवादी है। फिर जब "सार्त्र" या "मार्सल" जब 'ला बाक दि टें' तथा 'पैसांस पार दि नाइट' जैसी पदावली का प्रयोग करता है, तो इस भाषा को काव्य के निकट ला रखता है। अस्तित्ववाद के साहित्यिक प्रभाव का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का प्रणयन प्रचुर रूप में हो चुका है, विशेष रूप से अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है।[1] लियोपैड ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का साहसिक प्रयत्न अभी किया है।[2]

इसके अतिरिक्त हैगर ने मानव अस्तित्व के जीवित चित्र प्रदर्शित किये हैं जो

1 K. Lehmann 'Der Tod bel Headegger und Jaspers (J Comteno Heidelberg 1938) p. 70
2. C. Luporini Situazione libertia nell esistea umana' (Le Monnier Florence. 1942) p 206

हुआ। दर्शन ने, इस नवीन युग में, प्राचीन रीतियों तथा इसहाम की विचार धारा को अपनाया। इसका कारण यह था कि युद्ध विचारवादी परम्परा से वे असन्तुष्ट थे परन्तु यह अन्तर्दृष्टि की परम्परा भी अधिक विकसित न हो सकी।

इस प्रकार से इस शताब्दी ने पूर्ववर्ती विचारधाराओं की सत्ता से विश्वास हटाया ही, तथा इसके साथ ही साथ किसी ऐसी नवीन आध्यात्मिक विचारधारा का सृजन न कर सकी, जिस पर उसे आस्था हो। इस अनास्था ने एक ऐसे आध्यात्मिक संकट को जन्म दिया जिसका ध्येय किसी नवीन विचारधारा का प्रणयन न होकर पराजकता को जान बूझ कर स्वीकार कर लेना था।

इस दृष्टिकोण की तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है जो अनास्था को अनास्था के लिए स्वीकार कर लेता है और विनाश का वरण कर लेता है। इसका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नवीन प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव के रूप में आया, जिसके अन्तर्गत अपने आपको विभिन्न अमूर्त तथा मूर्त रूपों में अहित वह अनुचित दिखाना श्रेयस्कर समझा जाता था। पिछली शताब्दी के अन्त तथा वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में यह विचारधारा एक ऐसे फैशन तथा रीति के रूप में आयी कि इसके अभिभावकों तथा विपक्षियों दोनों ने पराभव वाद की संज्ञा दी।

प्रारम्भ में यह वाद कला तथा साहित्य के क्षेत्र में था तथा बाद में यह दर्शन के क्षेत्र में नवीनता तथा साहसिकता बन कर अवतरित हुआ। इसी पराभववाद से दर्शन में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद का पराभवाद की सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में समावेश हुआ। अस्तित्ववाद जान बूझ कर आशा के स्थान पर निराशा को महत्व देता है तथा यह मानता है कि अन्तिम रूप से नष्ट होकर ही मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अस्तित्ववाद यह मानता है कि स्थिति तभी रह सकती है, जबकि उस स्थिति के साथ ही अस्तित्व का आनन्द भी हो। अस्तित्ववाद स्थिति के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न व उद्भूत आनन्द को सन्तुलित करने के लिए शून्यता के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न चरम पीड़ा को भी महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। इस विचारधारा ने उस प्रक्रिया में अतिरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो कि निरन्तर बढ़ती हुई गति से पुरानी आस्थाओं और सत्ताओं को नष्ट करती जाती है तथा नवीन आस्था तथा सर्वमान्य सत्ता के निर्माण से इनकार कर देती है।

इस विचारधारा ने युग की संस्कृति में आये हुए पराभव के तत्वों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है और आज यह विचारधारा पराभववाद की सैद्धान्तिक व्याख्या के रूप में सर्वस्वीकृत हो चुकी है। यह विचारधारा केवल मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती है तथा सुख व शान्ति के लिए वस्तु स्थिति के प्रति आत्म समर्पण को त्याज्य समझती है। साथ ही साथ यह भी पूर्ण रूप से निश्चित है कि यह किसी भी भुलावे में न पड़ेगी। इस शताब्दी से पूर्व परम्परावादी दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का संकट कभी भी उद्भूत नहीं हुआ था तथा इसी कारण अस्तित्ववादी दर्शन में संकट का प्राधान्य मिलता है तथा इसी कारण ही संकटकालीन दर्शन के रूप में इसका उद्भव और विकास हुआ है।

क्षेत्र वैविध्य —

ऊपर यह कहा गया है कि अस्तित्ववाद पराभववाद का दार्शनिक प्रतिरूप है। यह पराभववाद की प्रशंसा के लिए नहीं वरन् उसकी व्याख्या के लिए उद्भूत हुआ। पराभववाद एक साहित्यिक वाद न होकर एक आध्यात्मिक मनःस्थिति का वातावरण है, जिसका प्रतिरूप हमें साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। दर्शन के क्षेत्र में यही अस्तित्ववादी दर्शन है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है तथा इसके प्रभावान्तर्गत लिखा गया काव्य दार्शनिक होते हुए भी तर्कशीलता की अपेक्षा भावनात्मकता की ओर अधिक झुकता है।

इसकी शैली व भाषा काव्य प्रयुक्त होने के कारण मुख्यतया सौन्दर्यवादी है। हैडगर जब "सार्गे" या "बीस्सर्ड" जब 'सा आफ दि डे' तथा 'पैसन फार दि नाइट' जैसी शब्दावली का प्रयोग करता है, तो इस भाषा को काव्य के निकट ला रखता है। अस्तित्ववाद के साहित्यिक प्रभाव का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का प्रणयन प्रचुर रूप में हो चुका है, विशेष रूप से अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है।[1] लिपोरिनि ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का साहसिक प्रयत्न अभी किया है।[2]

इसके अतिरिक्त हैडगर ने मानव अस्तित्व के जीवित चित्र प्रदर्शित किये हैं जो

1 K. Lehmann 'Der Tod bei Heidegger und Jaspers (J Comteso Heidelberg 1938) p. 70
2. C. Luporini Situazione libertla nell eustea umana (Le Monnier Florance. 1942) p 206,

दार्शनिक होने की अपेक्षा साहित्य के अधिक निकट है। इसके लिए प्रयत्न किये जाने पर पहली शताब्दी के स्वच्छंदतावादी साहित्य का प्रभाव अस्तित्ववाद पर प्राय: मिल जायगा। हेगर का प्रयोग 'एगोटिज्म', रूसी उपन्यासकारों तथा 'रूमानटिक कान्सेसनेस' की विचारधारा तथा विषय के पर्याप्त निकट है। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध तथा मध्य में अद्भुत पराभववादी कविता विशेषत: चार्ल्स बादलेयर की 'एनुई' सदृश विषय पर लिखी गयी कविताएँ इस अस्तित्ववादी विचारधारा का बाह्य व अंतस् प्रभावित करने में सफल रही हैं।

प्रतिक्रियात्मकता —

चूँकि पराभववादी साहित्य स्वच्छन्दतावादी साहित्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित रहा है तथा एक प्रकार से वह उसका अनुगामी पुत्र कह कर भी सम्बोधित किया गया है, इसलिए अस्तित्ववाद भी स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हुआ है तथा यह भी स्वच्छन्दतावाद की ही भाँति प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष व प्रच्छन्न को अधिक महत्व देता है। स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप ही अस्तित्ववाद का जन्म हुआ तथा इसके कर्णधारों में कीर्केगार्द कई दृष्टियों से स्वच्छन्दतावाद का विरोधी था। फिर भी अस्तित्ववाद मानव व्यक्तित्व के स्वच्छन्दतावादी कारण पर विशेष बल देता है तथा व्यक्ति की मूलभूत व्यक्तित्व की एकान्तिक एकत्व के प्रति अटूट श्रद्धा रखता है तथा उसे केन्द्र बिन्दु मानता है। अस्तित्ववाद मानव की एकात्मकता या एकत्व की खोज में निरन्तर निरत रहता है।

साहित्यिक स्वरूप :—

अस्तित्ववाद के साहित्यिक स्वरूप का सफल विश्लेषण तभी सम्भव है जब कि उसके दार्शनिक रूप को भली भाँति समझ लिया जाय। इस दार्शनिक विवेचन को इससे पूर्व समझाने का प्रयत्न किया जा चुका है। प्रत्येक अस्तित्ववादी आत्म चेतना से प्रारम्भ करता है, जिसे वह आन्तरिकता कहता है। इससे उसे यह ज्ञात होता है कि उसका पृथक व्यक्तित्व क्या है। इस पृथक व्यक्तित्व को मानव जगत की पृष्ठभूमि में रखकर विचार करता है और पाता है कि वह इस असीम जगत के विस्तार का कितना सीमित और हेय अंश है केवल कुछ अणुओं की अभिलाषा मात्र। यद्यपि आधुनिक भौतिक शास्त्र वेत्ताओं ने जगत को सीमित सिद्ध कर दिया है किन्तु इससे उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया है, वरन् वह उसमें और भी नगण्य हो गयी है। इससे विशाल शून्य के समक्ष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपनी गरिमा खोकर अत्यन्त क्षुद्र हो चुका है। यह

महाशून्य असीम कह कर टाला नहीं जा सकता वरन् इसका विस्तार मानव कल्पना से परे है। इसी महाशून्य में मानव की स्थिति एक ओर है तथा दूसरी ओर शून्यता है। इन्हीं दोनों धारों में अस्तित्व का मानदंड रहता है।

ज्यां पाल सार्त्र —

इस महाशून्य में क्षुद्र मानव अपनी असीम प्रतीति के साथ अपना अस्तित्व भी रखता है। इस क्षुद्रता की ओर ध्यान देने पर वह डर जाता है यह भय कि मूलभूत भावना ही अस्तित्ववाद की मूल भावना है। इस मूल भावना के प्रति दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं (१) भय मिश्रित रक्षात्मक विरोध (सार्त्र) तथा (२) धार्मिक ईश परक स्वीकृति कायरिक कीर्केगार्ड व देलिय। प्रथम मत के अनुयायी सार्त्र हैं। उनके विचारानुसार मानव अपनी हीनता प्रमाणित हो जाने पर रक्षात्मक रूप से प्रति क्रियाशील होकर विद्रोह कर बैठता है। चाहे उस सम्पूर्ण विवशता में उसके विद्रोही स्वर कितने भी क्षुद्र व महत्वहीन हों, फिर भी वे उसकी चेतना व मानस की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते ही हैं।

स्पष्ट है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है किन्तु यह मान लिया जाय कि वह अर्थ पूर्ण है। इसका फल यह होगा कि व्यक्ति को जिम्मेदारी प्रतीत होगी। वह यह सिद्ध कर सकेगा कि कम से कम अपने लिए वह अपना स्वामी है ही तथा उसके व्यक्तिगत क्षेत्र में उसकी सत्ता है। साथ ही वह जीवन के कुछ क्षणों में अपने साथी मानवों से समझौता भी कर सकता है। इस भावना से वह स्वतन्त्रता की प्रतीति करता है। यह स्वतन्त्रता उसमें जिम्मेदारी तथा उत्तरदायित्व की भावना की सृष्टि करती है तथा इसी उत्तरदायित्व की भावना से उसकी कार्य प्रणाली में एक संगठन आ जाता है तथा उसके कार्य उच्च क्षुद्रता की सीमा तक नहीं पहुँच पाते। यह सार्त्र का सिद्धान्त है।

सीमाएँ —

सार्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें इस बात को निश्चित मान लिया गया है कि उस अस्तित्ववादी चेतन व्यक्ति की बात अन्य लोग मान ही लेंगे। व्यवहार की दृष्टि से यह बहुत दूर तक सही नहीं है। सार्त्र ने उस स्थिति की कल्पना नहीं की और न ही इस विषय में कोई निदान ही प्रस्तुत किया कि यदि उस व्यक्ति की बात अन्य व्यक्ति नहीं मानते हैं तो उस दशा में स्वतन्त्रता क्या समाज को विशृंखलित न कर देगी। किन्तु, कदाचित् सार्त्र इस सिद्धान्त पर विश्वास करता है कि

यदि व्यक्तियों को अपना अस्तित्व ज्ञात हो जायगा तो हम सुसंगठित रूप से एक स्वतन्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यशील हो जायेंगे ।

स्वतन्त्रता एक आवश्यकता है तथा उसकी आवश्यकता से उसका जन्म होता है। इसी स्वतन्त्रता से हमारा समाज भी शासित होकर परिवर्तनशीलता ग्रहण करता है। यह परिवर्तनशीलता प्रायः उन्नति की ओर अग्रसर होती है। सार्त्र के नाटक व उपन्यास इस सिद्धान्त से कहाँ तक शासित होते हैं यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसके उपन्यासों तथा नाटकों के पात्र विचित्र ढंग से व्यवहार करते हैं। उनके व्यवहार की पृष्ठभूमि में प्रायः उनकी मनोवैज्ञानिक अभिरुचि ही रहती है। कभी-कभी उनके व्यवहारों का कारण खोज निकालना कठिन हो जाता है। साथ ही वे चरित्र सामाजिक उन्नति के किसी आदर्श के प्रति उत्तरदायित्व वहन करते हों ऐसा प्रायः नहीं देखा गया है।

सार्त्र का यह सिद्धान्त वैहिंगर के सिद्धान्त 'जैसे कि' (ऐज इफ) के निकट प्रतीत होता है। हमें यह विश्वास नहीं है कि हम स्वतन्त्र हैं किन्तु हम ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि हम स्वतन्त्र हों। सार्त्र और प्रैगमेटिज्म निकट होते हुए भी भिन्न हैं। सार्त्र स्वयं प्रैगमेटिज्म को बहुत सतही सिद्धान्त मानता है। वह यह कहता है कि प्रैगमेटिज्म दैनिक व्यवहारों पर आधारित सबसे ओछे का दर्शन है जब कि अस्तित्ववाद मानव और प्रकृति के बीच मन के सम्बन्ध को प्रधानता देकर इस दशा को बहुत पीछे छोड़ देता है।

अपनी अनीतिकवादी नीति के कारण अस्तित्ववाद प्रैगमेटिज्म के साथ ही मार्क्सवाद सरीखे अन्य दर्शनों को पीछे छोड़ देता है। अस्तित्ववादी यह विश्वास करते हैं कि भौतिकता चाहे वह किसी मात्रा में क्यों न हो, मानव मूल्यों को सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का अनुवर्ती बनाकर मानव स्वतन्त्रता का हनन करती है। स्वतन्त्रता, अस्तित्ववादियों के अनुसार, वह परिस्थिति है, जो मानव को यह क्षमता प्रदान करती है जो कि वह अपनी भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठ सके।

सार्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति को एक स्थिति से अलग निकाल कर उसी स्थिति पर विचारणीय दृष्टिकोण ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करने वाली सम्भाव्यता की संज्ञा ही स्वतन्त्रता है। इस ऊर्ध्वगामिता को भौतिक कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। कार्य कारण की शृंखला भले ही किसी से कोई कार्य कराने में समर्थ हो जाय या किसी

ऐसी परिस्थिति का सृजन भले ही कर दे जिससे किसी कार्य की परिणति हो सके परन्तु यह व्यक्ति को इस योग्य नहीं बना सकती कि वह अपनी स्थिति से अलग होकर अपनी ही स्थिति पर निरपेक्ष रूप से विचार कर सके।

यह निरपेक्ष विचार ही अभौतिकीय प्रणाली है। हमारी परिस्थितियाँ हमें इस बात के लिए विवश नहीं करतीं कि हम अभौतिकीय दृष्टिकोण अपनायें ही। अस्तित्व-वाद एक ऐसी प्रक्रिया की सम्भावना सुलभ कर देता है जिसके अन्तर्गत हम अपनी परिस्थितियों से परे उससे ऊपर उठ जाते हैं। हम सब वस्तुओं को यहाँ तक कि सारी प्रकृति को प्रकृति से अपने को अलग करके देखने व विचारने लगते हैं। मार्क्सवादी कदाचित् इस विचार को निरी काल्पनिक और मूर्खतापूर्ण कह कर इसका उपहास कर सकता है क्योंकि वह किसी भी ऐसी परिस्थिति को नहीं मानता, जिसमें व्यक्ति अपनी परिस्थिति से ऊपर उठ सके।

इसके विपरीत अस्तित्ववादी कदाचित् इस स्थापना के साथ ही चलता है कि मानव ने निरन्तर प्रगति के द्वारा एक ऐसी शक्ति उत्पन्न कर ली है, जिसके द्वारा वह अपनी परिस्थिति से ऊपर उठ सकता है। इस शक्ति को वह चेतना या बौद्धिक आत्म बोध की संज्ञा देता है। तार्किक इसको सामाजिक रोग की संज्ञा देगा। तथा इस प्रवृत्ति को ही समस्त फूट व आक्रोश की जननी ठहरायेगा। परन्तु ऐसा होता अवश्य है कि कथन ऊँची जाति के जीवों में ऐसी चेतना उत्पन्न अवश्य हो जाती है।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से इस निवृत्यात्मक क्षणों में एक ऐसी सामाजिक काल्प-निकता की सृष्टि हो सकती है जिसका तत्कालीन परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध न हो। इस भय के निवारणार्थ अस्तित्ववादी यह निर्णय करता है कि व्यक्ति को इस निवृत्ति या स्वतन्त्रता का अनुभव कर लेने के पश्चात पुनः सामाजिक सम्बन्धों में वापस आ जाना चाहिए, इस दृष्टि से कि वह उनमें परिवर्तन कर सके।

ऊपर दूसरी प्रतिक्रिया धार्मिक ईशपरक व स्वीकारात्मक कही गयी है। इसी के सन्दर्भ में असीम व महाविस्तीर्ण संसार में मानव की अपने क्षुद्र अस्तित्व के ज्ञान जन्य एक प्रतिक्रिया का विवेचन किया गया है। मानव मन पर अपने क्षुद्र अस्तित्व का ज्ञान एक दूसरी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न कर सकता है। वह उस क्षुद्रता का तथा चारों ओर के असीम विस्तार का विरोध करने के स्थान पर उसको स्वीकार करके अपने विचारों को धार्मिकता की ओर भी प्रवाहित कर सकता है। वह इस असीम विस्तार से डर कर अपने को उसके प्रति समर्पित भी कर सकता है। ऐसी दशा में उसको एक ऐसी शक्ति

की कल्पना कर लेनी पड़ती है, जो उस महान् जगत को चलाती है। ऐसी दशा में वह स्वभावतः उस आदर्शवाद की ओर मुड़ जायगा जिसका विरोध सार्त्र ने किया है। किन्तु यह सम्भावना भी सम्भाव्य ही है। इस प्रवृत्ति के जनक कीर्कगार्ड धर्सिग व कालरिज आदि हैं।

कीर्कगार्ड —

कीर्कगार्ड का विचार है कि मनुष्य प्रायः बहुत सी वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहता है अर्थात् वह उन्हें उचित रूप से समझ नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्याओं का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उसकी धार्मिक भावनाओं से होता है, जो कि किसी धार्मिक विश्वास पर आधारित होती हैं। कीर्कगार्ड जैसा कि ऊपर भी कहा गया है किसी सीमा तक एक आस्तिक या धार्मिक अस्तित्ववादी है। वह धार्मिक विश्वासों से व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्याओं का जनात्मक व घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है तथा धार्मिक विश्वासों पर आधारित भावनाओं को बड़ा गौरव प्रदान करता है। धार्मि केतर समस्याओं भावनाओं व विश्वासों को वह पाप की स्थिति मानता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि महान् असीम में मनुष्य क्षुद्रता का ज्ञान व्यक्ति में जब जनात्मक भय उत्पन्न करता है तो वह उसे उस असीम के सर्जक के रूप में ईश्वर नामनी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य कर देता है। इसी विश्लेषण के अनुसार कीर्कगार्ड भी ईश्वर सदृश किसी शक्ति के अस्तित्व अथवा उसकी सम्भावना में विश्वास रखता है। उसका विचार है कि अस्तित्ववादी विचारधारा का रहस्य ही ईश्वर का रहस्य तथा उसके स्वरूप का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से किये गये प्रयत्नों में से है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैसा कि इस क्षेत्र में विश्वास व आस्था का बड़ा महत्व है। कीर्कगार्ड का कथन है कि अस्तित्व को इसी के द्वारा जाना जाना ही सम्भव है।

वास्तव में अस्तित्ववाद की यह प्रवृत्ति सार्त्र की निषेधात्मक व विरोधात्मक प्रवृत्ति से कई स्थानों पर विरोध करती दिखायी देती है। उसमें से अनेक स्थान बौद्धिकता का निषेध भी है। सार्त्र भावनाओं पर अधिक बल नहीं देता है, क्योंकि भावनायें

1 'Challange of Existentialism By John wilde p. 32.

विश्वासों पर आधारित होती है व विश्वास किसी न किसी रूप में आदर्शों से अनुप्रेरित होते हैं। यह विश्वास तथा आदर्श ही व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं होने देते। मार्क्स के विपरीत कीर्केगार्ड भौतिकता के प्रति अधिक ग्रहणशीलता प्रदर्शित नहीं करता। वह कहता है कि मनुष्य को अस्तित्ववान् रहने के लिए भौतिकता की ओर अधिक आकर्षित व आग्रहीत नहीं होना चाहिए।

आलोचना —

यह विचार नया नहीं है। सेंट आगस्टाइन जैसे प्राचीन रहस्यवादी विचारकों की रचनाओं में इस विचार के बीज पाये जाते हैं। बाद में शेलिंग कालरिज आदि विचारकों ने इस विचारधारा को नवजीवन प्रदान किया किन्तु कीर्केगार्ड प्रभृति विद्वानों द्वारा यह विचार अस्तित्ववाद के एक विभाग के रूप में सामने आये। इन सभी विचारकों का मत है कि मानव शून्य से घिरा हुआ है। इस व्यापकता का कोई अर्थ नहीं है। मानव यहां क्यों है? क्यों वह उसे जटिल प्रकृति की समवेत प्रक्रिया का एक अंग बन गया? तथा क्यों वह आत्म चेतन हो गया?

इन सब प्रश्नों के भी कोई अर्थ नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर की पूर्व स्थिति की कल्पना कर लेने मात्र से इन सभी स्थितियों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं एक अपार्थिव लोकेतर सत्ता को इन सबका कारण व कर्ता मान लेने मात्र से ही सम्पूर्ण प्रश्न एक तर्क पूर्ण माला के दानों के सदृश एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। प्रत्येक अंग तथा सम्बन्धित अंगों की स्थिति व उनकी चेतना कार्य व कारण की तार्किक कड़ी में गुंथ जाते हैं। यद्यपि इस कड़ी में भी कष्ट्रप व पीड़ा जैसी समस्याओं के हेतु व कार्य क्षेत्र की समस्या के लिए स्थान छूट ही जाता है। फिर भी स्थिति व उसकी सार्थकता को सुलझाने का सरल उपाय तो है ही। यही हीगेल मार्सेल व कीर्केगार्द द्वारा प्रतिपादित आस्तिक अस्तित्ववाद की आधारभूमि है।

आस्तिकता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक जीवित आस्तिक ईसाई का यही मत है या वह इन्हीं अर्थों में विचार करता है। प्रायः व बोध सभी रूप से प्रकट होने धार्मिक धर्म्यों व अतिरेकीय भाव पर विश्वास कर लेते हैं। किन्तु जहाँ तक दर्शन के क्षेत्र में अर्थ

1 Point of View By Kirkguard (Translated by alker Lorrey) p 134.

व धार्मिक उद्भावनाओं का प्रश्न है, वहाँ तक यह सिद्धान्त धार्मिक व आस्तिक है। जहाँ तक श्रद्धा और विश्वास का प्रश्न है यह सिद्धान्त धर्म के निकट होते हुये भी तर्क का अतिक्रमण नहीं करता है तथा इसके तर्क पूर्णतया सम्पन्न हैं। चाहे कि दर्शन का यह एक दूसरा अंग है, इसे केवल ऐसे (कौनसी विधि) दर्शन माना जा सकता है अर्थात् केवल इस प्रकार ही हमारी स्थिति का कोई अर्थ हो सकता है।

आध्यात्म प्राधान्य —

कीर्केगार्ड आध्यात्मिकता को बौद्धिकता की अपेक्षा अधिक प्रश्रय देता है। साथ ही व्यक्तिगत गुणों की प्रधानता भी जीवन में मानता है। वह यह कहता है कि व्यक्ति का अर्थ ही आध्यात्मिक जागरण है।[1] सैद्धान्तिकता का विरोध करते हुए वह यह बताता है कि सैद्धान्तिकता बौद्धिकता का तथा तद्जनित निर्वैयक्तिक व निर्धारित व्याख्याएँ सत्य का स्पर्श नहीं कर पाती क्योंकि सत्य एक उल्लास की वस्तु है। वह आध्यात्मिकता के वातावरण में ही प्रकट होता है। तर्क व बौद्धिकता से उसे पाना असम्भवप्राय है।

जब सैद्धान्तिकता व बौद्धिकता सत्य की सीमा का स्पर्श भी नहीं कर पाती तो वे उसका भ्रामक रूप ही प्रस्तुत करती हैं। वैयक्तिकता पर कीर्केगार्ड असम्भावित रूप से बल देता है और उसकी अनिवार्यता आपेक्षित मानता है। यही नहीं वह मनुष्य का चरम लक्ष्य व्यक्ति होना ही मानता है। इस व्यक्ति होने के लिए आन्तरिक स्वरूप की अवगति अनिवार्य है। जब तक कोई भी व्यक्ति अपने आन्तरिक स्वरूप से ठीक से अवगत नहीं हो जाता, तब तक सत्य से परिचित नहीं हो सकता क्योंकि वैयक्तिकता सत्य का अंश है। वैयक्तिकता का विरोध सत्य का विरोध है।[2] उसके अनुसार निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व का विरोधी और उसके अपमान का कारण है।

मनुष्य के अस्तित्व तथा उसकी समस्याओं का गहरा अध्ययन कीर्केगार्ड ने किया है। इन समस्त समस्याओं को वह दो भागों में विभाजित करता है। वह बताता है कि मानव जीवन के प्रायः दो उद्देश्य होते हैं। प्रथम चिरन्तनता की प्राप्ति तथा द्वितीय लौकिक अस्तित्व की उपलब्धि। चिरन्तनता की प्राप्ति ईश्वर तथा उच्चतर गुणों की

1 Point of view (Translated by walker Lorrey) pp 134
2 The Liv ng Thoughts of kirkguard by W H. Audin, p 27

उपलब्धि से होती है। द्वितीय कारण तो स्पष्ट ही है। ये उद्देश्य एक दूसरे के पूरक होते हुए भी व्यावहारिक रूप से परस्पर विरोधी हैं। यही कारण है कि व्यावहारिक रूप से इन दोनों की उपलब्धि सम्भव नहीं। अतः अस्तित्ववादी समस्या यह हो जाती है कि लौकिक साधनों से किस प्रकार मनुष्य स्थायी सुख प्राप्त कर सकता है।

कीर्केगार्ड नैतिकता को साधन मानता है न कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य। यह नैतिकता मनुष्य के जीवन में चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती है किन्तु नैतिकता के लिए नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। वह नैतिकता को मनुष्य की धर्म की भावना से सम्बन्धित करता है और जीवन की समस्याओं का हल धर्म में खोजने के प्रयत्न पर बल देता है। नैतिकता से भी ऊँची वस्तु आस्था या विश्वास होती है और नैतिकता पूर्ण जीवन स्वीकार कर लेने पर एक आदर्श जीवन बिताने की कामना मानव जीवन को ओतप्रोत कर रही है। जीवन आदर्श की आधारभूमि पर खड़ा होकर यथार्थ कटुताओं से निरन्तर संघर्षशील रहता है और उच्चतर मूल्यों को प्राप्त कर विकास के पथ पर अग्रसर होता है।

अल्बर्ट कामू:—

अल्बर्ट कामू भी अस्तित्ववादी साहित्यकारों विशेष रूप से उपन्यासकारों तथा नाटककारों में प्रमुख स्थान रखता है। यद्यपि उसकी सहानुभूति अस्तित्ववाद के आन्दोलन के साथ रही परन्तु उसका स्वतंत्र स्थान भी है। वह विचारशील तथा ईमानदार लेखक *अस्तित्ववाद की संकट जन्य नैतिक बेचैनी का साक्षीदार* है परन्तु वह निरीह मानवता के लिए काम चलाऊ समझौते को खोजने में विशेष रूप से क्रियाशील है। उसके उपन्यास नाटक तथा निबन्धों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है तथा एक सहानुभूति पूर्ण पाठक वर्ग की उत्पत्ति की है। उसकी शैली की आध्यात्मिकता और गम्भीरता ने उसकी ख्याति विशेष रूप से बढ़ा भी दी है तथा भविष्य में उसका स्थान नियत कर दिया है। अमेरिकी साहित्य में भी अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का सृजन आरम्भ हो रहा है परन्तु वह अभी अपनी शैशवावस्था में ही है। परन्तु उसकी भावी सम्भावनाओं के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता।

महत्व:—

अस्तित्ववाद सबसे अधिक फ्रांसीसी साहित्य में और विचारों में क्रियाशील रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में फ्रांसीसी मानस को प्रभावित करने वाले विचारों में अस्तित्ववाद का नाम होगा या नहीं, परन्तु युद्धोत्तर साहित्य की सृजनशील

प्रवृत्तियों में इस वाद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दर्शन के क्षेत्र में यह एक क्रियाशील आन्दोलन के रूप में तथा साहित्य के क्षेत्र में एक सृजनशील शक्ति के रूप में इसका प्रमुख स्थान है। सार्त्र में इस सिद्धान्त के महान् दर्शन का प्रणयन मिलता है। साथ ही परम्परावादी दर्शन के परिहार की भावना भी क्रियाशील दृष्टिगोचर होती है।

कीर्केगार्द के मत के स्थान पर निश्चयात्मक प्रहार करने की भावना तथा ठंडे दिमाग से संघर्ष करने की भावना भी दृष्टिगोचर होती है। कहानियाँ तथा उपन्यासों में इस सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप दिखलाई देता है। साथ ही साथ कई दृश्यों को चित्रित करने की शैली सार्त्र के उपन्यासों की विशेषता कही जाती है। भावनाओं में एक उत्साह तथा युद्धकालीन दुःखद अस्तित्ववादी क्षणभंगुरता के परिचायक हैं किन्तु इससे भी अधिक दृश्यों का स्वाभाविक वैशंपायन तथा शरीर की आवश्यकताओं तथा उनसे उत्पन्न चिन्ताओं के प्रति अस्वाभाविक तथा निर्भय रूप से साहचर्य की भावना ने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दे दिया है जो शारीरिक प्रवृत्तियों और मांगों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान देता है। यह आन्दोलन केवल साहित्य ही नहीं वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी है।

सार्त्र एक सफल नाटककार भी सिद्ध हुआ है। उसके उपन्यासों तथा कहानियों के वर्णनों में भी यह नाटकीयता भली प्रकार से दिखाई देती है। उसके नाटक एक विचित्र प्रकार की रुचि से ओतप्रोत हैं जो आधुनिक फ्रांसीसी नाटक की एक प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त सार्त्र ने मनुष्य के व्यवहार पर प्रकाश डालने वाली दार्शनिक प्रणालियाँ जैसे प्रतीकवाद तथा मनोविज्ञान और इतिहास आदि का भी अपने नाटकों में भली प्रकार से उपयोग किया है।

यथार्थवाद

स्वरूप और आरम्भ—

पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के लगभग यूनान में यथार्थवादी दर्शन का प्रणयन हुआ। तब से वर्तमान काल तक दर्शन तथा साहित्य दोनों में यथार्थवाद अपनी सत्ता किसी न किसी रूप में बनाये हुए है। इस वाद को अन्य वादों की अपेक्षा अधिक उच्चतर मनीषियों का पोषण व संरक्षण प्राप्त हुआ तथा इसे विभिन्न सांस्कृतिक

परम्पराओं व परिस्थितियों में रख कर जाँचा समझा व परखा गया। संसार में बहुत सी वस्तुएं दिखाई देती हैं जिनमें मानव का कोई भी हाथ नहीं है। मनुष्य उनको समझने का प्रयत्न करता है। इस समझने के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यह ज्ञान संयमित तथा सुनियोजित अध्ययन से ही प्राप्त हो सकना सम्भव है। इस ज्ञान से मनुष्य अपने चारों ओर के वातावरण को समझ सकता है तथा अपनी रक्षा कर सकता है। रक्षा की मूल प्रवृत्ति ही मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है। कुतूहल व जिज्ञासा का जन्म उसके बाद की स्थिति है। इस प्रकार बुद्धि से प्रेरित ज्ञान प्राप्त करके हम अपने वातावरण की प्रवृत्तियों को समझ सकते हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हम अपने कार्य कलाप को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं।

अतः मानव की सहज ज्ञान की शक्तियों का वातावरण को समझने तथा अध्ययन करने की क्रिया ही यथार्थवाद का मूल तत्व है। मानव मूल रूप से यह विश्वास करता है कि (१) मानव के चारों ओर यथार्थ स्थिति रखने वाला संसार या वातावरण है जिसके बनाने बिगाड़ने तथा परिवर्तन करने में उसका कोई हाथ नहीं है (२) इस यथार्थ वस्तु स्थिति को केवल समझा ही जा सकता है। यह समझना तभी सम्भव है जब कि उस वातावरण का वैज्ञानिक तथा निरपेक्ष अध्ययन किया जाय। यह अध्ययन मानव बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। (३) बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य की वातावरण के प्रति की गई समस्त प्रतिक्रियाओं में चाहे वे व्यक्तिगत रूप से की गई हों या सामूहिक रूप से, एक मात्र विश्वसनीय सहायक है। ये मानव के मूलभूत विश्वास ही यथार्थवाद के आधार स्तम्भ हैं।

प्रभाव तथा महत्व—

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवादी विचार प्रणाली का विकास मार्क्स के सिद्धान्तों का आश्रय लेकर भी हुआ। कॉडवेल ने मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार करते हुए उसका विश्लेषण किया। पाश्चात्य यथार्थवादी आन्दोलन में योग देने वाले विचारक फ्लाबेयर के समय से लेकर वर्तमान समय तक रहे हैं।[1] इसके अतिरिक्त ज़ोला तथा मोपांसा आदि का भी इसके विकास में योगदान रहा है। वस्तुओं के साहित्य में यथातथ्य वर्णन की प्रवृत्ति होने के कारण यह आदर्शवाद की विरोधिनी रही है।

1 'Dictionary of world Literary Terms,' Joseph T Shipley p. 325

आधुनिक युग में इस प्रवृत्ति के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएं हुईं, परन्तु इसी प्रवृत्ति का एक और रूप विकसित होने लगा जिससे अतियथार्थवाद नाम दिया गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह अतियथार्थवाद का विस्तृत संस्करण है जैसा कि इसके नाम से भी स्पष्ट है। यथार्थवाद ने यदि साहित्य को नयी दृष्टि दी, तो अति यथार्थवाद ने साहित्य को उन वस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया, जिसका कि साहित्य में अब तक प्रयोग किया जाता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इस वाद का प्रादुर्भाव हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर इसे छोड़ सा दिया गया और अब तक यह एक प्रकार से विस्मृति के गर्त में पड़ा हुआ है यद्यपि इसका प्रभाव अब भी बड़े व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसका उद्भव सीधे युद्ध से हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के भीषण हत्याकांड ने सम्पूर्ण विश्व के ऊपर मम मिश्रित क्रूरता का आवरण डाल दिया था। सारे विचारशील मस्तिष्क कुंठित हो गये थे। हीनता निराशा तथा असहायावस्था की अनुभूति ने मनुष्य को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि वह भाग्य के हाथों में एक खिलौने के समान है। युद्ध की इस भीषणता ने नवयुवकों को तत्कालीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह करने को भी बाध्य कर दिया। जो जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति व्यापक होने लगी। इसलिए एक संगठित वैचारिक आन्दोलन के रूप में अतियथार्थवाद का महत्व तथा सम्भावनाएं ही अधिक हैं।

अतियथार्थवाद

आरम्भ—

अतियथार्थवाद का जन्म फ्रांस में बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रांसीसी साहित्य में यह आन्दोलन एक प्रतिक्रियात्मक रूप में आरम्भ हुआ जिसके मूल में लगभग एक शताब्दी पीछे से आने वाली साहित्यिक परम्परा थी। प्रारम्भ में इस वाद का समर्थक प्रमुख रूप से चार्ल्स बोदेलेयर रहा। उसने उन्नीसवीं शताब्दी में ही इसका स्पष्टता से निर्देश करने का प्रयत्न किया। बोदेलेयर के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी में ही जिन यूरोपीय साहित्यकारों की कृतियों में इस प्रवृत्ति का समावेश मिलता है उनमें ह्यूसीमान, रिम्बो तथा मेलार्मे आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन साहित्यकारों ने उन्नीसवीं शताब्दी में ही इस कृतियों की आधार भूमि तैयार करने में योग दिया जिसका संगठित और निर्धारित रूप में आरम्भ बीसवीं शताब्दी में हुआ।

क्षेत्र विस्तार—

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इस मानसिक और सांकेतिक प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया। सन् १९२० से इस विशिष्ट वाद की स्पष्ट चर्चा आरम्भ हुई। सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवाद का अर्थ यह लगाया गया कि जो सत्ता यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। इस अर्थ विशेष के प्रवर्तन की दृष्टि से यहाँ आन्द्रे ब्रेतन का उल्लेख आवश्यक है जिसे फिलिप सुपोल लुई आरागो जाजी हा ने ऐसे लेखक, ई० मेसेन्स तथा पाल एलुआर आदि अपने समकालीन विचारकों का सहयोग प्राप्त था। इस विचारधारा के उद्देश्यों तथा सैद्धान्तिक विचारों को स्पष्ट करने वाले दो घोषणापत्र भी आन्द्रे ब्रेतन ने सन् १९२४ तथा सन् १९३० में प्रकाशित किये। सन् १९३० के बाद से यह आन्दोलन फ्रांसीसी साहित्य और चित्रकला में अभिव्यक्ति की दृष्टि से व्यापकतर होता चला गया। क्रमशः यह एक एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार का आन्दोलन बन गया।

प्रसार—

सन् १९३० के पश्चात् से इस आन्दोलन की चर्चा फ्रांस के बाहर भी आरम्भ हुई। धीरे धीरे विश्व के अन्य देशों में भी इसका प्रचार बढ़ा। यद्यपि यह सत्य है कि यूरोप के बहुत से देशों में इस विचारधारा को कड़े विरोधों का भी सामना करना पड़ा। परन्तु अन्ततः इसका समर्थन तथा प्रतिनिधित्व भी होता ही रहा। यूरोप में फ्रांस के बाद इसका सबसे अधिक प्रचार इंग्लैंड में हुआ। वहाँ सन् १९३६ में अति यथार्थवादी कला की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। हर्बर्ट रीड ने इस प्रदर्शनी का परिचय पत्र प्रस्तुत किया। तभी से अंग्रेजी साहित्य में भी अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों का बहुलता से समावेश होने लगा।

स्वरूप—

सिद्धान्ततः अतियथार्थवादियों के अनुसार कला या साहित्य को पूर्णतः बौद्धिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके विचार से अतिशय रूप से उनके द्वारा बौद्धिक होने से मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों व अन्तर्विरोध के चित्रण की सम्भावनाएँ कम हो जायेंगी। जहाँ तक नीति विषयक मान्यताओं का सम्बन्ध है अतियथार्थवादी विचार धारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज में जो नैतिक दृष्टिकोण आदर्श समझा जाता है वह निरर्थक है। इसीलिए वे नीति विषयक आधुनिक मान्यताओं का विरोध करते हैं क्योंकि कुछ लोग केवल इसी कारण से अतियथार्थवादियों पर आक्षेप

करते हैं कि वे स्वच्छन्दतावाद के समर्थक हैं और कोई नैतिक बन्धन नहीं स्वीकार करना चाहते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ए. ग्रास्कत डेवीज आदि कुछ समीक्षकों के विचारानुसार अतियथार्थवाद कोई नयी विचारधारा नहीं है बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित स्वच्छन्दतावाद का ही बीसवीं शताब्दी में परिवर्तित और विकसित रूप है।

प्रभाव—

इस आन्दोलन के राजनैतिक प्रभाव तुरन्त दृष्टिगोचर नहीं हुए, परन्तु साहित्य तथा समाज में इसके प्रभाव शीघ्र दिखायी देने लगे। सबसे पहली बात जिस पर एक मत रूप से लोगों को विश्वास होने लगा था वह यह थी कि पूर्व स्थापित बौद्धिक तथा कलात्मक रूढ़ियों से अपने आपको मुक्त करना। तत्पश्चात् पूर्व स्थित साहित्य तथा कला के उन आदर्शों का जो पूर्वाग्रह के रूप में क्रियाशील थे उनका विनाश का लक्ष्य रखा गया। क्योंकि विचारशीलता के समस्त प्रयत्न संकट को टालने में असमर्थ हो गये थे, इसलिए मानस की गम्भीरतर प्रवृत्तियों तथा प्रतिक्रियाओं में नव निर्माण के तत्त्व खोजने की बात जोर पकड़ने लगी। और जब तक नवीन मूल्यों तथा मान्यताओं की स्थापना न हो सके अराजकता को भ्रष्ट नियमों से श्रेयस्कर समझा जाने लगा। सभ्यता तथा जड़ मूल्यों की अवहेलना करके इस आन्दोलन के नेता मानव की अव हेलित आदिम तथा पाशव सहजताओं को अधिक प्रश्रय देने लगे। इस प्रकार अतियथार्थ वाद मुख्य शक्ति रूपी द्वारा प्रचारित आन्दोलन की अन्तिम लहर थी जो बार बार नवीन रूपों में सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी भर यूरोपीय क्षितिज को आक्रान्त करती रही।

उद्देश्य—

अतियथार्थवाद का ध्येय यथार्थ की सीमाओं को विस्तृत करना था। यह सामग्री जिसका साहित्य में अब तक उपयोग नहीं हुआ है उसका उपयोग करके ही साहित्यिक क्षितिज का विस्तृतीकरण सम्भाव्य है। इस प्रकार यह वाद स्वप्न तथा अपने आप होने वाले साहचर्य का केवल साहित्य में उपयोग ही नहीं करता वरन् उनको जीवन की व्याख्या तथा विभिन्न रूपों में मानव चरित्र का सम्पूर्ण विश्लेषण करने में आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण समझता है। अतियथार्थवादी इस स्वप्न व साहचर्य का सम्बन्ध चेतन तथा अचेतन मानस से स्थापित करता है। यही बात उसकी कृतियों में मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतियथार्थवादी कृतियाँ इस प्रकार संगठित होने के लिए छोड़ दी जाती हैं जिससे समस्त संयोजन अचेतन का यथावत प्रतिनिधि कहला सके।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अतियथार्थवादी विचारधारा का जन्म मुख्यतः फ्रांस में हुआ। कुछ समय बाद जब इसका प्रसार यूरोप के अन्य देशों में हो गया तब भी फ्रांस में इसका अनुगमन बहुलता के साथ होता रहा। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि अतियथार्थवाद का जन्म काल महायुद्ध का परवर्ती काल है। इस समय आरम्भ हुए अन्य आन्दोलनों की भाँति यह आन्दोलन भी प्रथम महायुद्ध के पूर्व की रोमांटिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुआ था। अपने प्रारम्भिक काल में इसका संचालन चार्ल्स बोदेलेयर ने भी किया। यद्यपि उसके समय तक यह आन्दोलन उस रूप में नहीं चल रहा था जिस रूप में वह परवर्ती काल में चला। बोदेलेयर के अतिरिक्त लात्रीमान रिम्बो तथा मेलार्मे आदि की कृतियों में भी इसके संकेत मिलते हैं। इस प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ होने से पूर्व ही इसकी सम्भावनाओं का जन्म हो चुका था।

अतियथार्थवादी आन्दोलन के आरम्भ और विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि फ्रांस में आविर्भूत होने के पश्चात् यह आन्दोलन बहुत शीघ्र ही विश्वव्यापी हो गया यद्यपि इसका केन्द्र स्थल फ्रांस का साहित्य क्षेत्र ही रहा। परन्तु फ्रांसीसी कला भी बहुत शीघ्र ही इससे प्रभावित हुई और इसके पश्चात् इस आन्दोलन को जो विश्वजनीन मान्यता मिली, उसके फलस्वरूप इसका प्रसार बहुत शीघ्र ही विश्व के प्रमुख साहित्य और कला के क्षेत्रों तक हो गया। फ्रांस के अतिरिक्त इंगलैंड जर्मनी तथा स्पेन में इस आन्दोलन को प्रश्रय और समर्थन प्राप्त हुआ। अन्य महाद्वीपों में इसका प्रभाव विशेष रूप से अमेरिका पर पड़ा।

अपने आरम्भिक काल में अतियथार्थवाद को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा। इससे उस सत्ता से आशय समझा जाता था जो दृष्ट यथार्थता से परे हो। आगे चलकर 'लितरेत्योरे' नामक पत्र के माध्यम से इसका संगठन हुआ तथा 'रिवोल्यूशन सर रियलिस्ते' के माध्यम से इसका प्रसार हुआ। इनमें से प्रथम का समय सन् १९१९ तथा द्वितीय का सन् १९२४ था। इसके पश्चात् क्रमशः इस आन्दोलन का तीव्र गति से विकास होता गया और धीरे-धीरे यह अपने समय का प्रमुख साहित्यिक आन्दोलन बन गया।

हर्बर्ट रीड:—

इंगलैंड में अतियथार्थवाद का प्रभाव पर्याप्त पड़ा। वहाँ पर इसका सबसे बड़ा समर्थक हर्बर्ट रीड था। जैसा कि पीछे लिखा गया है, हर्बर्ट रीड ने न केवल वहाँ अतियथार्थवाद का समर्थन किया, बल्कि सक्रिय रूप से इस विचारधारा के संघटनात्मक

आन्दोलन में योग दिया। यही नहीं सन् १९३६ में लन्दन में अतियथार्थवादी कला की एक महत्वपूर्ण प्रदर्शनी का भी यहीं उद्घाटन किया गया तथा इसका परिचय पत्र हर्बर्ट रीड ने ही प्रस्तुत किया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अतियथार्थवाद का जो प्रचार और प्रसार हुआ उसका श्रेय मुख्यतः हर्बर्ट रीड को ही है। उसने इस विचारधारा का औपचारिक समर्थन ही नहीं किया वरन् इसमें पुष्टीकरण की चेष्टा करते हुए विरोधियों द्वारा लगाये गये आक्षेपों के उत्तर भी दिये। उदाहरण के लिए उसने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया कि अतियथार्थवाद का आन्दोलन एक उद्देश्य विशेष से आरम्भ किया गया है। जो लोग इसके उद्देश्य को समझते हैं उनका इससे कोई विरोध नहीं हो सकता परन्तु जो इसे नहीं समझते वह केवल इसकी पत्रकारिता के स्तर पर ही इसका विरोध करते हैं यद्यपि सिद्धान्ततः उनके पास इस विरोध का कोई कारण नहीं है।

हर्बर्ट रीड के अनुसार रोमांटिकवाद स्वभावतया और निश्चयात्मक रूप से अतियथार्थवाद की ओर अग्रसर होता है। कुछ अन्य लोगों की दृष्टि में अतियथार्थवाद रोमांटिकवाद का विकसित रूप है। फिर भी रोमांटिकवाद और अतियथार्थवाद की बहुत सी विशेषताएँ एक ही प्रकार की हैं। दोनों समता के स्थान पर विषमता को अधिक प्रश्रय देते हैं। दोनों में बौद्धिकता के प्रति अविश्वास है तथा दोनों में मध्य वर्ग को चौंका देने के प्रति आग्रह है। किन्तु यदि अतियथार्थवाद किसी भी अर्थ या किसी भी दशा में रोमांटिकवाद का प्रतिनिधित्व करने वाला विचार कहा जा सकता है तो यह उस रोमांटिक आत्मा का प्रतिनिधि है जिसका जन्म प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मूल्यों के विघटन पर हुआ था। उस समय जबकि युद्धोपरान्त सापेक्षित विज्ञानों के द्वारा पोषित, बौद्धिकता के प्रति अनास्था और अविश्वास से पूर्ण विद्रोह उठ खड़ा हुआ था।

इस विद्रोह को आगे बढ़ाने में सापेक्षवादी वैज्ञानिकों विशेषकर फ्रायड का बड़ा हाथ रहा था। फ्रायड ने मानव के ऊपर ओढ़ी हुई बौद्धिकता की चादर को दूर करके *मानव मानस के अचेतन में झाँकने का प्रयत्न किया। इस अचेतन पर किसी का वश* नहीं था। इसकी कार्य प्रणाली मानव बुद्धि से परे थी क्योंकि इस पर तर्क शास्त्र की कोई विधा नहीं लागू होती थी। यह बौद्धिकता से परे थी। फ्रायड हीगेल तथा मार्क्स की त्रयी ही अतियथार्थवादी विचारधारा की जन्मदात्री कही जा सकती है। फ्रायड ने अचेतन तथा सर्वोच्चवादी मनस् का उद्घाटन किया हीगल ने विपरीतात्मकता के संश्लेषण द्वारा विनाश का प्रतिपादन किया तथा मार्क्स ने वर्तमान मूल्यों के प्रति घृणा शील मस्तिष्क तथा राजनैतिक क्षेत्र में एक निश्चित कार्य प्रणाली का सृजन किया।

दादाइज्म—

अतियथार्थवाद का प्रादुर्भाव वास्तविक तथा मूल रूप में स्विटजरलैंड के ज्यूरिच नाम के नगर में युद्ध पीड़ित कुछ शरणार्थियों द्वारा प्रचलित 'दादाइज्म' से हुआ था। यह समय लगभग १९१६ के है। ये लोग युद्ध द्वारा प्रताड़ित थे और अपनी एक सभा में जब युद्धप्रिय शक्तियों के प्रति घृणा व्यक्त करने के इरादे से उन्होंने शब्द कोष खोला अनायास "दादा" शब्द पर उनकी दृष्टि गयी और इस आन्दोलन का नाम "दादाइज्म" रख दिया गया। इस दल का मुख्य ध्येय समस्त मानदंडों तथा समस्त बुद्धिशीलता का विनाश था। उसके स्थान पर तर्केतर कार्य प्रणाली की स्थापना की गई। तर्कपूर्ण विचारशीलता के आडंबर ने साहित्य को कुछ घिसे पिटे वाक्यों के अतिरिक्त और कुछ न दिया। उनका विचार था कि भावनाओं की तर्कोन्मुक्त स्वच्छन्द अभिव्यक्ति भाषा का संस्कार करेगी तथा कविता का पुनरुत्थान करेगी। इनके कार्यों व विचारों में किसी प्रकार की रुचि या अन्य वर्जनाओं का अभाव था। इनकी सभाओं में वक्ता लोहे के टोप लगा कर सम्मिलित होते थे तथा जो कुछ भी कहना चाहते थे किसी भी सीमा को न मानते हुये कहते थे। उनके लिए वे सभी प्रकार के कार्य श्लाघ्य थे जिनमें किसी भी सुरुचि का अभाव हो। यहाँ तक कि सार्वजनिक मूत्रालयों में उनके चित्रों की प्रदर्शनी होती थी। इसका कारण यह था कि समस्त प्रकार की सुरुचि तथा बुद्धिशीलता पर से उनका विश्वास उठ गया था। उन्होंने यह देखा था कि सारी सभ्यता अपनी सम्पूर्ण सुरुचिपूर्ण बौद्धिकता के होते हुए भी महायुद्ध के भीषण हत्या कांड को न रोक सकी। इस कारण उन्होंने इस आडम्बर को उखाड़ फेंका जिस पर उनकी आस्था समाप्त हो चुकी थी। इस प्रकार के वातावरण में बहुत से अतियथार्थवादी अग्रदूतों ने कला सुरुचि तथा मूल्यों के प्रति घृणा का प्रथम पाठ पढ़ा तथा उस उत्कट व सर्वव्यापी घृणा से नवीन मूल्यों की स्थापना के लिए अपने अन्दर में असन्तोष उत्पन्न किया। कुछ समय पश्चात् ट्रिस्टन ज़ारा नामक एक रूमानियन के नेतृत्व में दादाइज्म का केन्द्र पेरिस हो गया परन्तु उनके असंयमित उद्गार अधिक आदर न प्राप्त कर सके तथा यह क्षीणतम आन्दोलन अतियथार्थवाद के सौम्यतर आन्दोलन में परिवर्तित हो गया।

महत्व—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में अतियथार्थवाद का अनुगमन अनेक विचारकों द्वारा हुआ परन्तु इसका प्रवर्तक साहित्यकार आन्द्रे ब्रेतन माना जाता है। उसने इस आन्दोलन का सुनियोजित और संगठित रूप में आरम्भ किया। आन्द्रे ब्रेतन के अतिरिक्त प्रमुख अतियथार्थवादी विचारकों में फिलिप्स

सुपोल्ट लुई आरागों आन्द्रे ब्रेतों रेने क्रेवल, ई० मेसेन्स तथा पाल एलुआर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आन्द्रे ब्रेतन ने पहले सन् १९२४ में तथा फिर सन् १९३० में दो घोषणा पत्र प्रकाशित किये। इन घोषणा पत्रों का उद्देश्य अतियथार्थवाद के रूप में आरम्भ किये गये आन्दोलन के स्वरूप और उद्देश्य का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण करना था। सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवाद को आदर्शवाद तथा नीतिवाद का विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि इसकी मान्यताएँ आदर्शात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण की विरोधिनी हैं। अतियथार्थवादी विचारकों के अनुसार आधुनिक युग में नीति तथा आदर्श के सिद्धान्त अव्यावहारिक तथा रूढ़िवादी हो गये हैं। इसलिए वे इनका विरोध करते हैं और अचेतन की विविध सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए उन्हीं की अभिव्यक्ति पर गौरव देते हैं।

निष्कर्ष —

इस प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें समय समय पर नवीन दृष्टि के अनुसार परिवर्तन तथा विकास होता रहा है। ऊपर जिन आन्दोलनों का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जो पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रवर्तित हुए थे। परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्तों में उन सभी तत्वों की निहिति है जो युग के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्लेटो अरस्तू, लोंजाइनस मार्क्स कीर्केगार्द, क्रोचे तथा सार्त्र आदि विचारकों के प्रमुख विचार इन चिन्तन पद्धतियों का आधार हैं। साहित्य में विभिन्न तत्वों की प्रमुखता प्रतिपादित करते हुए इनमें उन्हीं के अनुसार मूल्यांकन पर बल दिया गया है। उदाहरण के लिए यदि आदर्शवाद साहित्य म उदात्त तत्वों को अधिक महत्व देता है, तो यथार्थवाद उसकी यथातथ्यता पर, अभिव्यंजनावाद यदि अभिव्यक्ति की शैली पर अधिक बल देता है तो रूपवाद उसकी बाह्य रूपात्मकता पर। इसी प्रकार से अन्य विविध वाद भी साहित्य अथवा काव्य के आन्तरिक अथवा बाह्य रूपों में से किसी न किसी को मुख्यता देते हैं। आधुनिक युग में पाश्चात्य समीक्षा का सैद्धान्तिक अथवा बाह्य रूप निर्धारण मुख्यत इन्हीं वैचारिक प्रणालियों को आधार बना कर हुआ है।

अध्याय ७

भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धान्तिक आधार

समीक्षा के संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मानदंड

भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत जिन शास्त्रीय मानदंडों का विकास हम परम्परागत रूप में देखते हैं वे मुख्यतः संस्कृत साहित्य शास्त्र में मिलते हैं। आधुनिक युग में भी उन का आधार ये ही परम्पराएं रही हैं। जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं प्राचीन संस्कृत समीक्षा में काव्यशास्त्र के विविध अंगों की बहुत सम्यक और अन्वेषणात्मक विवेचना मिलती है। इसलिए संस्कृत में रस अलंकार, रीति वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि सिद्धांतों का जो विश्लेषण मिलता है उनकी पृष्ठभूमि में इनके प्रवर्तकों तथा अनुमोदकों की व्यापक दृष्टि प्रतीत होती है। यहां पर यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि संस्कृत काव्य शास्त्र में उपर्युक्त सिद्धांतों के रूप में समीक्षा के जिन शास्त्रीय मानदंडों का निर्धारण किया गया है, वे प्रधानतः काव्य की आत्मा की खोज के सन्दर्भ में ही हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा के संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मानदंड एक दूसरे के खंडन की वृत्ति का आभास देते हुए भी वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। अतः काव्य की आत्मा के अन्वेषण के भिन्न-भिन्न प्रयत्नों और दृष्टियों के रूप में हम उन्हें मान्य कर सकते हैं।

रस सिद्धांत

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख संप्रदायों में रस सिद्धांत सबसे अधिक विशिष्टता और प्राचीनता रखता है। इस सिद्धांत के प्रवर्तक मुनि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में इसकी सम्यक् व्याख्या की है। इसीलिये नाट्यशास्त्र को संस्कृत रस सिद्धांत की प्रवर्तक कृति के रूप में मान्य किया जाता है। परन्तु नाट्य शास्त्र में भी अनेक पूर्ववर्ती रस मर्मज्ञ आचार्यों का उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उनके भी बहुत समय पूर्व इस सिद्धांत का अस्तित्व था और उसकी एक दीर्घ

परम्परा थी। चूँकि भरत के पूर्ववर्ती विचारकों की रस विषयक धारणाओं का संयोजित रूप उपलब्ध नहीं होता इसलिए भरत मुनि को ही इस सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य मानना संगत प्रतीत होता है। यदि इस सिद्धांत के क्षेत्र में उनकी समस्त देन मौलिक नहीं भी हो फिर भी वह मौलिक नियोजनकर्ता के रूप में तो असाधारण महत्व के अधिकारी हैं ही। रस के विविध पक्षों और अंगों की जितनी विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है।

भरत के समय से परवर्ती युगों तक रस सिद्धांत का जो विकास हुआ है, उसके मूल में भरत का रस निष्पत्ति विषयक सूत्र रहा है। विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की यह स्थापना परवर्ती युगों में रस सिद्धांत की आधार सूत्र रही। स्वयं भरत ने रस का जो सर्वांगीण और सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है उसका आधारभूत सिद्धांत भी यही है। उन्होंने रस के विभिन्न अंगों रस की निष्पत्ति, रस की संख्या रस की विविध दशाओं आदि को परिवेष्टित करते हुए रस के स्वरूप का संपूर्णता के साथ विश्लेषण किया है।

भरत मुनि के द्वारा रस का जो स्वरूप विवेचन प्रस्तुत किया है, वह मुख्यत: नाटक पर आधारित है। भरत ने नाटक के सन्दर्भ में ही रस की व्याख्या की है। उनका विचार है कि नाटक का प्रमुख तत्व रस ही है। आगे चलकर जब काव्य पर इस सिद्धांत का आरोपीकरण हुआ तब जहाँ एक ओर इस सिद्धांत को व्यापक क्षेत्रीय प्रसार एवं मान्यता मिली वहाँ दूसरी ओर इस सिद्धांत का विरोध भी हुआ। अनेक धीर्षस्थ आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा मानना सर्वथा अस्वीकार कर दिया और अन्य तत्वों को इसकी अपेक्षा मुख्यता प्रदान की।

भामह दंडी वामन तथा उद्‌भट जैसे उच्च कोटि के आचार्यों ने दूसरे तत्वों को काव्य में रस तत्व की अपेक्षा अधिक मुख्यता दी। इनमें से प्राय: सभी ने रस को क्षेत्रीय संकोच में बद्ध कर दिया और दूसरे सिद्धांतों का प्रवर्तन और मंडन किया। यद्यपि परवर्ती युगों में रस सिद्धांत के विरोधी अनेक सिद्धांत बने और विकसित हुए परन्तु बहुत से पंडित ऐसे भी हुए जिन्होंने रस सिद्धांत की ही नवीन और ओजपूर्ण व्याख्या की। इस कोटि में आने वाले विद्वानों में भट्ट लोल्लट् तथा शंकुक आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके पश्चात् भी राजशेखर भट्टनायक धनंजय और अभिनव भोज, महिम भट्ट तथा मम्मट आदि आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रस के अंग:—

काव्य की आत्मा रस को मानने वाले आचार्यों में भरत मुख्य हैं। मुनि भरत के परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में विश्वनाथ भोज, जयदेव वाणभट्ट आदि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। रस उस कहते हैं जिसका आस्वादन किया जाय।[1] रस को आनन्द स्वरूप ब्रह्म कहा गया है। रस के चार अंग माने गये हैं —

१ स्थायी भाव २ विभाव, ३ अनुभाव तथा ४ संचारी भाव। रस की उत्पत्ति इन्हीं चारों भावों के संयोग से होती है।

स्थायी भाव रस का मुख्य तत्व है। स्थायी भाव मुख्य भाव को कहते हैं क्योंकि अन्य सभी भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं।[2] दूसरे शब्दों में, स्थायी भाव वह भाव होता है जो अन्य भावों का अपने में संयोजित कर लेता है।[3] जो वस्तु भाव को उत्पन्न करती है उसे विभाव कहा जाता है। विभाव रस को उपजाते हैं। इसके दो भेद होते हैं। (१) आलम्बन विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव। जिसके आश्रय से रस की स्थिति हो उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। यही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होता है। उद्दीपन विभाव रस को उत्तेजित करते हैं। इसलिए इन्हें आलम्बन विभाव का सहायक कहा जाता है।

प्रमुख रस:—

प्रमुख रस नौ माने गये हैं। (१) शृंगार, (२) वीर, (३) करुण, (४) अद्भुत (५) हास्य (६) भयानक (७) वीभत्स (८) रौद्र तथा (९) शान्त। शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन नौ रसों को ही मान्यता प्रदान की गयी है। परवर्ती काल में इन रसों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी और कुछ आचार्य वात्सल्य तथा भक्ति आदि को भी रस मानने लगे। यहाँ यह तथ्य उल्लेख्य है कि मुनि भरत ने अपने "नाट्य

१ रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।
२ रसो वै सः।
३ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः
अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥

शास्त्र" में नाटक में आठ रस ही माने हैं। उन्होंने नाटक का प्रमुख तत्व भी रस को ही माना। काव्य में रसों की संख्या नौ मानी गयी है।

शृंगार रस

शृंगार को सर्वप्रमुख रस माना जाता है।[1] इसे ईश्वर भक्ति का स्वरूप तथा रस राज कहा गया है। शृंगार एक पूर्ण रस है। इसमें अन्य रसों की अपेक्षा अधिक विभावों अनुभावों तथा संचारी भावों का योग रहता है। यहाँ तक कि अन्य सभी रस शृंगार के सहायक भी माने गये हैं। शृंगार का स्थायी भाव रति है। उसके आलंबन नायक नायिका तथा उद्दीपन विभाव सौन्दर्य आकर्षण आदि हैं। शृंगार के अनुभाव सात्विक कायिक तथा मानसिक तीन प्रकार के होते हैं। इसके संचारी भाव अनेक हैं। शृंगार के दो भेद हैं (१) संयोग शृंगार तथा (२) वियोग शृंगार।

संयोग शृंगार—

संयोग शृंगार में स्थायी भाव रति होता है। इसका उत्कर्ष प्रिय के संयोग से अनुभावों तथा संचारी, भावों द्वारा स्पष्ट होता है। संयोग उस शृंगार को कहते हैं जिसमें दर्शन स्पर्श या संलाप द्वारा आनन्द की अभिव्यक्ति हो। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) गोकुल बसे गोकुल के अनूप रूप निरखत
पावत कहूं न छवि सागर को छोर है।
चिन्तामणि केलि के कलानि के विलासनि सों
गोकुल बसे गोकुल के चितवन के चोर हैं।

१ शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः। उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥
(साहित्य दर्पण)

दोऊ जने मंद मुसकानि सुधा बरसत
दोऊ जने छूके मोद मय मुद्र मोर हैं।
सीता जी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये
राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं॥

इसमें राम आलंबन सीता आश्रय, उनकी हंसी उद्दीपन परस्पर दर्शन अनुभाव तथा पारस्परिक प्रेम स्थायी, हर्ष आदि संचारी भाव हैं जिनके योग से शृंगार रस का उत्कर्ष हुआ है।

(क) मुद्र मुख चन्द और चितवैं चकोर दोऊ
चितै चितै चौगुनो चितैबो ललचात हैं।
हांसनि हंसत बिन हांसी बिहंसत मिलै
पातनि सौं पात बात बातन मैं बात हैं।
प्यारे तन प्यारी पेखि पेखि प्यारी पिय तन
पियत न आत नेकहूँ न अनखात हैं।
देखि न थकत देखि देखि न सकत देव
देखिबे की घात देखि देखि ना अघात हैं॥

(ख) लाडू की छबीली छवि छाय चित देखि रही,
जहाँ नहिं जाति कहूं कौन गति भई है।
नवल अकेली हुंसि चितवत ठाढ़ी पासि
मानों सिहि धर गई नेह ओलि भई है।
हित प्रभु नीरज से नीर भरे हरे नैन
बोलत न कछू बैन चित्र सी ह्वै गई है।
नैन छाह नीचे कप परी चक प्रेम कूप
बाकी गति जाने सोई जिहि जात भई है॥

इसमें कृष्ण आलंबन राधा आश्रय सौन्दर्य उद्दीपन हंसना आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भावों से मिलकर शृंगार रस का उत्कर्ष हुआ है।

—

वियोग शृंगार:—

इसे विप्रलंभ शृंगार भी कहते हैं। वियोग शृंगार की चार स्थितियाँ होती हैं (१) पूर्व राग (२) मान (३) प्रवास तथा (४) करुण।

पूर्वराग—

प्रिय से भेंट होने के पूर्व उसके प्रत्यक्ष दर्शन चित्र दर्शन अथवा स्वप्न दर्शन आदि के कारण उत्पन्न प्रेम को पूर्व राग कहते हैं उदाहरणार्थ—

चाहन चुरायो तो सों को लगि चुरायो पैया
छाँयो हो कह्यो री बीर सब सुन काम है।
साँवरो सो ढोटा एक ठाढ़ो तीर जमुना के
मो तन निहारयो बीर भरी अँखियान है।
वा दिन से मेरी ही दसा को कुछ पूछो मति
चाहे जो जितायो मोहि चाहि रूप धाम है।
हा हा करि पाँय परौं राखो मोहि जाय घर
पनघट जान दे री पन घट जान है।।

इसमें नायिका की अधीरता से उसके नायक से मिलने की उत्कंठा से पूर्व राग व्यक्त होता है।

मान—

जहाँ पर प्रणय सम्बन्ध में किसी कारण से असन्तोष अथवा रोष हो वहाँ पर मान कहा जाता है। इसके तीन भेद माने गये हैं (१) लघु मान (२) मध्यम मान तथा (३) गुरु मान। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

मानिनि अरुन पूरब दिसा बहलि सगरि निसा गगन मलिन भेल चन्दा।
मुदि गेलि कुमुदिनि तइओ तोहर धनि मूदल मुख अरविन्दा।

चोंद बदन कुवलय दुहु लोचन अधर मधुर निरमाने।
सागर सरीर कुसमे तुम सिरिजल किए दहु हृदय परवाने।
असकति करहु कंकन नहि पर हहु हार हृदय भेल भारे।
गिरि सम गुरुअ मान नहि मुकति अपुरुब तुअ बेबहारे।
अवगुन परिहरि हेरहु हरखि धनि मानक अवध बिहाने।
राजा सिव सिंहु रूप नरायन कवि विद्यापति भाने॥

प्रवास—

नायक के विदेश गमन के कारण होने वाली विरह पीड़ा की स्थिति प्रवास विरह कही जाती है। प्रवास के तीन कारण होते हैं (१) शाम (२) भय तथा (३) कार्य। इनमें से भी तृतीय के तीन भेद होते हैं—(१) भूत (२) भविष्य गत (३) वर्तमान। प्रवास का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

आगी न बुझाई लागी आगि है मनोभव की
लोक तीनों हियो हेरि हेरि हहरात है।
वारि पर वारे धन जात वारि वारि वारि
वारिद के बाहुब अनल परसत है।
परिन ते भाई फारि भूली नभ जात कहै
'देव' माहि विघन जगत यों बरत है।
तारे हिम पारे ऐसे चमकत चहू ओर
बैरी बिधु मंडल भभूको सो परत है।

करुण—

वियोग की अन्तिम स्थिति करुण होती है। जब प्रेमी या प्रेमिका से मिलने की आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है परन्तु रति का भाव नष्ट नहीं होता वहाँ पर करुण विरह होता है। करुण विरह का उदाहरण इस प्रकार है—

कालिय काल महा विष ज्वाल जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिनु।
ऊरध के अध के उबरै नहीं जाकी बयारि बहै तरु ज्यों तिनु।

ता पानि की पग फाँसिन में फँसि जाय फँस्यो, उकस्यो न अजौं छिनु।
हा ब्रजनाथ सनाथ करौ, हम होती हैं नाथ अनाथ तुम्हें बिनु॥

वियोग शृंगार की दशाएं —

वियोग शृंगार की दस दशाएं मानी गयी हैं (१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण (४) गुण कथन (५) उद्वेग (६) उन्माद, (७) प्रलाप (८) व्याधि, (९) जड़ता तथा (१०) मरण।

अभिलाषा—

प्रेमी या प्रेमिका से मिलने की कामना अभिलाषा कही जाती है। यह वियोग शृंगार की पहली दशा होती है। उसका उदाहरण इस प्रकार है—

मूरति जो मन मोहन की मन मोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
'देव' गोपाल को नाम सुनै सियरात सुधा छतिया छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सके नहिं नैनन लाज घटा घिरकी सी।

चिन्ता—

प्रेमी या प्रेमिका के विरह में उसके मिलन की कामना एवं उसकी कुशलता की आशंका चिन्ता कही जाती है। यह वियोग शृंगार की दूसरी दशा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कै पै अकेली महावन बीच जहाँ 'मतिराम' अकेलोई आवै
अपने आनन चंद की चाँदनी सों पहिलै तन ताप बुझावै।
फूल कलिन्दी के कुंजन मंजुल मीठे अमोल से बोल सुनावै।
ज्यों हँसि हेरि लियो हियरो हरि, त्यों हँसि के हियरे हरि लावै॥

स्मरण —

इसमें प्रेमी या प्रेमिका के वियोग की स्थिति में निरंतर उसका ही ध्यान रहता है। यह वियोग शृंगार की तीसरी दशा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अंग दुख न रतन करै उर ध्यान धरै विरह ज्वर जागति
नासिका मग की और लिये अब मुद्रित लोचन को रस मागति।
आसन बाँधि उसास भरै अब राधिका 'देव' कहा अवरागति।
भूलिगो भोग कहूँ नहिं लोग वियोग कियौं यह योगहि लागति॥

गुण कथन —

इसमें प्रेमी या प्रेमिका के वियोग की स्थिति में उसके गुणों का कथन किया जाता है। यह वियोग शृंगार की चौथी दशा है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मोर पखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि में छबि छाई।
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

उद्वेग —

इसमें प्रिय के वियोग में प्रत्येक वस्तु में भी उचाटने लगता है। यह वियोग शृंगार की पाँचवी दशा है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

पंकज पटीर देखे हूलो दुख पीर होत
सोर हू उसीरनि ते पीर चीर हार की।
गंधा सी मसाल भयी तथा सो लपट लगु,
जानि हो लपट लागे हार घनसार को।

बालम सुजान छिन छिन सुरति जाति
ससिम बिचारि तयो रीति उपचार की ।
मन की मरुरे मर रही मन मारि मारि
एक हो मुरारि बिनु मारी मरे मार की ॥

प्रलाप:—

जब वियोग की अतिशयता में पागल प्रलाप करने लग, तब यह स्थिति होती है। यह वियोग की छठवीं दशा कहलाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कान्ह भई वृषभानु सुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी ।
जाने को देव बिकानि सी डोले लगे गुरु लोगन देख अनैसी ।
ज्यों ज्यों सखी बहराबति बातन त्यों त्यों बके वह बावरी ऐसी ।
राधिका प्यारी हमारी सो तू कहि काल्हि की बेनु बजाई मैं कैसी ।

उन्माद:—

प्रलाप की स्थिति में जो उन्माद जन्म से होता है उसमें यह स्थिति होती है। यह वियोग की सातवीं दशा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है :—

लाल लाल कहति लिया पै बुधि बुधि जाति
पी की सुधि आये जी की सुधि खोइ खोइ देति ।
घरी घरी बार लगि घरो घरी आँसिन ते
बक बड़े अंसुवा हिये उमोग भोय देति ।
मोह भरी मूरति बिमोह भरी मोहि मोहि
छोह भरी छिति पै छकी सी रोइ रोइ देति ।
थाभि जिन पालम बिकल बैठी बार बार
मधु में बिरह बिष बीज बोइ बोइ देति ॥

व्याधि –

जब वियोग की अधिकता में निराशा के कारण व्याधि के लक्षण मालूम होने

लगते हैं, तब यह स्थिति होती है। यह वियोग शृंगार की आठवीं दशा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

फैलत सारी देह में सघन अंगनि अंग लागि।
हौ को सी धधकत हिया बिन धुआँ की आगि।

जड़ता—

पूर्ण रूप से निराश हो जाने पर वियोग में जड़ता की स्थिति आती है। यह वियोग शृंगार की नवीं दशा कहलाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

तू देहि चितवत चकित मृगी सी।
कहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी।
तन सुधि कछु उघरति री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतर न देत जकी सी बैठी मद पीया कै रैन जगी सी।
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमगी सी।
भूल बैखरी मृग छौनी ज्यों निज दल तजि कहुं दूर भगी सी।
करति न लाज हार घरबर की कुल मरजादा जाति डगी सी।
हरिचन्द ऐसिहि उरझी तो क्यों नहिं डोलत संग लगी सी॥

मरण—

यह वियोग शृंगार की अन्तिम दशा कहलाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

विरह विपति दिन परत ही तजे सुखनि सब अंग।
रहि अब लौं दुखऊ हिये चला चली जिय संग॥

वीर रस

इसका स्थायी भाव उत्साह है। इसके आलम्बन शत्रु, दीन आदि हैं। इसके उद्दीपन विभाव शत्रु गर्जना आदि तथा अनुभाव भुजाओं का संचालन सैन्य प्रयाण

आदि तथा संचारी भाव गर्व उग्रता आदि हैं। वीर रस के चार भेद होते हैं (१) युद्ध वीर, (२) दानवीर (३) दयावीर तथा (४) धर्मवीर।

युद्धवीर—

इसके आलंबन शत्रु, उद्दीपन शत्रु के कार्य अनुभाव गर्वोक्ति, तथा संचारी भाव हर्ष आवेग आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

देखत ऊंचाई उतरत पाग सूधी राह
ओसहू में चढ़ि ते वे साहस निकेत हैं।
सिवा जी हुकुम तेरो पाय पैदलन,
सलहेरि परनालो ते वे जीते जसुखेत हैं।
सावन भादों की भारी कहू की अंध्यारी चढ़ि
दुग्ग पर जात मावली दल सचेत हैं।
भूषन भनत ताकी बात मैं विचारी तेरे
परताप की उजियारी पटु लेत हैं।

दानवीर—

इसके आलंबन याचक, उद्दीपन दान अनुभाव याचक का सम्मान तथा संचारी भाव हर्ष गर्व आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

पीरी पीरी होते तुम देत हो बंगाय हमें,
सुबरन हम सों परिखि करि लेत हौ।
एक पल ही में लाख रुखन सौं लेत लोग
तुम राजा ह्वै कै लाख दैबे को सचेत हौ।
भूषन भनत महाराज सिवराज बड़े
दानी दुनी ऊपर कहाए कौने हेत हौ।
रीझि हसि हाथी हमें सब कोऊ देत कहा
रीझि हसि हाथी एक तुम ही पै देत हौ।

दयावीर—

इसके आलंबन दया पात्र उद्दीपन उसकी दीन दशा अनुभाव सांत्वना संचारी भाव धृति, मति आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

श्री सरजा सिव तो जस सेत सों होत है म्लेच्छन के मुँह कारे।
भूषन तेरे ह्वै रतते प्रताप समेत सबै कुनरा नृप सारे।
साहितनै तुम कोप कृसानु ते बैरि बरे सब पानि पधारे।
एक अचम्भव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे॥

धर्मवीर—

इसके आलम्बन धर्म ग्रन्थ आदि, उद्दीपन धर्म फल आदि अनुभाव धर्म व्यवहार आदि तथा संचारी भाव धृति मति मोह आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

वेचि देह दारा सुअन होइ दास हू मन्द।
रखिहौं निज बचि सत्य करि अभिमानी हरिचन्द॥

करुण रस

भवभूति के अनुसार करुण ही एक रस है अन्य रस तो भेद के कारण ही हैं।[1] करुण रस में रसानुभूति बहुत अधिक होती है। यह बहुत कोमल रस माना जाता है। इसके पाँच भेद माने गये हैं —(१) साधारण करुण (२) अति करुण (३) महा करुण, (४) लघु करुण तथा (५) सुख करुण। परन्तु इन भेदों को करुण की मात्रा के ही भेद कहा जा सकता है। करुण रस जहाँ पर होता है जहाँ पर किसी प्रकार से शोक के भाव की अभिव्यक्ति होती हो। इसके आलंबन विभाव प्रिय वियोग आदि, उद्दीपन विभाव प्रिय स्मरण आदि अनुभाव रुदन मूर्छा प्रलाप आदि संचारी भाव व्याधि

१ एको रसः करुण एव निमित्त भेदा—
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुदतरंगमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

ग्लानि, चिन्ता, विषाद, उन्माद आदि तथा स्थायी भाव शोक होता है। करुण रस मुख्यतः चार प्रकार का होता है— (१) प्रिय विनाश जनित, (२) प्रिय वियोग जनित, (३) धन नाश जनित तथा (४) पराभव जनित। करुण रस के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

(क) नीर भरयो दृग हेरि मुख निरखि नीर भरयो सुखबीर महा है।
पूछत पीर भरे तृण नीर सु पूछे समीर करै की छराहै।
एके संयोगको नीर सो से सिय छीर सों जै छिरके करि छाहैं।
भौंसत नीर महीरुह की बर नीर जकी बर नीर की बाहैं।

(ख) बैठी पति सूरत सकल निसि जोत यही
नयन समूह सजकत जग न्यारो सो।
बेई 'देव' दीपक समीप परि रैके यही,
दूग्यो करि देख्यो चेत धूम्यो की उजियारो सो।
वेई धन वामन विलोके सीस महल कनक
मनि मोती कछु कायल न प्यारो सो।
वाही जन मुखी की सुमंद मुस्क्यान बिनु,
जानि परयो सब जगहु हाय अँधियारो सो।

(ग) माघ की भूमि सुनाम को भूपन राज सिरी मिथि साथ विलासु।
आइए मेरी गृह फूल दीपक पाय प्रतिभाति प्रभा प्रकासु।
लंक ते आइ निसंक लिये सुख सर्वसु आरति कौसिला सासु।
पायन पै ते उठाई लिये हिय लाय सुलाय के पोंछति आँसु।।

अद्भुत रस

अद्भुत रस को आचार्य धर्मदत्त ने मूल रस माना है। उनके विचार से अद्भुत रस का सार चमत्कार है और चमत्कार का सार अद्भुत रस।[1] चमत्कार की प्रतिभा

१ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।

का चिन्ह भी कहा गया है। अद्भुत चार प्रकार के माने गये हैं (१) दृष्ट, (२) श्रुत, (३) सकीर्तित तथा (४) अनुमित। अद्भुत रस के आलम्बन विभाव अद्भुत वस्तु आदि, उद्दीपन विभाव उस वस्तु की विलक्षणता आदि अनुभाव रोमांच स्तम्भ आदि, संचारी भाव, आवेग, उत्सुकता आदि तथा स्थायी भाव आश्चर्य होता है। अद्भुत रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधारस, मानौ अधरन को बड़ भाग॥

(ख) देख री देख अद्भुत रीति।
कमल रिपु सौं रिपु कियो, हित छाँड़ि भई अनीति।
करि कमठ कपोत कोकिल कियो हिय हिय वास।
धनुष ऊपर तिलक रेखा भयो न रिपु को नास।
जलज माल सुठार ऊपर निरखि सुचित अनंत।
सूर स्याम निहारि यह छबि भई मनसा पंथ॥

(ग) गगन अगीले बीच देव के बरत फूल
मृग मद भी के मिस प्यास को बुझाई है।
कल्पना पुरी को ध्यान गूंगो अब पंग एक
दौरे संग बौरे बोल करत हुंकाई है।
हुना के पड़े में पुन बुद्धि के अर्थ जाकी
निधि बाटें चिमन की देत सब ध्याई है।
माधी पुर भासे देखो प्रात लौं अपाय सास
भाँति भाँति मढ़े विभाति बाज पाई है।

हास्य रस

मुनि भरत ने हास्य की उत्पत्ति शृंगार से मानी है।[1] हास्य एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसके कई प्रकार हैं जैसे (१) हास्य, (२) वाक् चातुरी, (३) व्यंग्य तथा (४) वक्रोक्ति। इनमें से भी अन्तिम के दो (१) काकु तथा (२) श्लेष भेद हैं। हास्य रस के आलम्बन विभाव विचित्र वेष भूषा व्यंग्य वचन आदि, उद्दीपन विभाव विचित्र चेष्टाएँ अनुभाव मुख फैलना आदि संचारी भाव हर्ष, चपलता रोमांच निर्लज्जता आदि तथा स्थायी भाव हास होता है। हास्य मुख्यतः दो तरह का होता है (१) आत्मस्थ तथा (२) परस्थ। यों इसके छै भेद बताये गये हैं—(१) स्मित, (२) हसित (३) विहसित (४) अवहसित (५) अपहसित तथा (६) अतिहसित। हास्य रस के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) जगत के कारन करन चारो वेदन के
कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरि कै।
पोखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के
समुद्र में जाय सोये सेज सेस करि के।
मदन जरायो और संहारयो दृष्टि ही तो सृष्टि
बसे हैं पहारवेऊ भाजिहरवरि कै।
विधि हरि हर अरु इनमें न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवै खटमलन सौं डरि कै।

(ख) गोपी गुपाल कों बालिका के वृषभानु के भौन सुभाइ गईं।
अंखियाँ बिलोकि बिलोकि तहाँ [illegible] पास सिधाय गईं।
[illegible] सों [illegible] कंठ लगाइ गईं।
[illegible] मुसुकाइ गईं।

१. शृंगार

(घ) म्यान सों कमलदान करते निकारि तामें,
स्याही बल बिष में बुझाई बार बार है।
धार युक्ति जौहर जगावत सनेह संग
अरिन अनेक तामें सिकिल सुढार है।
'जुगल किशोर' चलें कागद धरा पे धाय
पार ना बचा को नेकु लागे बार पार है।
पाइ के गंवार मांई सास करै साहस में
मुनसी कलाई की कलम तरवार है।

भयानक रस

भयानक रस किसी भयोत्पादक वस्तु के दर्शन आदि से उत्पन्न होकर विविध भाव विभाव अनुभाव तथा संचारी भावों से उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसके आलंबन विभाव हिंसक प्राणी, बलवान शत्रु, भूत प्रेत आदि का विचार, उद्दीपन विभाव हिंसक जीवों की चेष्टाए, शत्रु की भयानक चेष्टाएँ अनुभाव रोमांच कम्पन आदि, संचारी भाव शंका, चिन्ता, ग्लानि त्रास आदि तथा स्थायी भाव भय होता है। भयानक रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) कोल कच्छ दबे शेष फैलत फनी के फुप
धसि गई धरा धराधर डर धर के।
हर के चढ़े न भानु भटके तुरंग चहू
भाजि चले नायक बिरंचि हरि हर के।
शम्भित गगन दस दिसि कम्पित भुवन हुत
कम्पित कुबेर पुर धेंसे रघुबर के।
खसी देव आसन सकाने पाक सासन,
न कोऊ थिर आसन सरासन के करके॥

(ख) अति गर्व गनत न सगुन, असगुन स्रवहिं आयुध हाथ ते।
भट गिरहिं रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते।

सोणितमु बीच कराल कर रव स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं सकल परम भयावने॥

(ग) छूटत हुलास आमखास एक संग छूटे
हरम सरम एक संग बिन ढंग ही।
नैनन को नीर धीर छूटे एक संग छूटे
सुख रुचि मुख रुचि त्यों ही एक रंग ही।
भूषन बखानै सिवराज मरदाने तेरी
धाक बिललाने न गहत बल अंग ही।
दच्छिन को सूबा पाइ दिल्ली के अमीर तजै
उत्तर की आसा जीव आसा एक संग ही।

बीभत्स रस

बीभत्स रस की गणना अप्रधान रसों में की जाती है। इसके आलंबन विभाव श्मशान एवं घृण्य वस्तु आदि उद्दीपन विभाव, मांस भक्षण आदि संचारी भाव आवेग उन्माद, ग्लानि आदि तथा स्थायी भाव जुगुप्सा होता है। बीभत्स रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(क) आँती के तार के तंबल कंगन हाथ में बाँध पिसाच की बाला।
कान में हाड़न के झुमका पहिरे उर में हियरन की माला।
लोहू के कीचड़ सों उबटे सब अंग बनाये सरूप कराला।
पीतम के संग हाड़ के चूरे की मय पिये खपरीन के प्याला।

(ख) बरवा के घरे मरे मृतकहु खात न
घिनात करै मांसनि के कौर को।
कीचन बराह को बदर कादि चूसति है
पावै दुर्गन्ध सो सुगन्ध जैसे और को।
देखत सुनत घृणि करत हु आवै घिन
साधै सब अंगनि घिनावनै ही और को।

मति के कठोर माभि चरम को तोर करै,
काम भी अघोर करैं परम अधीर को ।

(घ) सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनन्द उर धारत ।
गीध जाँघ को खोदि कै मांस उपारत ।
स्वान आंगुरिन काटि काटि कै खात विदारत ।
बहु चील नोच लै जात तुच मोद मढ्यो सबको हियो ।
मनु ब्रह्म भोज जजिमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो ।

रौद्र रस

रौद्र रस मूलतः प्रतिशोध जनित क्रोध की भावना से उत्पन्न होता है । रौद्र रस के आलम्बन प्रतिपक्षी गण, उद्दीपन, प्रतिपक्षीगण के अपमान जनक कार्य तथा वचन, अनुभाव चेहरे पर क्रोध सूचक चिन्हों का आना, संचारी भाव उग्रता, आवेग, चंचलता आदि तथा स्थायी भाव क्रोध है । रौद्र रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) मातु पितहिं जनि सोच बस करसि महीप किसोर ।
गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ।

(ख) भीषम भयानक पुकार्यो रन भूमि आनि
छाई छिति छत्रिन की गीति उठि जायगी ।
कहै 'रत्नाकर' रुधिर सों रुंधैगी धरा
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जायगी ।
जीति उठि जायगी अजीत पांडु पूतन की
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी ।
कै तौ प्रीति रीति की सुनीति उठि जायगी कै,
आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी ।

(ग) विनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होय न प्रीति ॥

(घ) बालक बोलि बधौं नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानसि मोही।
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्री कुल द्रोही।
भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्हीं। बिपुल बार महिदेवन दीन्हीं।
सहस बाहु भुज छेदन हारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा।

शान्त रस

मुनि भरत ने शान्त को रस नहीं माना है। शान्त रस में उद्वेग आदि का पूर्ण अभाव रहता है। इसका आविर्भाव वैराग्य का उत्कर्ष होने पर होता है। इसके आलम्बन संसार की असारता तथा आध्यात्मिक वृत्तियों में रुचि, उद्दीपन सत्संग, शास्त्र पारायण, अनुभाव, सांसारिक कार्यों में निर्लिप्त होना संचारी भाव धृति उद्वेग ग्लानि दैन्य आदि तथा स्थायी भाव निर्वेद है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

(क) जानि परयो मोको जग असत अखिल यह
भ्रम आदि जाहु को न सर्वथा रहत है।
या तें परिवार व्यवहार लोकाचारादिक त्याग,
करि सब की विरक्ति रह्यो मन है।
ग्वाल कवि कहै मोह जाल में रह्यो न मेरो
क्योंकि काहु के न संग गयो तनधन है।
दोनों में विचार एक ईश्वर ही सार
नित्य अलख अपरपार चिदानंदघन है॥

(ख) मेरो मन हरि हठ न तजै
निस दिन नाथ देउ सिख बहु विधि करत सुभाव निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।

लोलुप भ्रमत गृह पसु ज्यों, जहँ तहँ सिर पद त्रान बजै ।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ।।
हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै ।
'तुलसीदास' बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ।।

(घ) अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो ।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूँकि मर्यो ।
हरि सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृण सूँघि मर्यो ।
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्यो ।
जैसे गज लखि स्फटिक शिला में दसननि जाय अर्यो ।
मर्कट मूठि छाँड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यो ।
'सूरदास' नलिनी को सुवटा कहि कौने पकर्यो ।।

वात्सल्य रस

वात्सल्य रस को अनेक आचार्यों ने नौ रसों में स्थान न देकर दसवां रस माना है। कुछ ने तो इसे रस तक न मानकर मात्र भाव ही माना है। जहाँ पर स्नेह भावना या ममता का आधिक्य हो वहाँ पर वात्सल्य होता है। इसके आलम्बन विभाव पुत्र पुत्री आदि, उद्दीपन विभाव उनकी बाल सरल क्रीड़ाएं, संचारी भाव एवं गर्व आदि, तथा स्थायी भाव स्नेह होता है। वात्सल्य रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) बर दंत की पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ।
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।
निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाऊँ लला इन बोलन की ।

(ख) सीस जटे फूल ही पग पैजनि मोतिन माल हिये रचि रो है ।
कान्ह कुमार लखी मुसिकान की दूधे दतियाँ बतियाँ कहि सो है ।
मात जसोमति गोद लिए बढ़ि मोद समातु नहीं मुख जो है ।
नन्द को नन्द अनन्द को कन्द निहार री मोहन मो मन मो है ।।

(ग) चंद खिलौना लैहौं मैया मेरी चंद खिलौना लैहौं।
धौरी को पय पान न करिहौं बेनी सिर न गुहैहौं।
मोतिन माल न धरिहौं सिर पर झुंगली कंठ न लैहौं।
जैहौं लोट अभी धरनी पर तेरी गोद न ऐहौं।
लाल कहैहौं नन्द बबा को तेरो सुत न कहैहौं।
कान लाय कछु कहत यशोदा दाउहिं नाहिं सुनैहौं।
चन्दा हू ते अति सुन्दर तोहिं नवल दुलैया ब्याहौं।
तेरी सौंह मेरी सुन मैया अबहीं ब्याहन जैहौं।
'सूरदास' सब सखा बराती नूतन मंगल गैहौं।

भक्ति रस

भक्ति रस की गणना भी प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने नौ रसों के अन्तर्गत नहीं की और इसे प्रधान रसों में नहीं माना। ईश्वर में अनुरक्ति भावना की अतिशयता से भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है। भक्ति रस के आलम्बन विभाव ईश्वर या ईश्वर के अवतार, उद्दीपन विभाव ईश्वर या ईश्वर के अवतार के गुण एवं कार्य संचारी भाव हर्ष निर्वेद, अनुभाव रोमांच तथा स्थायी भाव ईश्वर के प्रति अनुराग होता है। भक्ति रस के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

(क) मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
साधुन संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गयी जानै सब कोई।
अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई।
'मीरा' की लगन लगी होनी हो सो होई॥

(ख) हारें नैन नीर ना सरीरे साँस सकित सो
चाहि जोहि जमला जताएयो कर आरती।
कहै रतनाकर मुसकि जय साहस कै मार्‍यौ
हरे-हेरि नाम भारत अपार तै।

तन रहिबे को सुख सब नहि जैहैं हाय,
एक बूंद आँसू में तिहारे को बिचारते।
एक ही कहा है कोटि करुनानिधान प्रान
वारते सर्वस पै न तुमको पुकारतें ।।

(ग) मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ॥

संक्षेप में रस सिद्धांत की एक पुष्ट परम्परा है। यही भामह लोल्लट उद्भट आदि ने किसी न किसी रूप में रस को मान्यता दी है। अन्य सिद्धांतों के अनुगामियों में वामन तथा कुन्तक आदि ने भी रस के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है। संस्कृत में रस के इसी सर्वाधिक महत्व की स्थापना के कारण परवर्ती आचार्यों ने भी पूर्ववर्ती मन्तव्यों को ही मान्य करते हुए उनसे प्रेरणा ग्रहण की।[1]

रस सिद्धांत के आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तन के पश्चात आचार्य आनन्द वर्द्धन ने इसकी स्वरूप गत सम्पूर्णता प्रतिपादित की है।[2] आनन्द वर्द्धन ने रस की विशेष

1 *Neither the Dhvanikar nor Anandvardhan could not at least form the stand point of theoritical consistancy ex plicitly make this suggestion of Rasa the exculsive end of poetry in so much as the unexpressed may in some cases be matter or an imaginative mood although it can be shown that their views practically trained to such a proposition and probably inspire later theorist to work out the thesis that the Rasa alone is the essence of peotry (Some concepts of Alankar Shashtra Dr Raghavan)*

2 *The concept of artistic culture in ancient India arrived at certian will formulated doctrine of Rasa and it was formulated by Anandvardhan. (Highways and By ways of Literary Criticism in Sanskrit K. Swami)*

महत्ता प्रबन्ध काव्य में स्वीकार की है। उनका विचार है कि महाकाव्य रस प्रधान होता है इसलिए इसमें रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए। उन्होंने महाकाव्यों के अन्य प्रकारों की अपेक्षा रस प्रधान महाकाव्य को ही श्रेष्ठता दी है। इसके अतिरिक्त नाटक में भी पूर्ण रस योजना पर उन्होंने गौरव दिया है।

इसी प्रकार से अभिनवगुप्त ने भरत सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के विचारों का भी परीक्षण किया है। इस संदर्भ में उन्होंने भट्ट लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक आदि के मतों का भी परीक्षण किया है। उन्होंने रस की प्रतीति को ही रस की अन्तिम अवस्था माना है। भारतीय साहित्य शास्त्र में संस्कृत रस सिद्धांत की व्यापक क्षेत्रीय मान्यता इस कारण भी है क्योंकि इस सिद्धांत काव्य में कला तथा भाव पक्षों के संतुलन और संयोजन पर गौरव दिया है।

अलंकार सिद्धान्त

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख संप्रदायों के अलंकार सिद्धांत भी प्रमुखता रखता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में अलंकार शास्त्र शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। अलंकार सिद्धांत की दीर्घ साम्प्रदायिक परम्परा के अर्थ में तो इसका प्रयोग हुआ ही है, परन्तु विविध संप्रदायों की संयुक्त रूप से भी अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत गणित कर लिया जाता है। मूल रूप से अलंकार संप्रदाय का यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण किया जाए तो भरत मुनि से लेकर आज तक के विविध संस्कृत रीतिकालीन तथा हिन्दी आचार्य इस संप्रदाय के समर्थकों के रूप में मिलते हैं।

संस्कृत आचार्यों में मुख्यतः भरत भामह दंडी तथा उद्भट आदि ने अलंकार शास्त्र का सम्यक विवेचन किया है और इसके अनेक भेद-विभेद किए हैं। यद्यपि सर्व प्रथम अलंकार विवेचन मुनि भरत ने किया परन्तु वह अलंकार वादी नहीं थे। इसी प्रकार से मम्मट जैसे आचार्यों ने अलंकारों का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया परन्तु उनकी गणना भी अलंकारवादियों में नहीं की जाती है। इसके विपरीत अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह माने जाते हैं जिनका अलंकार विभाजन अधिक बहुभेदी नहीं है और न ही बहुव्यापक ही है।

अलंकार संप्रदाय का सम्बन्ध समीक्षात्मक दृष्टिकोण से मुख्यतः काव्य के बहिरंग

से है। इसलिए अलंकार सम्प्रदाय भारतीय समीक्षा शास्त्र का एक विशिष्ट सिद्धान्त है जिसकी परम्परा का प्रसार वर्तमान युग तक मिलता है। अलंकार शास्त्र की परम्परा के विकास के साथ ही साथ अलंकारों की संख्या में भी अत्यन्त वृद्धि हो गई है एवम् नवीन अलंकारों की रचना की जा रही है।[1]

मुनि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का वर्णन करते हुए केवल चार अलंकार स्वीकृत किये हैं। ये चारों उपमा, रूपक दीपक तथा यमक हैं। अलंकार सिद्धांत के अनुसार अलंकार ही कविता की श्रेष्ठता का मुख्य साधन है। अलंकार का रूप वैचित्र्यम् अलंकारः है। अलंकार सिद्धांत के सर्व प्रथम प्रवर्तक भामह माने जाते हैं जिनका समय सातवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। उन्होंने भरत मुनि की स्थापनाओं के विपरीत रस को अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है।

भामह ने भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में गिनाये हुए उपमा रूपक दीपक तथा यमक अलंकारों का नाम लिया तथा आक्षेप, अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक तथा विभावना आदि नये अलंकारों के लक्षण भी दिये। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अलंकारों के लक्षण देते हुए उनके महत्व का निर्देशन किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में भामह ने काव्य का उद्देश्य कवि के गुण काव्य की परिभाषा काव्य का वर्गीकरण आदि दूसरे परिच्छेद में प्रसाद माधुर्य तथा ओज गुण का विवेचन तीसरे परिच्छेद में अलंकार वर्णन चौथ और पाँचवे परिच्छेदों में काव्य दोष तथा छठें परिच्छेद में कवि शिक्षा की चर्चा की है।[2]

1 *Indeed the multiplication of limitless varieties of poetic figures based on minute differences as well as the making of a large number of sub-varieties of each figure went on through the whole course of the history of discipline and down to the latest time we find traces of new and ever new poetic figures (S K Dey History of Sanskrit Poetics part II p 87)*

२ 'भामह का काव्यालंकार' सं० दैवज्ञतातपाद शिरोमणि।

सातवीं शताब्दी के ही अन्तिम चतुर्थांश में दंडी हुए। दंडी ने भी अलंकार को ही काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है। अपने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ में दंडी ने लिखा है 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'। प्रो० काणे ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि दंडी कृत 'काव्यादर्श' में अलंकार और रीति दोनों का विवेचन होते हुए भी रीति का प्राधान्य है।[1] दंडी ने रस को अलंकार सिद्धांत के अन्तर्गत माना है। यही नहीं दंडी ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वीकृत आठों रसों की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की है।

दंडी के पश्चात उद्भट ने अपने 'अलंकारसार संग्रह' का प्रणयन किया। उद्भट का यह ग्रन्थ उनकी अमर कीर्ति का कारण इसलिए तो बना ही कि इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य शास्त्रियों की वैचारिक परम्परा का निर्वाह करते हुए अलंकार शास्त्र के रूप निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योग दिया वरन् इसलिए भी बना कि इसमें किसी सीमा तक इस शास्त्रीय विषय को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न हुआ है।

अलंकार विभाजन

साहित्य या काव्य के गद्य पद्य आदि रूपों में अलंकारों का प्रयोग होता है। अलंकार भाषा या वाणी को विभूषित करते हैं। सामान्य रूप से अलंकारों के दो भेद किये जाते हैं शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। क्योंकि काव्य रूपी शरीर पर शब्द और अर्थ सभी अलंकार ही शोभित होते हैं। शब्दालंकार उस स्थल पर होता है जहाँ पर काव्य शब्द प्रधान रहता है। इसी प्रकार जिस स्थान पर अर्थ पर विशेष गौरव दिया जाता है और जहाँ पर काव्य अर्थ प्रधान रहता है वहाँ अर्थालंकार होता है।

1 *Dandis Kavyadarsha is to some extent an exponent of the Riti school of Poetics and partly of Alankar School. (Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane p XXI)*

शब्दालंकार

किसी काव्य में शब्दालंकार उस स्थल पर माना जाता है, जहाँ विशिष्ट शब्दों को प्रयुक्त करके चमत्कारिकता लायी जाती है। यह चमत्कारिकता उन्हीं विशिष्ट शब्दों के प्रयोग पर आधारित होती है और उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को उनके स्थान पर रख देने से उसका लोप हो जाता है। इस प्रकार से यह चमत्कारिकता मूलतः शब्द चयन और शब्द योजना पर ही निर्भर करती है। शब्दालंकारों के निम्नलिखित प्रमुख भेद होते हैं—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र पुनरुक्ति प्रकाश, पुनरुक्ति वदाभास, प्रहेलिका वीप्सा तथा भाषा समक।

अनुप्रास—

जहाँ पर व्यंजनों की समता हो वहाँ पर अनुप्रास अलंकार होता है भले ही उनके स्वरों में असमानता हो। इसके छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास लाटानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास नामक छः भेद होते हैं।[1]

छेकानुप्रास—

जहाँ एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति एक या अनेक बार हो, वहाँ पर छेकानुप्रास होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

(क) जन रंजन भंजन दनुज मनुज रूप सुर भूप।
विश्व बदर इव धृत उदर जोवत सोवत सूप॥

१ व्यंजन सम जब स्वर असम, अनुप्रासालंकार।
छेक, वृत्ति श्रुति लाट अरु अंत्य पाँच विस्तार॥

२ वर्ण अनेक कि एक की आवृत्ति एके बार।
सो छेकानुप्रास है आदि अंत निरधार॥

(ख) कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन॥

वृत्यानुप्रास—

जहाँ पर आदि या अन्त में एक या अनेक वर्णों की आवृत्ति अनेक बार वृत्तियों के अनुकूल हो, वहाँ वृत्यानुप्रास होता है।[1] वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) उपनागरिका (२) परुषा और (३) कोमला। इन्हें वैदर्भी गौड़ी तथा पांचालिका भी कहा जाता है।। इनमें से प्रथम अर्थात् उपनागरिका वृत्ति में माधुर्यगुण सूचक वर्णों तथा सानुनासिक वर्णों की आवृत्ति होती है द्वितीय अर्थात् परुषा वृत्ति में ट वर्ग द्वित वर्ण ष और श आदि वर्णों, लम्बे समास तथा संयुक्त वर्णों की आवृत्ति होती है तथा तृतीय अर्थात् कोमला वृत्ति में य, र, ल व, स ह तथा छोटे समास और समास रहित वर्णों की आवृत्ति होती है। इनमें से उपनागरिका वृत्ति में शृंगार करुण तथा हास्य रस और बीभत्स परुषा वृत्ति में रौद्र वीर तथा भयानक रस और कोमला वृत्ति में अद्भुत रसों की कविता की रचना के अधिक उपयुक्त होती है। उपर्युक्त तीनों वृत्तियों के उदाहरण इस प्रकार है—

उपनागरिका वृत्ति—

(क) रघुनंद आनंद कंद कौशल चंद दसरथनंदनं।

(ख) रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनुहू बिना खंजनु गंजनु नैन॥

(ग) रंजन मन मंजन गरब गंजन खंजन नैन।
मानस भंजन करत अब, होत निरंजन ऐन॥

परुषा वृत्ति—

उमड़ि कुड़ाल में खवासखान आए भनि
भूषन त्यों धाये सिवराज पूरे मन के।

१ वर्न अनेक कि एक की जहँ आवृति कैयो बार।
सो है वृत्यनुप्रास जो धरै वृत्ति अनुसार॥

सुनि नरवाने बाजे हय हिहनाने घोर,
मूछे तरराने मुख वीर धीर जन के।
एकै कहैं मार मार सम्हरि समर एकै
म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसम्हार तन के।
कुंडन के ऊपर कड़ाके उठे ठौर ठौर,
जीरन के ऊपर खड़ाके खड़गन के॥

कोमला वृत्ति—

आनंद सों सुंदरिन के कहुँ बदन इंदु उदोत हैं।
नभ सरित के प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत हैं।
कहुँ बावरी सर कूप राजत बद्धमनि सोपान हैं।
जहँ हंस सारस चक्रवाक बिहार करत समान हैं॥

श्रुत्यानुप्रासः—

जहाँ तालु कंठ आदि एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले व्यंजनों की समता हो, वहाँ श्रुत्यानुप्रास अलंकार होता है।[1] जैसे—

(क) निसिबासर सात रसातल लौं सरसात घने घन कंचन बरस्यौं।

(ख) जिस तपोवन से जिस काल में तब बजा मुरली कल नादिनी।
अवनि में सुख जो इतनी मिली मधुरता मृदुता जनहृर्षिता।

(ग) लांछि न संता के सीके में झुक कर झुके झरोखे से।

लाटानुप्रासः—

जहाँ पर शब्द तथा अर्थ के एक ही रहने पर भी अन्वय करते ही भेद हो जाय वहाँ पर लाटानुप्रास होता है।[2] उदाहरण के लिए:—

१ जहाँ तालु कंठादि की व्यंजना समता होय।
सोई श्रुत्यनुप्रास है कहत सुघर कवि लोय।

२ शब्द अर्थ एकै रहै अन्वय करतहिं भेद।
[illegible]

(क) तीरथ व्रत साधन कहा जो निसदिन हरिगान।
तीरथ व्रत साधन कहा, बिन निस दिन हरि गान॥

(ख) पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान युत स्वप्न।
पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान युत स्वप्न॥

(ग) औरन के जाँचे कहा जो जाँच्यों सिवराज।
औरन के जाँचे कहा जाँचे जाँच्यों सिवराज॥

अन्त्यानुप्रास—

अन्त्यानुप्रास छन्द के अन्तिम चरण में अन्त्याक्षरों की समता को कहते हैं।[1] ये छै प्रकार के होते हैं (१) सर्वान्त्य (२) समान्त्य विषमान्त्य, (३) समान्त्य, (४) विषमान्त्य (५) सम विषमान्त्य और (६) भिन्नान्त्य। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

सर्वान्त्य—

यह उस रचना में होता है, जिसमें चारों तुकान्त एक से हों। उदाहरण के लिए—

साहितनै सुव को सब भार भुजा भुजगेस लौं ठानि जकीनी।
सुजस तीखन तेज तरनि सौं साहस को कियो पानिपहीनी।
दारिद सी दलिकै कर दारिद सौं मन ज्यों पुनि त्यों सुख कीनो।
श्री सिवराज दियो जस चंद सौं म्लेच्छन को मुखचंद्र मलीनी।

समान्त्य विषमान्त्य—

इसमें पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरण का तुकान्त समान होता है। उदाहरण के लिए—

(क) जो सुमिरत सिधि होइ गन नायक करिबर बदन।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन॥

१ व्यंजन स्वरयुत एक से जो तुकान्त में होहि।
सो अन्त्यानुप्रास है अरु तुकान्त हू मोहि॥

(ख) मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल दहन॥

समान्तः—

इसमें दूसरे और चौथे चरण का तुकान्त समान होता है। जैसे—

(क) नाथ सुहृद सुठि सरलचित, सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ, जानिय आपु समान॥

(ख) सिव सरजा सों जंग जुरि चंदावत रजवंत।
राव अमर गो अमरपुर समर रही रज संत॥

विषमान्तः—

इसमें प्रथम तथा तृतीय चरण का तुकान्त समान होता है। जैसे—

(क) बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

(ख) प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर॥

सम विषमान्तः—

इसमें प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरण का तुकान्त समान होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

(क) *भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि राम पद अति अनुरागा।*
तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना॥

(ख) कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे।
सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रँए।

भिन्नान्त्यः—

इसमें भिन्न तुकान्त चरण होते हैं। जैसे—

> चतुर है चतुरानन सा वही सुभग भाग्य विभूषित भाल है।
> सुन जिसे मन में पर काव्य की रुचिरता चिरपरतापकारी न हो।

यमक—

जहाँ पर एक ही शब्द का बार बार प्रयोग हो, परन्तु अर्थ वैभिन्न्य हो वहाँ पर यमक अलंकार होता है।[1] उदाहरण के लिए—

(क) तो पर वारौं उरबसी सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

(ख) ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं
तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
बिजन डोलाती ते वै बिजन डोलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं।

कुछ विद्वानों ने 'मुक्त पद ग्राह्य यमक अलंकार' या 'सिंहावलोकन यमक' का भी उल्लेख किया है। इसके प्रत्येक चरण के अन्त में अन्तिम शब्द की आवृत्ति होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

> लाल है भाल सिंदूर भरो मुख सिंधुर चारु औ बाहु बिसाल है।
> साल है शत्रुन को कवि देव सुशोभित सोम कला धरे भाल है।

१　जहँ शब्द फिरि फिरि परैं, अर्थ औरही और।
सो यमकालंकार है, भेद अनेकन ठौर॥

भाल है दीपत सूरज कोटि सो काढ़त कोटि कलंकन जाल है।
पाल है बुद्धि, विवेकन को यह, भारती की शक्तिमती सजल है॥

वक्रोक्ति —

जहाँ श्लेषार्थी शब्द से अथवा काकु के कारण प्रस्तुतार्थ के स्थान पर भिन्नार्थ की कल्पना की जाय, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।[1] वक्रोक्ति के दो भेद होते हैं (१) वक्रोक्ति श्लिष्ट और (२) काकु वक्रोक्ति।

श्लिष्ट वक्रोक्ति—

इसके दो भेद होते हैं (१) भंगपद और (२) अभंग पद। इनमें से भंगपद वक्रोक्ति वहाँ होती है, जहाँ किसी पद को तोड़कर दूसरा अर्थ लगाया जाय।

उदाहरणार्थ—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमही इक इष्ट अहौ।
हौ न गऊ नहिं हो अबला अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहौ॥

अभंग पद वक्रोक्ति वहाँ होती है जहाँ पद को तोड़ा न जाय परन्तु अभीष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना की जाय। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) को तुम ? हरि प्यारी, कहाँ बानर को पुर काम ?
श्याम सलोनी ? श्याम कपि क्यों न डरै तब बाम॥

(ख) एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है।
उसने कहा अपर कैसा वह उड़ गया सपर है॥

काकु वक्रोक्ति—

काकु वक्रोक्ति वहाँ होती है जहाँ काकु अथवा कंठ ध्वनि की विशेषता के कारण दूसरा अर्थ निकलता हो।[2] इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१ होय श्लेष सों काकु सों कल्पित औरै अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति हैं तिनरे सुकवि समर्थ॥
२ जहाँ कंठ ध्वनि भिन्न ते आशय भयो लखाय।
सो वक्रोक्ति काकु है कविवर कहैं बुझाय॥

(क) मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुमहिं उचित तप मोकहुँ भोगू ।

(ख) भरत भूमि सिय राम लखन बन मुनि आनन्द सहँमो ।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब सुख सन्तोष लहँमो ॥

श्लेष—

जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनके अनेक अर्थ हो सकते हों वहाँ पर श्लेष अलंकार होता है ।[1] इसके दो भेद होते हैं । (१) सभंग श्लेष और (२) अभंग श्लेष ।

अभंग श्लेष—

यह उस स्थल पर होता है, जहाँ शब्दों के दो अर्थ करने पर उन्हें तोड़ा न जाय ।

उदाहरणार्थ—

(क) रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरै मुक्ता मानुष चून ॥

(ख) विमाता बन गयी आँधी भयावह ।
हुआ चंचल न फिर भी श्याम घन वह ॥
पिता को देख तापित भूमितल सा ।
बरसने लग गया वह वाक्य जल सा ॥

सभंग श्लेष—

यह वहाँ होता है जहाँ शब्दों के अनेक अर्थ करने के लिए उन्हें तोड़ा जाय।

उदाहरणार्थ —

कुसमपाल गुन वर्जित अकुल अनाथ । कहौ कृपानिधि राउर कस गुननाथ ।

चित्र—

चित्र अलंकार वहाँ होता है जहाँ शब्द रचना इस प्रकार की जाय कि उनसे

१ पोय तीन मय मांति बहु आवत जामैं अर्थ ।
श्लेष नाम तासो कहत जिनकी बुद्धि समर्थ ॥

कामधेनु आदि चित्र बन जाय।[1] इसके कमल बन्ध, धनुर्बन्ध, तथा कामधेनु बन्ध आदि भेद होते हैं। इनकी विशेषता यह होती है कि पूरे छन्द को किसी भी स्थल से पढ़ना आरम्भ किया जा सकता है, और सवैया बनता जाता है। इनमें से कामधेनु बन्ध का उदाहरण इस प्रकार है—

> धुव जो गुरता तिनको गुरु भूषन दानि बड़ो गिरजा पिव है।
> हुव जो हरता रिनको तरु भूषन दानि बड़ो सिरजा छिव है॥
> भुव जो भरता दिनको बर भूषन दानि बड़ो सरजा सिव है।
> तुव जो करता इनको अरु भूषन दानि बड़ो बरजा निव है॥

पुनरुक्तिप्रकाश—

जहाँ पर अर्थ को रुचिकर बनाने के लिए एक शब्द को कई बार कहा जाय, वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

> मधुमास में दास जू बीस बिसे मनमोहन आइहैं आइहैं आइहैं।
> उजरे इन भौनन को सजनी सुख पुंजन छाइहैं छाइहैं छाइहैं।
> अब तेरो सो ऐसी न संक एकक बिथा सब जाइहैं जाइहैं जाइहैं।
> घनश्याम प्रभा लखिकै सखियाँ अँखियाँ सुख पाइहैं पाइहैं पाइहैं॥

पुनरुक्तिवदाभास—

जहाँ पर पुनरुक्ति आभासित हो परन्तु यथार्थ में पुनरुक्ति न हो, वहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ चित्र सुनैं अक्षरन ते रचना होइ विचित्र।
कामधेनु आदिक घनै भूषन बरनत मित्र।

२ एक शब्द बहु बार जहँ परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्ति परकाश सो बरनै बुद्धि समर्थ॥

३ भासत है पुनरुक्ति सो नहिं निदान पुनरुक्ति।
पुनरुक्तिवदाभास सो भूषन बरनत युक्ति॥

अरिन के दल सैन संगर में समुहाने
टूक टूक सकल के डारे हैं मसान में।
बरबार बरी महाबल परिवाह पूरो,
बहत है हाथिन के मद जल दान में।
भूषन भनत महाबाहु भौंसिला भुवाल
सूर रवि सम तेज तिच्छन कृपान में।
मालमकरन्द कुल चन्द कहा निधि तेरो,
सरजा सिवाजी जस जगत जहान में।

प्रहेलिका—

जहाँ किसी प्रश्न को घुमा फिरा कर पूछा जाता है, वहाँ पर प्रहेलिका अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं। (१) शब्दगत प्रहेलिका और (२) अर्थगत प्रहेलिका।[1] इन दोनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

शब्दगत प्रहेलिका—

(क) देखी एक अनोखी नारी। गुन उसमें एक सबसे भारी।
पढ़ी नहीं यह अचरज आवै। मरना जीना तुरत बतावै॥

(ख) आदि कटे ते सबको पालै। मध्य कटे ते सबको घालै।
अंत कटे तो सबको मीठा। सो खुसरो मैं आँखों दीठा॥

अर्थगत प्रहेलिका—

(क) लक्ष्मी पति के कर बसै पांच बरन नहि लेय।
पहिला अक्षर छोड़िके आप हमें किन देय।

(ख) ऐसी मूरि बताव सखि जेहि जानत सब कोय।
पीठि लगावत जासु रस छाती सीरी होय॥

१ प्रश्नहि में उत्तर कछू शब्द के फेर।
सो प्रहेलिका दोय विधि, शब्द अर्थगत हेर॥

वीप्सा:—

जहाँ पर आदर अथवा आश्चर्य सूचक कोई शब्द अनेक बार कहा जाय वहाँ पर वीप्सा अलंकार होता है।[1] इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) शिव शिव शिव, कहते हो यह क्या ऐसा मत कहना।
राम राम यह बात भूलकर मित्र कभी मत गहना॥

(ख) हाय! आर्य रहिये रहिये मत कहिये, यह मत कहिये।
हम संकट को देख डरें या उसका उपहास करें।

भाषा समक:—

शब्दालंकारों के अन्तर्गत आचार्य भगवानदीन आदि ने 'भाषा समक' अलंकार का भी उल्लेख किया है। यह अलंकार वहाँ होता है जहाँ पर विविध प्रकार की भाषा में एक ही लिपि के शब्द मनोहर वाक्यों में लिखे जायें।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

जा दिन ते जमुना तट बाहि बजावत बाँसुरी नैक बिहारो।
होतम रहत न मोद मरात, भरोसे रहे दिन रैन तुम्हारो।
'हाफ़िज़' फ़िक्र मुदाम मुदामम कोई उपाय चले न हमारो।
सहि कोउ उपाय रचो फिरि चारक देखिय नंदकुमारो।

अर्थालंकार

महर्षि व्यास ने 'अग्निपुराण' में लिखा है कि जो अर्थ को अलंकृत करे, वह

१. आदर अचरज आदि हित एक शब्द बहु बार।
ताहि वीप्सा कहत हैं जे बुधि भंडार॥

२ सब्दन की लिपि एक जहँ भाषा विषय प्रकार।
वाक्य मनोहर होय तहँ भाषा समक विचार॥

अर्थालंकार कहा जाता है। इसके अभाव में शब्द सौन्दर्य में मनोहरता नहीं होती।[1] अर्थालंकार में शब्दालंकार की भाँति किसी शब्द अथवा किन्हीं शब्दों के कारण चामत्कारिकता का आविर्भाव नहीं होता। इसमें चामत्कारिकता का समावेश अर्थ के कारण होता है। इसीलिए अर्थालंकारों को अर्थ प्रकाशन की विविध शैलियाँ माना जाता है। अर्थालंकारों के विषय में भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शास्त्रीय दृष्टि से इसकी कोई निर्धारित सीमा रेखा नहीं है।

संस्कृत तथा हिंदी के विविध आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार विविध अर्थालंकारों की परिभाषाएं दी हैं तथा उनके लक्षण उपस्थित किये हैं। यही कारण है कि अर्थालंकारों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। अर्थालंकारों का वर्गीकरण उसके आधारभूत चामत्कारिक तत्वों के अनुसार किया जाता है। संक्षेप में, ये आधार साम्य विरोध क्रम न्याय कारण, कार्य सम्बन्ध निषेध तथा गूढार्थ प्रतीति आदि हैं। इन्हीं के आधार पर अर्थालंकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है:—

साम्यमूलक अलंकार:—

इन अलंकारों का सम्बन्ध रूप साम्य अथवा गुण साम्य से होता है। इस वर्ग में उपमा उत्प्रेक्षा रूपक, भ्रम तथा सन्देह आदि अलंकार आते हैं।

विरोधमूलक अलंकार:—

इन अलंकारों में विरोध प्रकाशन रहता है। इस वर्ग में असंगति, विषम, विरोधाभास आदि अलंकार आते हैं।

क्रममूलक अलंकार:—

इन अलंकारों का सम्बन्ध क्रम अथवा शृंखला से रहता है। इस वर्ग में कारण माला, एकावली तथा सार आदि अलंकार आते हैं।

१ अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते।
तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्॥

न्याय मूलक अलंकार—

इस वर्ग में यथासंख्य, काव्यलिंग तद्गुण तथा अतिशयोक्ति आदि अलंकार आते हैं।

निषेधमूलक अलंकार—

इस वर्ग में अपह्नुति विनोक्ति तथा व्यतिरेक आदि अलंकार आते हैं।

गूढार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार—

इस वर्ग में पर्यायोक्ति, समासोक्ति, मुद्रा व्याजनिन्दा व्याजस्तुति तथा सूक्ष्म आदि अलंकार आते हैं।

उपमा —

जहाँ पर किसी वस्तु के रूप अथवा गुण से सम्बन्ध रखने वाली किसी विशेषता के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से किसी ऐसी वस्तु से उसकी समता बतायी जाय जिसमें वही विशेषता अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष हो वहाँ पर उपमा अलंकार होता है। दूसरे शब्दों में जहाँ दो वस्तुओं की शोभा का एक समान वर्णन किया जाय वहाँ उपमा अलंकार होता है।[1]

भूषण आदि कवियों ने उपमा को सब अलंकारों में मुख्य माना है।[2] उपमा के चार अंग होते हैं उपमेय उपमान, वाचक तथा धर्म। इनमें से जिसका वर्णन किया जाता है उसे उपमेय और जिससे समता दिखायी जाती है उसे उपमान कहते हैं। उपमेय और उपमान दोनों की समता सूचित करने वाला शब्द वाचक तथा उपमेय और उपमान का जो रूप गुण अथवा कर्म साम्य प्रदर्शित किया जाता है उसे धर्म कहते हैं।

१ जहाँ दुहुन की दीजिए सोभा बरनि समान।
उपमा भूषन ताहि को भूषन कहत सुजान।

२ भूषन सब भूषननि में उपमहि उत्तम चाहि।
याते उपमहि आदि दै बरनत सकल निबाहि॥

पूर्णोपमा:—

जहाँ पर उपमा वाचक पद, धर्म उपमेय तथा उपमान चारों विद्यमान हों वहाँ पर पूर्णोपमा अलंकार होता है।[1] इसके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(क) फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन
कहै 'रघुनाथ' भरे चैन रस सियरे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुन गान
सिद्ध से सुजान सुख सागर सों नियरे।
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिन्ता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आज
भोर के से नखत नरिंद परे पियरे॥

(ख) राम लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयन्त समेत॥

लुप्तोपमा:—

जहाँ पर उपमावाचक पद, धर्म उपमेय तथा उपमान में से किसी एक का भी अभाव हो, वहाँ पर लुप्तोपमा अलंकार होता है।[2] इसके निम्नलिखित भेद होते हैं (१) उपमेयलुप्ता (२) उपमानलुप्ता (३) वाचक लुप्ता (४) धर्मलुप्ता, (५) वाचक धर्म लुप्ता (६) धर्मोपमेयलुप्ता (७) धर्मोपमानलुप्ता, (८) वाचकोपमेयलुप्ता (९) वाचकोपमानलुप्ता तथा (१०) वाचकधर्मउपमानलुप्ता। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

उपमेयलुप्ता—

(क) साँवरे गोरे घटा छटा से बिहरें मिथिलेश की बाग बली में।

१ वाचक साधारण धरम उपमेयरु उपमान।
ये चारों जँह प्रगट तँह पूरण उपमा जान॥

२ वाचक साधारण धरम उपमेयरु उपमान।
इनमें इक द्वै तीन बिनु लुप्ता विविध विधान।

(ख) पड़ी थी बिजली सी विकराल लपेटे थे घन जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप।

उपमानलुप्ता:—

सुबरन बरन कमल कोमलता, सुचि सुगंध इक होय।
तब तुलनीय होय तव मुख सो अपर अस वस्तु न कोय॥

वाचकलुप्ता—

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन वारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥

धर्मलुप्ता—

पावक तुल्य अमीतन को भयो मीतन को भयो धाम सुधा को।
आनन्द भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहि बली सिवराज भो भूषन भाषत सत्रु सुधा को।
बंदन तेज त्यों चंदन कीरति सोहै सिंगार बधू बसुधा को।

वाचकधर्मलुप्ता—

जनु जनु ससि सारद कमल इंदु बदन घनस्याम।
विद्रुमहास दाड़िमदसन बिंबाधर अभिराम।

धर्मोपमानलुप्ता—

यद्यपि जग में बहुत हैं सुख साधक सामान।
तदपि कछू कोई नहीं काव्यानन्द समान।

धर्मोपमेयलुप्ता—

त्योर तिरीछे किए मुनि संगहि हेरत संभु सरासन भार से।
त्यों "लछिराम" घुमै कर बान कमान सी भौंहें मुखद्युतितार से।
साम्हैं भी मिथिलापति के कटि ठाढ़े सही रघुबीर सिंगार से।
भीतम चंपक माल से को ? स्वयंवर में नृपराज कुमार से।

वाचकोपमेयलुप्ता—

इत ते उत ते इतै छिन न कहूँ ठहराति।
जक न परत चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति॥

वाचकोपमानलुप्ता—

चितवनि चारु मार मद हरनी। भावत हृदय जात नहिं बरनी॥

वाचक धर्म उपमानलुप्ता—

अहै अनूप नाम प्रभुताई। बुधि विवेक बल तरकि न जाई॥

मालोपमा—

जहाँ पर एक उपमेय के अनेक उपमानों का वर्णन होता है, वहाँ पर मालोपमा अलंकार कहा जाता है। इसके तीन भेद होते हैं (१) भिन्न धर्मा, (२) एक धर्मा तथा (३) लुप्त धर्मा।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मरकत सि द्युतिवंत है रेशम से मृदु बाम।
निकर महीन सुतार से कच कादर सि स्याम॥

एक धर्मा—

सारद सो सेस सो सुधा सो सक बिदुर सो।
सुर सरिता सो पुर ससि सो बखान है।
हंसन सो हीरन सो हिम सो हलायुध सो,
हरगिरि हास्यहु सो जगत जहान है।
भनत 'मुरार' घनसार सर्वमहु सो
पारद सो पय सो पिनाकी सो प्रमान है।
आज पुहु मीत यश तपत महीप तेरो
दीप दीप दीपै दीपमालिका समान है॥

१ जहाँ एकै उपमेय को बरनै बहु उपमान
भिन्न अभिन्नहु धर्म तें मालोपमा बखान।

पुष्ट धर्मा:—

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर,
'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तिमिर अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छ बंस पर सेर सिवराज है।।

रसनोपमा:—

जहाँ पर कई उपमा अलंकार क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किये जाय कि क्रमानुसार पहला कहा हुआ उपमेय उपमान होता जाय वहाँ रसनोपमा अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मति सी नति नति सी विनति विनती सी रति चारु।
रति सी गति गति सी भगति तो मैं पवन कुमार।।

अनन्वयोपमा:—

जहाँ पर उपमान न हो और एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों का कार्य करे वहाँ अनन्वयोपमा अलंकार होता है। जैसे—

साहि तनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुंदुभि बाजै।
भूषन भिच्छुक भीरन को अति भोजहु तें बढ़ि मौजनि साजै।।
राजन को गन राजन ! को गनै ? साहिन मैं न इती छवि छाजै।
आजु गरीब नेवाज मही पर तो सों तुही सिवराज विराजै।।

कल्पितोपमा:—

जहाँ पर उपमेय तथा उपमान की समता प्रकट करने के उद्देश्य से सम, समान

१ कथित प्रथम उपमेय जहँ होत जात उपमान।
[illegible]

तुल्य आदि पद न लिखकर ऐसे पद लिखे जाते हैं, जो उनकी भिन्नता अथवा विरोध सूचित करते हैं वहाँ पर ललितोपमा अलंकार होता है।[1] इसे लक्ष्योपमा अथवा संकीर्णोपमा भी कहते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

साहितने सरजा सिवा की सभा जा मधि है।
मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है।
भूषन भनत जाके एक एक सिखर तें।
कैते धौं नदी नद की रेल उतरति है।
जोन्ह को हंसत जोति हीरा मनि मन्दिरन
कन्दरन में छबि कुहू की उछरति है।
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को जामें।
नखतावली सों बहस दीपावली करति है॥

समुच्चयोपमा—

जहाँ अनेक धर्मों के कारण उपमेय और उपमान की समता वर्णित की जाय वहाँ समुच्चयोपमा अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

मधुवर्मा सहज प्रिया समगुन हरा प्रसन्न।
उपमारम्भ बरसावनी सूरज किरन समान।

उपमेयोपमा—

जहाँ उपमेय का केवल एक ही उपमान हो, वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

तव मन रंजन हैं खंजन से नैन आली
नैनन से खंजन हू लागत चपल हैं।

१. जहँ समता को दुहुन की लीलादिक पद होत।
ताहि कहत ललितोपमा सकल कविन के गोत॥

२. जहाँ परस्पर होत है उपमेयो उपमान।
भूषन उपमेयोपमा, ताहि बखानत जान॥

मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिबे को
मीन इनही से तीके सोहत अमल हैं।
भूपत के लोचन से लोचन हैं रोचन ये,
भूपत भूप इनहीं से सोहैं पकापक हैं।
मूरति निहारि देखी नीके ऐरी प्यारी जू के,
कमल से नैन और नैन से कमल हैं।

श्लिष्टोपमा:—

जहां पर श्लिष्ट शब्द के समान धर्म कथित हो वहां श्लिष्टोपमा अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

उदयाचल से निकल मंजु मुसुकान कर वसुधा मन्दिर को सुन्दर आलोक से
भर देने वाली नवीन पहली उषा के समान ही जिसका सुन्दर नाम है।

प्रतीप—

प्रतीप अलंकार में उपमा का विपरीत रूप दर्शाया जाता है। प्रतीप वहां होता है, जहां पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान सिद्ध किया जाय तथा चमत्कारिक रूप में उनमें से किसी की श्रेष्ठता बतायी जाय। प्रतीप अलंकार के पांच भेद होते हैं (१) प्रथम प्रतीप, (२) द्वितीय प्रतीप (३) तृतीय प्रतीप (४) चतुर्थ प्रतीप तथा (५) पंचम प्रतीप।

प्रथम प्रतीप—

जहां पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान वर्णित किया जाय, वहां प्रथम प्रतीप होता है।[1] उदाहरण इस प्रकार है:—

सी तम ही सेत सी तो बसत पताल लोक
ऐरावत गज सी ती इन्द्र लोक सुनिमी।

१ जहां प्रसिद्ध उपमान को करि बरनत उपमेय।
तहं प्रतीप उपमा कहत भूषण कविता प्रेय।

दूरि हंस मानसर ताहू तें कैलास बर,
सुधा सुरसर सिंधु छोड़ि नयी भूमियें।
पुरवासी सिरताज महाराज सिवराज
रावरे सुजस समकाज काहि भूमियें।
भूषन जहाँ की गति तहाँ की मर्याद हारयी,
लखियें कछू न कैती चाहें चित भूमियें।

द्वितीय प्रतीप—

जहाँ अन्य उपमेय के कारण एक उपमेय का अनादर किया जाय, वहाँ पर द्वितीय प्रतीप अलंकार होता है।[1] उदाहरणार्थ –

सिव प्रताप तो तरनि सम अरि पानिप हर मूल।
गरब करत कित विदित है बड़वानल ता तूल॥

तृतीय प्रतीप—

जहाँ उपमेय से उपमान का अनादर हो, वहाँ पर तृतीय प्रतीप अलंकार होता है।[2] उदाहरणार्थ—

गरब करत कत चाँदनी हीरक छीर समान।
फैली इती समाजगत कीरति सिवा खुमान॥

चतुर्थ प्रतीप—

जहाँ पर उपमेय को पाकर उपमान का अनादर हो वहाँ चतुर्थ प्रतीप अलंकार होता है।[3] उदाहरणार्थ—

१ करत अनादर अन्य को पाय और उपमेय।
ताहू कहत प्रतीप के भूषन कविता प्रेय॥

२ आदर घटत अवर्ण्य को जहाँ वर्ण्य के जोर।
तृतीय प्रतीप बखानहीं तहं कवि कुल सिरमौर।

३ पाय वरन उपमान को जहाँ न आदर और।
कहत चतुर्थ प्रतीप हैं भूषन कवि सिरमौर।

चंदन में नाग मद भर्‌यो इन्द्रनाग
विषभर्‌यो सेषनाग कहै उपमा अवस को।
छोर छहरात न कपूर ठहरात मेघ
सरद उड़ात बात लागे दिस दस को।
सम्भु नीलग्रीव भौंर पुण्डरीक ही बसति
सरजा सिवा को बोल भूषन सरस को।
छीरधि में पंक कलानिधि में कलंक
यातें रूप एक टंक पै कहै न तेरे जस को।

पंचम प्रतीप—

जहाँ उपमान उपमेय से हीन होने के कारण नष्ट हो जाय वहाँ पर पंचम प्रतीप होता है।[1] उदाहरणार्थ—

छाँह करैं छितिमंडल में सब ऊपर यों 'मतिराम' भये हैं।
पानिप को सरसावत है सिगरे जग के मिटि ताप गये हैं।
भूमि पुरन्दर भाऊ के हाथ पयोदन ही के सुभाय छये हैं।
पंथिन के पथ रोकिबे को घने वारिद वृन्द वृथा उनये हैं।

स्मरण—

पहले देखी या सुनी हुई किसी वस्तु को देखकर या सुनकर उसी के समान गुणों वाली दूसरी वस्तु स्मरण हो आने से स्मरण अलंकार होता है।[2] इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

ज्यों ज्यों इत देखियत मूरख विमुख लोग
त्यों त्यों ब्रजवासी सुखरासी मन भावे हैं।

१ हीन होय उपमान सों नष्ट होत उपमान।
पंचम कहत प्रतीप तेहि भूषन सुकवि सुजान।
२ सम सोभा लखि आन की सुधि आवत जहँ और।
स्मृति भूषन तासों कहत भूषन कवि सिरमौर।

जारे जल छीछर दुआरे अन्धकूप देखि
कालिन्दी के कूल काज मन ललचावें हैं।
बैसी मन मीतल सी कहूं न लखे बैन
'भाकर' ना चैन पर प्रान अकुलावें हैं।
पूहर पलास देखि देखि कै हूवरे हुरे हाय
हरे हरे वे तमाल सुधि आवें हैं।

भ्रान्तिमान—

जहाँ पर समानता के कारण प्रस्तुत को देखने या सुनने से अप्रस्तुत का या किस
अन्य बात में अन्य का भ्रम हो वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है।[1] यथाहरणार्थः—

पायं महावर दैन को नाइन बैठी आय।
फिर फिर जानि महावरी एड़ी मीड़त जाय।

संदेह—

जहाँ पर किसी वस्तु से किसी अन्य वस्तु का सन्देह हो, वहाँ सन्देह अलंका
होता है।[2] उदाहरणार्थ —

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है,
कि श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है ?
यामिनी के अंचल में कलाधर की कोर है,
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है ?
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है
कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है ?
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है
कि ढाल पर खांड़ा कामदेव का दुधारा है ?

१ आनवान को आन में होत जहाँ भ्रम आप।
तासों भ्रम सब कहत हैं सुमन सुकवि समाय।
२ बहु विधि बरनत वर्ण्य को मिलत न तथ्य अतथ्य।
अलंकार संदेह तहँ बरनत हैं मति पथ्य।

रूपक—

जहाँ पर उपमेय और उपमान में किसी प्रकार का भेद वर्णित न किया जाय, वहाँ रूपक अलंकार होता है।[1] इसके दो भेद होते हैं (१) अभेद रूपक और (२) तद्रूप रूपक। इन दोनों के भी अधिक न्यून तथा सम तीन भेद होते हैं।

अभेद रूपक—

जहाँ पर उपमेय और उपमान में कोई भेद न दिखाया जाय, वहाँ अभेद रूपक होता है। इसके तीन भेद अधिक अभेद रूपक, न्यून अभेद रूपक तथा सम अभेद रूपक होते हैं।

अधिक अभेद रूपक—

जहाँ पर उपमेय को उपमान से अधिक गुणवाला दिखाया जाय, वहाँ अधिक अभेद रूपक होता है। उदाहरणार्थ—

जग बिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटहि जग नभ दिन दिन दूना।

न्यून अभेद रूपक—

जहाँ उपमेय को उपमान से न्यून दिखाकर भी अभेदता रहती है, वहाँ न्यून अभेद रूपक अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

सबके देखत व्योम पथ गयो सिंधु के पार।
पच्छिराज बिन पुच्छ को और समीर कुमार।

१ जहाँ दुहुन को भेद नहिं बरनत सुकवि सुजान
रूपक भूषन ताहि को, भूषन करत बखान।

सम अभेद रूपक—

जहाँ पर उपमेय तथा उपमान में पूर्ण समानता होने पर उनकी अभेदता दिखायी जाय वहाँ सम अभेद रूपक अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

> उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
> बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥

तद्रूप रूपक—

जहाँ पर उपमान को उपमेय रूप में चित्रित किया जाय वहाँ तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसके भी तीन भेद होते हैं (१) अधिक तद्रूप रूपक, (२) न्यून तद्रूप रूपक तथा (३) सम तद्रूप रूपक।

अधिक तद्रूप रूपक—

जहाँ पर उपमेय और उपमान की तद्रूपता वर्णित करते समय उपमेय को अधिक दिखाया जाय वहाँ अधिक तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

> लसति कलानिधि चाँदनी, निसि ही मैं अभिराम।
> दीपति या मुखचन्द की बिपति आठहूँ जाम॥

न्यून तद्रूप रूपक—

जहाँ उपमेय को उपमान से हीन गुण वाला होने पर भी उसमें तद्रूपता दर्शायी जाय वहाँ न्यून तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

> साहितनै सिवराज तौ भूषन जाय
> बिपर कलंक चंद उर आनियतु है।
> एक ही आनन पंचानन यति तोहिं,
> पंचानन सम आनन बिना बखानियतु है।

एक सीस ही सहस सीस मान्यौ बराबर
दूजे वृष सौं सहस वृष मानियतु है।
दूजे कर सौं सहस कर मानियतु तोहि
दूजे बाहु सौं सहस बाहु मानियतु है।

सम तद्रूप रूपक:—

जहाँ उपमेय और उपमान में पूर्ण समानता होने पर उनमें से एक का दूसरा रूप दिखाया जाय वहाँ सम तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

रच्यो बिधाता दुहुन लै सिगरी सोभा साज।
तू सुन्दरि रति दूसरी यह दूजो सुरराज।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त रूपक के तीन भेद और किये जाते हैं (१) सावयव अथवा सांग रूपक (२) निरवयव अथवा निरंग रूपक तथा (३) परम्परित रूपक। ऊपर किये गये वर्गीकरण के अनुसार ये तीनों भेद अभेद और तद्रूप दोनों में सम्भाव्य हैं। परन्तु ये प्राय: अभेद रूपक में ही मिलते हैं।

सावयव अथवा सांग रूपक:—

जहाँ उपमान का उपमेय में अवयवों के साथ आरोप होता है वहाँ पर सावयव अथवा सांग रूपक होता है। कुछ विद्वानों ने इसके भी दो भेद (१) समस्त वस्तु विषयक सांग रूपक तथा (२) एक देश विवर्ति सांग रूपक किये हैं।[1] इसके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(क) आनन कमल चारु चन्द्रिका पटीर पंक।
दसन अनेर कुन्द कलिका सुगंध की॥

१. 'अलंकार भूषण' लाला भगवानदीन पृ० ५८।

खंजन नयन पदगाँति मृदु कंजनि के।
मंजुल मराल चाल चलत उमंग की॥
कवि 'जयदेव' मन भावत समेत सोई।
बाढ़े बाढ़ पूरित नवीन नीज रंग की॥
साज भारि आज व्रजराज के रिझाइबे को।
सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की॥

(ख) सोहत सहित सनेहु देह भरि, कामधेनु कलि काशी।

निरवयव अथवा निरंग रूपक —

जहाँ पर सभी अंगों का सामान्य आरोपण न होकर केवल एक ही अंग का आरोप हो, वहाँ निरवयव अथवा निरंग रूपक होता है। कुछ विद्वान इसके भी दो भेद मानते हैं (१) शुद्ध निरवयव रूपक तथा (२) माला रूप निरंग रूपक।[1] इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) हरि मुख पंकज भ्रू धनुष लोचन खंजन मित्र।
अधर बिंब कुंडल मकर बसे रहत मो चित्त॥

(ख) अवसि चलिय बन राम जहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम अवलंबन दीन्ह॥

परम्परित रूपक—

जहाँ पर मुख्य रूपक दूसरे रूपक पर आश्रित हो वहाँ पर परम्परित रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

नागर नगर अपार महा मोह तम मित्र से।
तृष्णा लता कुठार लोभ समुद्र अगस्त्य से॥

१ काव्य दर्पण, रामदहिन मिश्र १६६।

उत्प्रेक्षा:—

उत्प्रेक्षा से आशय है प्रकृष्ट रूप से देखना या बल प्राधान्य से देखना (उद् + प्र + ईक्षण) जहाँ पर कोई उपमेय अथवा उपमान कवि अपनी कल्पना से निर्मित कर ले, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।[1] उत्प्रेक्षा के चार भेद होते हैं (१) वस्तूत्प्रेक्षा (२) हेतूत्प्रेक्षा (३) फलोत्प्रेक्षा और (४) गुप्तोत्प्रेक्षा।

वस्तूत्प्रेक्षा—

जहाँ पर किसी वस्तु के अनुरूप कोई उपमान कल्पना से निर्मित हो वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इसके दो भेद (१) उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा तथा (२) अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा बताये जाते हैं। उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ पहले विषय बताकर बाद में उसके अनुरूप कल्पना हो तथा अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ बिना विषय कहे ही उसके अनुरूप कल्पना कर ली जाय। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) साहितनै सिवसाहि निसा में निसांक लियो गढ़सिंह सुहानो।
राठवरो को संहार भयो भिरि के सरदार गिर्‌यो उदैभानो॥
भूषन यों घमसान भो भूतल घेरत लोथनि मानो मसानो
ऊँचे सुछज्ज छटा उचटी प्रगटी परभा परभात की मानो॥

(ख) 'पूरन' जमुना नीर पर यों आतप छवि होति।
मानहु कृष्ण शरीर पर पीतपटी की जोति॥

हेतूत्प्रेक्षा—

जहाँ पर अहेतु को ही हेतु रूप में कल्पित किया जाता है वहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इसके भी दो भेद माने जाते हैं। (१) सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा तथा (२) असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा। इनमें से सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो तथा असिद्धास्पद उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार न सिद्ध हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं

१ आन लौं जहाँ प्रधानता करि दीजिय उपमान।
उत्प्रेक्षा भूषन तहाँ कहत सुबुद्धि मतिमान॥

(क) मोर मुकुट की चन्द्रकनि यों राजत नंदनंद।
मनु ससि सेखर को अकस किय सेखर सतचंद॥

(ख) मुख भुजंग सरोज नयननि, बदन बिम्ब जित्यो लरनि।
रहे बिवरनि, सलिल नभ उपमा अपर दुरी डरनि॥

फलोत्प्रेक्षा

जहाँ हेतु अफल को फल माना जाता है वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है। इसके भी दो भेद होते हैं (१) सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा और (२) असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा। इनमें सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो तथा असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार न सिद्ध हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) नाना सरोवर खिले नव पंकजों को।
ले अंक में विहँसती मन मोहती थी॥
मानो प्रसार अपने सहस्र करों को।
भू माँगती शरद से सुविभूतियाँ थी॥

(ख) नौल नयी मिथलापुर में चतुरंग चमू सजि आई बरात है।
त्यों उछले ते जवाहिर की छवि छूटै तुरंगन के अहरात है॥
कंचनथार का यों उछरत्न लिये भरि गोद न मोद समात है।
मान मिलाइबे के हित मानो मनोहरा स्वाती के बुंद नहात है॥

गम्योत्प्रेक्षा गुप्तोत्प्रेक्षा या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा—

जहाँ पर 'मानो' तथा 'जनु' आदि शब्द नहीं आते वहाँ पर गम्योत्प्रेक्षा या गुप्तोत्प्रेक्षा होती है। इसका उदाहरण—

वह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।
सह न सकी भवताप अचानक गिगल गयी।
हिम होकर भी द्रवित रही कल कल भयी॥

सापह्नवोत्प्रेक्षा—

उत्प्रेक्षा के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त एक और भेद माना जाता है सापह्नवोत्प्रेक्षा। यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ अपह्नुति सहित उत्प्रेक्षा होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

जब प्राची जननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना।
उसको कलंक कहना यह भी मानो कठोर टोना है।

अपह्नुति—

जहाँ पर प्रस्तुत या उपमेय को छिपाकर अप्रस्तुत या उपमान की स्थापना हो वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। अपह्नुति अलंकार के छै भेद होते हैं:—

(१) शुद्धापह्नुति (२) हेत्वापह्नुति (३) पर्य्यस्तापह्नुति, (४) भ्रान्त्यापह्नुति (५) छेकापह्नुति, (६) कैतवापह्नुति।[१] इनमें से प्रारम्भ के पाँच अर्थात् शुद्धापह्नुति हेत्वापह्नुति पर्य्यस्तापह्नुति भ्रान्त्यापह्नुति तथा छेकापह्नुति के निषेध सूचक शब्दों का तथा अन्तिम अर्थात् कैतवापह्नुति में "मिस" का प्रयोग अनिवार्य होता है।

शुद्धापह्नुति —

जहाँ पर वास्तविकता को छिपाकर उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु का आरोप हो, वहाँ शुद्धापह्नुति अलंकार होता है।[२] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

१ मिथ्या कीजै सत्य कों सत्य जु मिथ्या होत।
अपह्नुति षट् भेद कों बरनत हैं कवि गोत।
शुद्ध हेतु परजस्त भ्रम छेका कैतव देखि।
ना वाचक हैं पाँच को कैतव को मिस लेखि॥

२ आन बात आरोपिये साँची बात छिपाय।
शुद्धापह्नुति कहत हैं भूषन कवि कविराय॥

ऊँची यह सुनी तो संदेसो कहि दीजो भलो
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार और अनारन की,
डारन पर ये डोलत अंगारन के पुंज हैं।

हेत्वापन्हुति —

जहाँ पर हेतु से प्रस्तुत को छिपाकर अन्य बात का आरोप किया जाय वहाँ पर हेत्वापन्हुति का अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

रात माँझ रवि होत नहिं ससि नहिं तीव सुलाय।
उठी लखन अवलोकिये वारिधि सों बड़वाग॥

पर्य्यस्तापन्हुति—

जहाँ पर प्रस्तुत को छिपाकर उसके धर्म का आरोप अप्रस्तुत में किया जाय, वहाँ पर्य्यस्तापन्हुति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

नीम में नहिं प्रीति सजनी बासनहि नहिं प्रेम।
एक मति मति एक सब यह भरत ही में नेम॥

भ्रान्त्यापन्हुति—

जहाँ पर अन्य बात का भ्रम होते ही तुरन्त यथार्थ बात कह कर उसका निवारण कर दिया जाय, वहाँ भ्रान्त्यापन्हुति अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

१ जहाँ जुगुत सों आन कों कीजै आन छिपाय।
हेतु अपन्हुति कहत हैं भूषन कवि समुदाय॥
२ वस्तु गोप ताको धरम और वस्तु में रोपि।
पर्य्यस्तापन्हुति कहत कवि भूषन मति ओपि।
३ संक और की होत ही जहँ भ्रम कीजै दूरि।
भ्रांतापन्हुति कहत हैं, तहि भूषन कवि भूरि।

केर मोती द्युति झलक परी अधर पर आय।
चूनी होय न चतुर तिय क्यों पट पोंछो जाय।

छेकापन्हुति—

जहाँ पर किसी अन्य बात का भ्रम होते ही वास्तविकता को छिपाया जाय वहाँ छेकापन्हुति अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तिमिर वंस हर, अरुन कर आयो सजनी भोर।
सिव सरजा नृप रहि सखी सरज सुर सिरमौर॥

कैतवापन्हुति—

जहाँ पर किसी बात को कैतव व्याज या मिस आदि के द्वारा छिपाया गया हो। वहाँ कैतवापन्हुति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साहितनै सरजा भूषन सनरेहु पास कीनी कुच बेस चीलि मीर अफजल सौं।
भूषन भनत करि करम बहानो, रन भरनि सुभाव करि प्रान लै बलन सौं।
समर के नाम के बहाने भी अमरपुर चंदावत करि सिवराज के बलन सौं।
सरजाजी वाकी मानि काजी के बहाने वासू राज उमराव ब्रह्मचारी के छलन सौं॥

विशेषापन्हुति—

अपन्हुति अलंकार के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इसका एक और विशेषापन्हुति भी माना है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ जहाँ और की संक तें साँचि छिपावत बात।
छेकापन्हुति कहत है भूषन कवि अवदात।
२ जहँ कैतव छल व्याज मिस इनसों होत दुराउ।
सु कैतवापन्हुति कहत भूषन कवि रसभाउ॥
३ 'काव्यदर्पण' रामदहिन मिश्र पृ० ३६२।

वे मुस्कुराते फूल नहीं जिनको आता है मुरझाना।
वे तारों के दीप नहीं जिनको भाता है बुझ जाना।
वे नीलम से मेघ नहीं जिनको है घुलने की चाह।
वह अनन्त ऋतुराज नहीं जिसने देखी जाने की राह।

अतिशयोक्ति—

जहाँ पर किसी वर्ण्य विषय को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाय और इस प्रकार से लोक सीमा का अतिक्रमण किया जाय वहाँ पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। अतिशयोक्ति अलंकार के निम्नलिखित भेद होते हैं— (१) भेदकातिशयोक्ति, (२) सम्बन्धातिशयोक्ति (३) चपलातिशयोक्ति (४) अक्रमातिशयोक्ति, (५) रूपकातिशयोक्ति और (६) अत्यन्तातिशयोक्ति।[1] इन छै के अतिरिक्त इसका एक भेद सापन्हवातिशयोक्ति भी माना जाता है।

भेदकातिशयोक्ति—

जहाँ पर किसी बात का वर्णन किसी अन्य भाँति किया जाय वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है।[2] उदाहरणार्थ—

औरै कछु चितवनि चलनि औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देत है सकै न बैन बखानि॥

सम्बन्धातिशयोक्ति—

जहाँ सम्बन्ध और योग्य में असम्बन्ध और अयोग्यता तथा असम्बन्ध और अयोग्य में सम्बन्ध तथा योग्यता दर्शायी जाय वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता

१ जहं अत्यन्त सराहिये आतिशयोक्ति सुकहन्त।
भेदक सम्बन्धी चपल अक्रम रूप अत्यन्त॥
२ जहँ जहँ भाँतहि भाँति की बरनत बात कबूल।
भेदकातिशयोक्ति सो सुबरन कहत अभूल।

है। इसी वर्गीकरण के अनुसार उसके दो भेद किये गये हैं—(१) योग्य में अयोग्यता तथा (२) अयोग्य में योग्यता। इसके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

योग्य में अयोग्यता—

कानन कुंज प्रमोद विताल भरे कल फूल सुगंध बिछावे।
बावली के अरविंदन पै मकरंद मलिंद सभे सुम पावे।
त्यों अभिराम "तरंगन" सो सरजू के कहे सुर साधि विमाने।
औधपुरी महिमा को जिन अमरावति को हम क्यों सममाने॥

अयोग्यता योग्यता में—

आसन बांस कठौती हुतो औ कसी गुदरी मेहि छीजत सीजत।
कोसत छानी छरी परी भीति रहे जित बहुन के गन भीजत।
नाम सुदामा कह्यो हरि सों केहि देखिए देखि दिगम्बरि पीजत।
बैठि जिसे मन चातक के बन चौंच पकाय कै पीवत।

चपलातिशयोक्ति—

जहां पर किसी कारण की चर्चा से ही कार्य हो जाय, वहां पर चपलातिशयोक्ति अलंकार होता है। उसे चंचलातिशयोक्ति भी कहते हैं।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मैं भी तौलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।
भुजलता फंसा कर नर तरु से झूले सी झोंके खाती हूँ।

अक्रमातिशयोक्ति —

जहां पर कारण और कार्य एक साथ हो वहां पर अक्रमातिशयोक्ति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ जहाँ हेतु चरचा हि तें काज होत ततकाल।
चंचलाति तम पतिसौं भूषन कहत रसाल॥
२ जहाँ हेतु अरु काज मिलि होत जु एकहि साथ।
अक्रमातिशय उक्ति सो कहि भूषन कविनाथ।

वे मुस्कुराते फूल नहीं जिनको आता है मुरझाना ।
वे तारों के दीप नहीं जिनको भाता है बुझ जाना ।
वे नीलम के मेघ नहीं जिनको है घुलने की चाह ।
वह अनन्त ऋतुराज नहीं जिसने देखी जाने की राह ।

अतिशयोक्ति—

जहाँ पर किसी वर्ण्य विषय को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाय और इस प्रकार से लोक सीमा का अतिक्रमण किया जाय वहाँ पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है । अतिशयोक्ति अलंकार के निम्नलिखित भेद होते हैं— (१) भेदकातिशयोक्ति, (२) सम्बन्धातिशयोक्ति (३) चपलातिशयोक्ति (४) अक्रमातिशयोक्ति (५) रूपकातिशयोक्ति और (६) अत्यातिशयोक्ति ।[1] इन छै के अतिरिक्त इसका एक भेद सापन्हुवातिशयोक्ति भी माना जाता है ।

भेदकातिशयोक्ति—

जहाँ पर किसी बात का वर्णन किसी अन्य भाँति किया जाय वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है ।[2] उदाहरणार्थ—

औरै कछु चितवनि चलनि औरै मृदु मुसकानि ।
औरै कछु सुख देत है सकै न बैन बखानि ॥

सम्बन्धातिशयोक्ति—

जहाँ सम्बन्ध और योग्य में असम्बन्ध और अयोग्यता तथा असम्बन्ध और अयोग्य में सम्बन्ध तथा योग्यता दर्शायी जाय वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता

१　जहँ बरनत सराहियो आतिशयोक्ति सुभहुत ।
　　भेदक सम्बन्धी चपल अक्रम रूप अत्यन्त ॥
२　औरहि औरहि भाँतिहि भाँति को बरनत बात कबूल ।
　　भेदकातिशयोक्ति सो भूषन कहत अभूल ।

है। इसी वर्गीकरण के अनुसार उसके दो भेद किये गये हैं—(१) योग्य में अयोग्यता तथा (२) अयोग्य में योग्यता। इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं:—

योग्य में अयोग्यता—

कानन कुंज प्रमोद वितान भरे फल फूल सुगन्ध बिछाने।
बावली के अरविंदन पै मकरंद मलिंद सबै सुभ पाने।
त्यों लछिराम "तरंगन" यो सरजू के कहे सुर साखि बिमाने।
औधपुरी महिमा की चित अमरावति को हम क्यों सनमाने।।

अयोग्यता योग्यता में—

आसन आठ कठौती कुटी औ फटी गुदरी जेहि बीतत सीतत।
गोकुल छाजी घरी भरी भीति रहे चित चाहन के जन जीवत।
धाम सुदामा कह्यो हरि सों जेहि देखिए देखि दिगम्बति पीवत।
देखि जितैं जन चातक के घन चोंच पसारि कै पीवत।

चपलातिशयोक्ति—

जहां पर किसी कारण की चर्चा से ही कार्य हो जाय, वहाँ पर चपलातिशयोक्ति अलंकार होता है। उसे चंचलातिशयोक्ति भी कहते हैं।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मैं भी सीखने का करती उपचार स्वयं घुल जाती हूं।
धूमिलता फैला कर भर तम से सूखे सी सोंके जाती हूं।

अक्रमातिशयोक्ति—

जहाँ पर कारण और कार्य एक साथ हो वहाँ पर अक्रमातिशयोक्ति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ जहाँ हेतु चरचा हि तें काज होत ततकाल।
चंचलाति सम उक्ति सों भूषन कहत रसाल।।
२ जहाँ हेतु अरु काज मिलि होत जु एकहि साथ।
अक्रमातिशय उक्ति सो कहि भूषन कविनाथ।

कालसनते रामरे भाल विपम रघुनाथ।
दस सिर सिर भर से छूटे बोऊ एकहि साथ॥

रूपकातिशयोक्ति —

जहाँ पर उपमान से उपमेय का बोध हो वहाँ पर रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद कली दाड़िम दामिनी। सरद कमल ससि अहि भामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाय जनु राजू॥

अत्यन्तातिशयोक्ति—

जहाँ पर कारण के पूर्व ही कार्य हो जाना वर्णित किया जाय वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

मंगल मनोरथ की वाणी प्रथमहि तोहि,
कामधेनु कामतरु ते गनाइयतु है।
याते तेरे सब गुन गाइ को सकत कवि,
बुद्धि अनुसार कछु कछु गाइयतु है।

१ नाम कहत उपमेय को जहँ केवल उपमान।
रूपकातिशयोक्ति सो भूषन कहत सुजान।

२ जहाँ हेतु के प्रथम ही प्रगट होत है काज।
अत्यंतातिशयोक्ति सो कहि भूषन कविराज।

भूषन कहै को साहितन सिवराज
निज बखत बढ़ाइ करि तोहि ध्याइयतु है ।
दीनता कों डारि और अधीनता बिडारि
दीह दारिद कों मारि तरे द्वार आइयतु है ।

सापह्नवातिशयोक्ति —

जहाँ पर अपह्नुतियुक्ति रूपकातिशयोक्ति होती है वहाँ पर सापह्नवातिशयोक्ति अलंकार होता है । उदाहरणार्थ —

नहिं ससि मंडल पै लसै जिय पताक जिन जानु ।

तुल्ययोगिता —

जहाँ पर अनेक उपमेयों या उपमानों का एक ही धर्म वर्णित किया जाय वहाँ पर तुल्ययोगिता अलंकार होता है ।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

गुननि सों जगहु को बाँधि ध्याइयतु पुनि,
गुननि सों जगहु को बाँधि ध्याइयतु है
पाय पहि जगहु को रोज आइयतु अब
पाय पहि जगहु को रोज आइयतु है ।
भूषन भनत भन महाराज सिवराज तेरो,
रस रीस एक भाँति ही को ध्याइयतु है
दीहा के कहै तें कवि लोग ध्याइयतु है,
त्यों दीहा के कहै तें अरि लोग ध्याइयतु है ।

ऊपर तुल्ययोगिता अलंकार का सामान्य उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । इसके चार भेद माने जाते हैं (१) वर्ण्यों में समान धर्म का आरोप (२) अवर्ण्यों में समान धर्म का

१ हित अहितन सों एक सो जहँ बरनत व्यौहार ।
तुल्ययोगिता और सो भूषन ग्रन्थविचार ।

आरोप (३) वर्ण्यों की एकता में उत्कृष्ट गुणों का योग तथा (४) हित तथा अहित में समान धर्म का आरोप।

वर्ण्यों में समान धर्म का आरोप—

जहाँ पर अनेक उपमेयों का समान धर्म कथित हो वहाँ प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

सब कर संसय अरु अज्ञानू । मंद महीपन कर अभिमानू ।
भृगुपति केरि गरब गरुआई । सुनि मुनिवरन केरि कदराई ।
सिय कर सोच जनक परितापा । रानिन कर दारुन दुख दापा ।
संभु चाप बड़ बोहित पाई । चढ़े जाइ सब संग बनाई ।।

अवर्ण्यों में समान धर्म का आरोप—

जहाँ अनेक उपमानों में समान धर्म का आरोप किया जाय वहाँ पर द्वितीय तुल्ययोगिता अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

अमल कमल पियूष मयूख गुनपयोनिधि छीर सो पागे ।
कुन्दो की राति मैं कैरव के दल सेत सरोरुह छवि जागे ।
सारद हार तुषार पहार कपूर पै सारद [illegible] के आगे ।
ऐसे भये सब ही के बिलास सु राम महीपति के जस जागे ।।

वर्ण्यों की एकता में उत्कृष्ट गुणों का योग—

जहाँ पर वर्ण्यों कोसमान धर्म वाला वर्णित करके उन्हें उत्कृष्ट गुणों युक्त बताया जाय वहाँ तीसरी तुल्ययोगिता होती है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ वर्ण्यन को जहँ धर्म एक प्रथम कहत कवि लोग ।

२ धर्म अवर्ण्यन को जहाँ एकै विधि ठहराय
तुल्ययोगिता दूसरी ताहि कहैं कविराय ।

३ सम करिए उत्कृष्ट गुन बहु के इक महँ लाय
तुल्ययोगिता तीसरी ताहि कहैं कविराय ।

सौरभ में परिपूरन केतकी मालती, मौलसिरी और गुहू है।
धीरता में कल्पकेतन केसरि और गुरु है गनी समूह है।
दानक में 'रघुनाथ' कहै रति रंभा और गुरु है बेली महू है।
ऐसी रचनी बिधि भावती सोहि न तेरी पूछी पर जाय म्हूं है।

हितु तथा अहितु में समान धर्म का आरोप—

जहाँ पर हितु तथा अहितु मे समान धर्म का आरोप किया जाय वहाँ पर चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार होगा है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बंदौ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

दीपक—

जहाँ पर उपमेय तथा उपमान दोनों मे एक ही धर्म का आरोप किया जाय वहाँ दीपक अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कामिनि कंत सों जामिनी चंद सों दामिनि पावस मेघ घटा सों।
कीरति दान सों सूरति ज्ञान सों प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
भूषन भूषन सों तरुनी नलिनी नव पूषनदेव प्रभा सों।
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों।

दीपक अलंकार के निम्नलिखित भेद हैं (१) आवृत्ति दीपक (२) कारक दीपक, (३) माला दीपक तथा (४) देहरी दीपक।

१ हितु में अनहितु में जहाँ बरनिए एकै धर्म।

२ वर्ण्य अवर्ण्यन को धरम जहँ बरनत है एक।
ताको दीपक कहत हैं भूषन सुकवि बिबेक।

आवृत्ति दीपक:—

जहाँ पर एक ही अर्थ वाले पदों की अनेक बार आवृत्ति हो वहाँ पर आवृत्ति दीपक अलंकार होता है।[1] इसके तीन भेद होते हैं (१) पदावृत्ति दीपक (२) अर्थावृत्ति दीपक तथा (३) पदार्थावृत्ति दीपक।[2]

पदावृत्ति दीपक—

जहाँ पर एक पद की आवृत्ति कई बार हो, परन्तु अर्थ में भिन्नता हो, वहाँ पर पदावृत्ति दीपक अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बहै समिर सरिता बहै सिरताले बढ़ि कोस।
नीरज बरहिं बरांगना बरहिह सुभट रन रोष॥

अर्थावृत्ति दीपक—

जहाँ पर समान अर्थ वाले विभिन्न पदों का प्रयोग किया जाय, वहाँ पर अर्थावृत्ति दीपक अलंकार होता है।[4] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सिव सरजा तुव दान को करि को सकत बखान।
बढ़त नदीगन दान जल उमड़त नद गज दान॥

१ कहिं कौं औरै पद जहाँ फिरि फिरि करत बखान।
आवृत्ति दीपक ताहि कौं भूषन कहत सुजान॥

२ दीपक आवृत्ति तीन विधि पदावृत्ति एक जानु।
अर्थावृत्ति दूजो तृतीय पद अर्थावृत्ति जानु॥

३ अर्थ दोय पद एक की आवृत्ति करिए पीन।
पदावृत्ति दीपक तहाँ कहिए मति के पीन॥

४ भिन्न पृथक एकै अरथ जहाँ सु आवृत्ति नेत।
अर्थावृत्ति दीपक तहाँ कहैं सुकवि करि हेत।

पदार्थावृति दीपक —

जहाँ पर एक ही पद का एक ही अर्थ में अनेक बार प्रयोग किया जाय, वहाँ पदार्थावृति दीपक अलंकार होता है।[१] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अटल रहे हैं दिग अंतन के भूप धरि
रैयत को रूप निज देस पेस करि कै।
राना रह्यो अटल बहाना करि सुलह को
बाना धरि भूषन भनत गुन भरि कै।
हाड़ा रायठौर कछवाहे गौर और रहे,
अटल चकत्ता को चमाऊ धरि डरि कै।
अटल सिवा जी रह्यो दिल्ली को निदरि,
धीर धरि ऐंड धरि गढ़ धरि तेग धरिकै।

कारक दीप—

जहाँ पर अनेक क्रियाओं में एक ही कारण का योग दिखाया जाय वहाँ पर कारक दीपक अलंकार होता है।[२] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

बरत लियो सो जिगर, आयो बैठो पास
कुसल कह्यो निज भवन की आई लिए हुलास।

माला दीपक—

जहाँ पर दीपक और एकावली दोनों मिल जायें वहाँ पर माला दीपक अलंकार होता है।[३] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

१ पद अरु अर्थ दुहून की आवृति फिर फिर होय।
कहत पदार्थावृति तेहि दीपक सब कवि लोय॥
२ क्रम तें क्रिया अनेक को कर्ता एकै होय।
कारक दीपक ताहि को बरनत हैं सब लोय॥
३ दीपक अरु एकावली मिलै जहाँ ए दोय
बरनत कवि कोविद सकल माला दीपक होय॥

घन में सुन्दर बिजली सी बिजली में चपल चमक सी
आँखों में काली पुतली सी पुतली में श्याम झलक सी।
प्रतिमा में सजीवता सी बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में।

देहरी दीपक:—

जहाँ पर दो वाक्यों के बीच में एक ही क्रिया का प्रयोग हो वहाँ देहरी दीपक अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कहा राम ने अनुज करो तयार चिता को
उस पति को तू इसे मिली जो नहीं पिता को।
पिता मरण का शोक न होता दूर जाने का
लक्ष्मण हा है शोक पुत्र के मर जाने का॥

प्रतिवस्तूपमा—

जहाँ पर उपमेय और उपमान वाक्यों का भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा समान धर्म कथित हो वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साधु संग पायहु नहीं खल को बालपन जाय।
सुधा पियायहु अहि नहीं तजत गरल दुखदाय॥

दृष्टान्त—

जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों का धर्म बिंब प्रतिबिंब भाव से प्रकट किया जाय, वहाँ पर दृष्टान्त अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ परै एक पद बीच में दुहु दिसि लागै सोई।
सो है दीपक देहरी जानत है सब कोई॥
२ वाक्य न को जुग होत जहँ एकै अरथ समान।
जुदो जुदो करि भाषिए प्रतिवस्तूपमा जान॥
३ जुगल वाक्यगन को अरथ जहँ प्रतिबिंबित होत।
ताहि कहत दृष्टांत हैं भूषन सुकवि उदोत।

परौ प्रेम नद लाज के बूड़ि न आवत कोय
मधुप राजपद पाय के भौंर न मांगत सोय ॥

निदर्शना —

जहाँ दो वाक्यों में अर्थ वैभिन्य होता है परन्तु उनमें समता आरोपित की जाती है, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[1] निदर्शना अलंकार के पाँच भेद बताये जाते हैं (१) पहली निदर्शना, (२) दूसरी निदर्शना (३) तीसरी निदर्शना (४) चौथी निदर्शना और (५) पाँचवीं निदर्शना।

पहली निदर्शना—

जहाँ पर जो सो, जे, ते आदि पदों द्वारा असमान वाक्यों में समता का आरोप किया जाय वहाँ पर पहली निदर्शना होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कीरति सहित जो प्रताप सरजा में बहु
मार्तंड मध्य तेज चाँदनी सो जानी मैं।
सोभित उदारता सुशीलता सुभाव में सु
कंचन में मृदुता सुगंधता बखानी मैं।
भूषन कहत सब हिन्दुन को भाग फिरै
चढ़े तें कुमति चकत्ता निशान सानी मैं।
साहि के सुपूत सीवा करतार बैठ ऐंठ,
सिवा जू में सोई मेंड़ हिन्दुवान पानी मैं ॥

१ सहस वाक्य जुग अरथ को करिये एक आरोप।
भूषन ताहि निदर्शना कहत बुद्धि दै ओप ॥

दूसरी निदर्शना—

जहाँ पर एक ही क्रिया से एक अर्थ तथा अन्य अर्थ दोनों का बोध कराया जाय, वहाँ पर दूसरी निदर्शना होती है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

> चाहत निरगुन कौं आलमंत की बात।
> प्रगट करत निरगुन सगुन सिखा सिखावत बात॥

तीसरी निदर्शना—

जहाँ पर उपमेय के गुण का आरोप उपमान में किया जाय वहाँ तीसरी निदर्शना होती है।[2] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

> भारती की वेला नहीं कैसी है रमा का रूप
> केवल कथाओं में ही सुने चले आते हैं।
> सीता जी का शील सत्य वैभव सती का कहीं
> किसी ने लिखा ही नहीं ग्रन्थ ही बताते हैं।
> भीम दमयंती की सहज शीलता की कथा
> झूठी है कि सच्ची कौन जाने कवि गाते हैं।
> इन्दुपुर वासिनी प्रकाशनी मल्हार वंश
> मातु श्री अहिल्या में सभी के गुन पाते हैं॥

चौथी निदर्शना—

जहाँ पर पदार्थों के सद् या असद् व्यवहार से ही सद् या असद् का ज्ञान हो, वहाँ पर चौथी निदर्शना होती है।[3] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

१ एक क्रिया सों भिन्न अरथ और अर्थ को ज्ञान।
ताहू सो जु निदर्शना भूषन सुकवि सुजान।
२ आरोपिय गुन उपमेय को उपमानहिं के अंग।
ताकहं द्वितिय निदर्शना कहिए सुमति उमंग॥
३ अपने सद् व्यौहार तें औरहिं सिखवै ज्ञान
सो सद् अर्थ निदर्शना मानें सब बुद्धिमान।

पद कर हियमुख चख समताई । पाय कमल अहिमिनि नहिं ताई ।
सीस सीस वसि बस सिरताजै । नमि को चलै ऊ च पद पाजै ॥

पाँचवीं निदर्शना—

जहाँ पर सत् या असत् क्रिया के द्वारा सत् या असत् का बोध कराया जाय वहाँ पाँचवीं निदर्शना होती है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

राज विरोधी नसत है यों जग को दरसात ।
चंद उदय तें कमल कर, छिन छिन छीजत जात ॥

अर्थान्तरन्यास—

जहाँ पर काव्य में प्रस्तुत होने वाले अर्थ की पुष्टि के लिए किसी दूसरे अर्थ की चर्चा हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[2] यह दो प्रकार का होता है। प्रथम म सामान्य की पुष्टि विशेष से और द्वितीय में विशेष की पुष्टि सामान्य से की जाती है। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

सामान्य की पुष्टि विशेष से—

कारन ते कारज कठिन होय दोष नहिं मोर ।
कुलिश अस्थि तें उपजो लोह कराल कठोर ।

विशेष की पुष्टि सामान्य से—

धुरि चढ़ी मन पीन प्रसंग ते कीच भई जल दंपत पाई ।
फूल मिलै नृप पै पहुचे कुमि काटन संग अनेक ययाई ।

१ असत क्रिया मिस सों असत् अर्थ जनावै कोय ।
पंचम असत् निदर्शना तहि भाषत सब कोय ॥
२ कह्यो अर्थ ताही लिये और अर्थ उल्लेख ।
सो अर्थान्तरन्यास सो कहि सामान्य विशेष ॥

चंदन संग कुबास सुगंध हूँ नीच प्रसंग सही कदराई ।
"दास" जू देखो सही सब ठौरन संगति को गुन होय सवाई ।

व्यतिरेक:—

जहाँ पर समान शोभा से युक्त दो वस्तुओं में से एक का वर्णन बढ़ा कर किया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।[1] यह अलंकार प्रायः दो प्रकार का होता है। प्रथम जहाँ उपमेय का वर्णन बढ़ा कर किया जाय तथा द्वितीय जहाँ उपमान का वर्णन घटा कर किया जाय। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

उपमेय की उत्कृष्टता—

दारुन दुगुन दुरजोधन तें अवरंग
भूषन भनत जग राख्यो छल मढ़ि कै ।
धरम धरम बल भीम पैज पत्थ मति नकुल
अकिल सहदेव तें हूँ बढ़ि कै ।
साहि के सिवा जी गाजी भाज्यो दिल्ली हू तें,
चंड पांडवनिहू तें पुरुषारथ सु बढ़ि कै ।
सूने लाख भौन तें कढ़े वे पाँच राति में
दू द्योस लाख चौकी ते अकेलो आयो कढ़ि कै ।

उपमान की हीनता—

जन्म सिंधु पुनि बंधु विष दिन मलीन सकलंक ।
सियमुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ।

सहोक्ति:—

जहाँ पर 'सह' शब्द या अर्थ सूचक अन्य शब्दों से यह भाव प्रकट किया जाय

१ सम छवि वाले दुहुन में जहँ बरनत बढ़ि एक ।
भूषन कवि कोविद सकल ताहि कहत व्यतिरेक ।

वहाँ पर सहोक्ति अलंकार होता है।[1] इस अलंकार का उदाहरण निम्नलिखित है:—

जनक निरासा बुध नृपन की आसा
पुरजन की सुवासी लोक रनिवास प्रभु के।
सीरम के गरब परर भरपूर सब भ्रम,
मोह आदि मुनि कौसिक के लघु के।
'हरिचंद' सब देव मन के मुदित भार
विकल विचार सबै सुरनारी प्रभु के।
लंका मिथिलेस की सिया के उर एक सबै
तोरि डारे रामचंद्र साथै हर धनु के॥

विनोक्ति—

जहाँ पर बिना किसी वस्तु के किसी वस्तु को श्रेष्ठ या हीन वर्णित किया जाय वहाँ पर विनोक्ति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

करिये सीतल सुकल मनि देखहु मन निसंक।
सरस मनोहर मधु बहु मुख मयंक बिनु अंक।

समासोक्ति —

जहाँ पर किसी अन्य वस्तु का वर्णन करने से किसी अन्य वस्तु का बोध हो वहाँ पर समासोक्ति अलंकार होता है।[3] इसे सामान्यतः दो रूपों में (१) श्लिष्ट शब्दों द्वारा तथा (२) अश्लिष्ट शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

१ वस्तुन को भासत जहाँ जन रंजन सह भाउ।
ताहि कहत सहउक्ति हैं भूषन जे कवि राउ।

२ बिना कछू जहँ बरनिये कै नीको कै हीन।
ताहि कहत बिनउक्ति हैं भूषन सुकवि प्रवीन॥

३ बरनत कीजै आन को ज्ञान आन को होइ।
ताहि समासोक्ति कहत भूषन कवि सब कोई॥

(क) तुही सांच द्विराज है तेरी कला प्रमान।
तो पर सिव किरपा करी जान्यों सकल जहान ॥

(ख) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा बाला
रे कब से जाग रही वह आंसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल देह लता कुम्हलाई
विवसना लाज में लिपटी सांसों में शून्य समाई ॥

पर्यायोक्ति—

जहाँ पर किसी इच्छित बात का भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाता है, वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—(१) किसी बात को सीधे न कहकर रचनापूर्वक वर्णित करना तथा (२) किसी कार्य की पूर्ति किसी अन्य आधार से करना।[1] इस अलंकार के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) लाली मुक्तावलि मूलनि सों झुकि जाति कवी ललनानि झकोरे।
चंचल अंचल की चपला चल बेनी बड़ी सो पड़ी चित चोरे।
या विधि भूलत देखि भयो तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे।
भूलत है हियरा हरि को हिय माहिं तिहारे हार के हिंडोरे ॥

(ख) देखन मिस मृग विहग तरु फिरें बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि बाढ़ी प्रीति न थोरि ॥

परिकर—

जहाँ पर अभिप्राय सहित विशेषण का प्रयोग हो वहाँ पर परिकर अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ परयायोक्ति प्रकार है कछु रचना सों बात।
मिस करि कारज साधिए जो हितचितहि सोहात।
२ साभिप्राय विशेषनि परिकर भूषन जान।

तमु निसिचर कायर वचन अहि अहार मन मोर ।
तुलसी हरि भये पच्छधर ताते कहत सब मोर ॥

परिकरांकुर:—

जहाँ पर अभिप्राय सहित विशेष्य का प्रयोग हो, वहाँ पर परिकरांकुर अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

वामा भामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस ।

व्याजस्तुति—

जहाँ पर स्तुति में निन्दा और निन्दा में स्तुति आभासित हो वहाँ पर व्याजस्तुति अलंकार होता है।[2] यह अलंकार चार रूपों में मिलता है (१) निन्दा से स्तुति, (२) स्तुति से निन्दा (३) एक की निन्दा से दूसरे की निन्दा तथा (४) एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति। इन चारों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) पीरी पीरी होति तुम देत हो मगाय हमें
सुवरन हम सों परखि करि लेत हो ।
एक पल ही में लाख रूपन सों लेत लोग
तुम राजा ह्वै के लाख देबे को सचेत हो ।
भूषन भनत महाराज सिवराज बड़े
दानी दुनी ऊपर कहाए कौने हेत हो ।
रीझि हंस हाथी हमें सब कोऊ देत
कहा रीझि हंसि हाथी एक तुमही पै देत हो

(ख) राम साधु तुम साधु सुजाना । राम मातु तुम भलि पहचाना ।

१ साभिप्राय विसेष्य सों परिकर अंकुर नाम ।
२ निंदा में स्तुति कहत जहिं, स्तुति निंदा में होइ ।
व्याज स्तुति तासों कहैं भूषन कवि सब कोइ ॥

(ख) गई निरखई सौं गई 'दास' जहीवे मूल।
कमल मुखो के बिन कियो हिय कठिनई अतुल।

(ग) या वृन्दावन विपिन में बड़भागी मम काम।
बिन मुरली की तान सुनि किय हर्षित मन आम॥

आक्षेप—

जहाँ पर कथन के प्रारम्भ में ही उसका निषेध किया जाय, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।[1] इसके तीन भेद होते हैं (१) उक्ताक्षेप, (२) निषेधाक्षेप और (३) व्यक्ताक्षेप।[2]

उक्ताक्षेप—

जहाँ पर पहले किसी बात को कहने के बाद फिर उसका निषेध किया जाय वहाँ पर उक्ताक्षेप अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

तुव मुख विमल प्रसन्न अति रह्यो कमल सो फूलि।
नहिं नहिं पूरन चन्द सो कमल कह्यो मैं भूलि॥

निषेधाक्षेप—

जहाँ पर किसी बात का निषेध करने के बाद फिर उसी की पुष्टि की जाय, वहाँ पर निषेधाक्षेप अलंकार होता है।[4] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

१ कारज के आरंभ ही जहँ कीजे प्रतिषेध।
आक्षेप तासों कहत ताकु तीन हैं भेद॥
२ उक्ताक्षेप सु प्रथम है दुतिय निषेधाक्षेप।
तीजो सब कवि जन कहैं सुन्दर व्यक्ताक्षेप।
३ जहाँ कथित निज बात को समुझि करिय प्रतिषेध।
उक्ताक्षेप तहाँ कहैं कविजन मतिउत्सेध।
४ पहले करै निषेध जो फिर ठहरावै ताहि।
कहत निषेधाक्षेप तेहि कविमन सकल सराहि।

हौं न कहति तुम जानि हौ, लाल काल की बात।
अँसुवा उघुगन परत है होन चहत उतपात॥

व्याक्षेप—

जहाँ पर प्रकट में कार्य की इच्छा तथा अव्यक्त रूप में उसका निषेध किया जाता है, वहाँ व्याक्षेप अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा।
छिद्र सो प्रकट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परछाहीं॥

सामान्य निबन्धना—

जहाँ किसी सामान्य कथन के माध्यम से विशेष का बोध कराया जाता है, वहाँ सामान्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

आनन चंद निहारि निहारि जहाँ तन औ धन जीवन वारैं।
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए मति को गति ताहि बिसारैं।
क्यों करि वौं मुरली मनि कुंडल मोर पखा मतिराम बिसारैं।
ते बनि के ब्रजराज बने, गृह काज करें अरु लाज सँभारैं॥

विशेष निबंधना—

जहाँ पर किसी विशेष कथन के माध्यम से सामान्य का बोध कराया जाय, वहाँ पर विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। उदाहरणार्थ —

कहि तेहि तरु बासहि सुने सुने बोय। तब में बाके मूल को करत है नहि स्नेय॥

सारूप्य निबंधना—

जहाँ पर अप्रस्तुत के कथन के माध्यम से प्रस्तुत का बोध कराया जाय, वहाँ पर सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

१ करिबे की आज्ञा प्रकट छिप्यो निषेध जु होय।
व्याक्षेप कहैं तहाँ कवि कोविद सब कोय।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जियै कि लवण पयोधि मराली ।
नव रसाल वन बिहरन सीला । सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥

विभावना:—

जहाँ पर बिना कारण के ही कार्य का होना वर्णित हो वहाँ पर विभावना अलंकार होता है।[1] इसके छै भेद होते हैं (१) प्रथम विभावना (२) द्वितीय विभावना, (३) तृतीय विभावना (४) चतुर्थ विभावना (५) पंचम विभावना, (६) षष्ठ विभावना।

प्रथम विभावना—

जहाँ पर कारण के अभाव में कार्य का सिद्ध होना वर्णित हो, वहाँ पर प्रथम विभावना अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साहितनै सिवसाहु की सहज टेव यहु ऐन ।
अनरीझे दारिद नसहि अनखीझे अरि सैन ॥

द्वितीय विभावना—

जहाँ पर अपूर्ण कारण होने पर भी कार्य पूर्ण हो जाना दिखाया जाय वहाँ पर द्वितीय विभावना अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

दीन न हो गोपे सुनो हीन नहीं नारी कभी
भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से ॥

१ भयो काज बिनु हेतु ही बरनत है जेहि ठौर ।
तहँ विभावना कहत हैं भूषन कवि सिरमौर ।
२ कारन बिन ही होत है कारज कीनो सिद्ध ।
३ हेतु अपूरन ते जहाँ कारज पूरन होय ॥

आया जब मार मुझ मारने को बार बार,
अप्सरा अलीकिनी सजाये हेम तीर से ।
तुम तो यहाँ थी व्याम भीर हो तुम्हारा
कहाँ चूका मुझे पीछे कर पंच सर बीर से ।

तृतीय विभावना—

जहाँ पर प्रतिकूल परिस्थिति के होने पर भी कार्य की पूर्ति होती दिखायी जाती है वहाँ पर तृतीय विभावना अलंकार होता है ।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तुम सेमो मालिन रहौ, बाँधो पुरुष बनाय ।
तऊ काम बलवन्त को बरावरी उठि जाय ।

चतुर्थ विभावना.—

जहाँ पर यथार्थ कारण के अतिरिक्त किसी अन्य कारण द्वारा कार्य की पूर्ति दिखायी जाय वहाँ पर चतुर्थ विभावना अलंकार होता है ।[2] इसका उदाहरण निम्न लिखित है—

चम्पक की कलिका तें सुवास सुमालती की पसरे सुख चैन री ।
कोल के कोष ते चप गुलाब की आवत है लखि दायक चैन री ।
'गोकुलनाथ' कुहू तिथि में यह राका की राति की चहि बहेन री ।
हेतु कपोत के कंठ आली कहैं ते कल कोकिल की वर बैन री ॥

पंचम विभावना:—

जहाँ पर प्रतिकूल कारण से कार्य की सिद्धि वर्णित की जाय वहाँ पर पंचम विभावना अलंकार होता है ।[3] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

१ प्रतिबंधक के होत हू होय काज जेहि ठौर ॥
२ जाको कारण को नहीं उपजत तातैं तीन ।
३ बरनत हेतु विरुद्ध तें उपजत है जहँ काज ॥

लाल तिहारे रूप की लिपट अनोखी चाल।
अधिक सलोनी है तऊ लगत मधुर अंखियान ॥

षष्ठ विभावना:—

जहाँ पर कार्य से कारण की उत्पत्ति होती है, वहाँ पर षष्ठ विभावना अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भयो सिंधु ते बिधु सुकवि बरनत बिना विचार।
उपज्यो तौ मुख इन्दु ते, प्रेम पयोधि अपार ॥

विशेषोक्ति—

जहाँ पर समर्थ कारण के होते हुए भी कार्य पूर्ण न होना दिखाया जाय वहाँ पर विशेषोक्ति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

नासी इन लोचनन की उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहें तऊ न प्यास बुझाय ॥

व्याघात—

जहाँ पर किसी कार्य के कर्ता द्वारा कोई अन्य कार्य होना बताया जाय, वहाँ पर व्याघात अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ कारज सों जहं होति है, कारन की उतपत्ति ॥

२ जहाँ हेतु समरत्थ हू प्रकट होत नहिं काज।
ताहि विसेषोक्ती कहत भूषन कवि सिरताज।

३ और काज करता जहां करै औरई काज।
ताहि कहत व्याघात हैं भूषन कवि सिरताज ॥

तासों काहूत जगत के बंधन दीन दयाल ।
ता चितवनि सों तियन के मन बांधत गोपाल ।

असंगति—

जहाँ पर कारण कार्य आदि में विरोधाभास दिखाया जाय, वहाँ पर असंगति अलंकार होता है।[1] इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम असंगति, (२) द्वितीय असंगति, और (३) तृतीय असंगति।

प्रथम असंगति—

जहाँ कारण अन्य स्थान पर तथा कार्य अन्य स्थान पर हो, वहाँ प्रथम असंगति अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

कारज कहुँ कारन कहुँ असरन कहत बनै न।
अलि तो पीवति रवत पै होत रकत दुग नैन।

द्वितीय असंगति—

जहाँ पर किसी कार्य की आवश्यकता कहीं हो और उसे किया जाय अन्यत्र वहाँ पर द्वितीय असंगति अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बंसी धुन सुनि ब्रज बधू चली बिसार बिचार।
मुख भूषण पहिरे पगनि भुजन लपेटे हार॥

१ कारन कारज को जहाँ लखो विरोधाभास ।
ताहि असंगति जानिये कविजन सहित हुलास ।

२ हेतु अनत ही होत जहिं काज अनत ही होइ ।
ताहि असंगति कहत सुकवि सिरमौर ।

३ और ठौर करणीय से करै और ही ठौर ।
ताहि असंगति औपहू कहत सुकवि सिरमौर ।

तृतीय असंगति—

जहाँ पर कोई कार्य आरम्भ किया जाय, परन्तु सिद्ध कोई दूसरा काम हो जाय, वहाँ पर तृतीय असंगति अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तात पितहि तुम प्राण पियारे देखि मुदित नित चरित तुम्हारे।
राज देन कहुँ शुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥

विरोधाभास—

जहाँ पर यथार्थ में विरोध न हो परन्तु विरोध का आभास हो, वहाँ पर विरोधाभास अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

चरन कमल बंदौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कुछ दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार बार बंदौ तेहि पाई॥

कारणमाला—

जहाँ कारण से उत्पन्न कार्य क्रमशः कारण बनता जाता है वहाँ पर प्रथम कारणमाला[3] तथा जहाँ कार्य से उत्पन्न कारण कार्य बनता जाता है वहाँ पर द्वितीय कारणमाला[4] अलंकार होता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

१ करन लगै औरई कछू करै और ही काज।
  यहाँ असंगति होत है कहै महाकविराज।
२ जहँ विरोध सो लागिए सांच विरोध न होय।
  तहँ विरोधाभास कहि बरनत हैं सबकोय॥
३ कारन ते कारज प्रगटि कारन ह्वै ह्वै जात।
  तेहि कारनमाला कहैं जे कविवर विख्यात।
४ कारज को कारन दुसो कारज ह्वै ह्वै जाय।
  कारनमाला तासु को कहैं सकल कविराय।

प्रथम कारणमाला—

धन से धरम धरम से जीवन जीवन से आनंद ।
एक धन से ही पा सकते नर पूरन परमानंद ।

द्वितीय कारणमाला—

राम कृपा ते परम पद कहत पुराने कोय ।
राम कृपा है भक्ति ते भक्ति भाग्य तें होय ।

एकावली—

जहाँ पर किसी वर्णन को आरम्भ करके छोड़ दिया जाय और अर्थक्रम न भंग हो, वहाँ पर एकावली अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सोभित सो न सभा जहँ वृद्ध न वृद्ध न सो जु पढ़ै कछु नाहीं ।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न हियैं मन माहीं ।
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही ।
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसी छल छाहीं ॥

विषम—

जहाँ पर असम्बद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध दर्शाया जाय, वहाँ पर विषम अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम विषम (२) द्वितीय विषम और (३) तृतीय विषम ।

प्रथम विषम—

जहाँ पर बेमेल वस्तुओं का वर्णन किया जाय वहाँ पर प्रथम विषम अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ प्रथम बरनि पुनि छोड़िये जहाँ अरथ की पाँति ।
बरनत एकावलि कहैं कवि भूषन इह भाँति ।
२ अनमिल अनमिल वस्तु को, वर्णन है जेहि ठौर ।
प्रथम विषम तेहि कहत हैं सकल सुकवि सिरमौर ।

मैं के या विनती करी, नाम जानि मुख बैन ।
कहाँ मधुर मृदु मुख कहाँ, कठिन काठ से बैन ।

द्वितीय विषम—

जहाँ कारण और कार्य में रूप वैभिन्न्य हो वहाँ पर द्वितीय विषम अलंकार होता है।[१] इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम ।
इनते भइ सित कीरति अति अभिराम ॥

तृतीय विषम—

जहाँ सुप्रयत्न करने पर भी कुफल की प्राप्ति दिखायी जाय वहाँ पर तृतीय विषम अलंकार होता है।[२] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

दीप सिखा रंग पीत ते धूम कढ़त अति स्याम ।
सित मुकता जाये जगत प्रगट आपते स्याम ॥

सम—

जहाँ पर दो वस्तुओं की पारस्परिक एकता का वर्णन औचित्यपूर्ण ढंग से किया जाय वहाँ पर सम अलंकार होता है।[३] इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम सम, (२) द्वितीय सम और (३) तृतीय सम।

१　कारन औरै रूप की कारज औरै रूप ।
　विषम अलंकृत दूसरो बरनत है कवि भूप ॥

२　और भलो उद्यम कियो होत बुरो फल आय ।
　ताहि विषम तीजो कहत भूषित कविराय ॥

३　जहाँ जुगल अनुरूप को करिये उचित बखान ।
　सम भूषन तासौं कहत भूषन सकल सुजान ॥

प्रथम सम—

जहाँ जैसा सम्बन्ध हो, यदि वैसा ही वर्णित किया जाय, तो वहाँ प्रथम सम अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

जेहि विधि रच्यो गोपाल तेइ ठकुराइन राधिका।
लखि यह होत निहाल समसरि जुगुल किशोर की।

द्वितीय सम—

जहाँ पर कारण और कार्य की समरूपता का वर्णन किया जाय वहाँ पर द्वितीय सम अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मधुप बालपन ही पयो दूध पूतना केर।
ताही ते कारी भयो यामें कछू न फेर॥

तृतीय सम—

जहाँ पर उद्यम से किसी कार्य का पूर्ण होना बताया जाय, वहाँ पर तृतीय सम अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अति उतंग गिरि पादप लीलहिं लेहिं उठाय।
आनि देहिं नल नीलहिं रचहिं ते सेतु बनाय॥

१ बरनत जहाँ विशुद्ध अति यथा योग्य को संग।
प्रथम समालंकार तेहि भाषत बुधि उतंग॥

२ कारन के सम बरनिय कारज को जेहि ठौर।
देखि सरिस गुन रूप तहँ बरनत हैं 'सम' और॥

३ ताकी सिद्धि अनिष्ट बिनु, उद्यम जाके अर्थ।
ताकी सम तीजो कहैं जिनकी बुद्धि समर्थ॥

सार—

जहाँ पर वर्ण्य विषय का निरन्तर उत्कर्ष अथवा अपकर्ष वर्णित हो वहाँ सार अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सिला कठोरी काठ तें तातें लोहु कठोर।
ताहू तें कीन्हौं कठिन मन तुव नंदकिसोर॥

यथाक्रम—

जहाँ पर क्रमानुसार किन्हीं वस्तुओं का वर्णन हो तथा फिर उसी क्रम से उनसे सम्बन्धित वस्तुओं का वर्णन किया जाय वहाँ पर यथाक्रम अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अमी हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

परिसंख्या—

किसी वस्तु को यदि किसी एक स्थान से हटाकर अन्य किसी विशेष स्थल पर रखा जाय, वहाँ पर परिसंख्या अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

केसव ही कुटिलता संचारिय में संक।
लखौ राम के राज में इक ससि माहिं कलंक॥

१ वर्नन को उतकर्ष जहँ आगे आगे होत।

२ क्रम सों कहि तिनके अरथक्रम सों बहुरि मिलाय।
यथा संख्य यों कहत हैं भूषन जे कविराय।

३ अनत मेटि कछु वस्तु जहँ बरनत एकहि ठौर।
ताहि कहत परिसंख्य हैं भूषन कवि सिरमौर।

मुद्रा—

जहाँ पर किसी वस्तु के प्रस्तुत विवरण से कोई अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है वहाँ पर मुद्रा अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

रविकुल विद्याधर सकल कलाधर राजराज बर बेस बनें।
गनपति सुखदायक पसुपति लायक सूर सहायक कौन गनै॥
सेनापति बुधजन मंगल गुरुगन धर्मराज मन बुद्धि घनी।
बहु सुभ मनसाकर करुनामय अरु सुरतरंगिनी सोभ सनी॥

काव्यलिंग—

जहाँ पर समर्थन करने योग्य वस्तु का समर्थन किया जाय वहाँ पर काव्यलिंग अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अब न मोहि डर बिघन को करत कौनहू काज।
गननायक गौरी तनय भयो सहायकराज।

अल्प—

जहाँ पर अल्पता के वर्णन में चमत्कारिकता का समावेश हो या जहाँ लघु आधार से भी लघु आधेय का वर्णन हो, वहाँ पर अल्प अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अब जीवन की है कपि आस न मोहि।
कन गुरिया की मुदरी कंगना होहि।

१ प्रकृत अर्थ में मिलहिं पद औरहु नाम प्रकास।
मुद्रा तासौं कहत हैं कवि जन सहित हुलास।
२ सिद्धाइबे को अरथ है ताको करत सिद्धाय।
काव्यलिंग तासौं कहत भूषन जे कविराय।
३ अति छोटे आधेय ते अति छोटो आधार।
ताहि अल्प भूषन कहै जे सुबुद्धि आधार॥

अधिक:—

जहाँ पर आधार से आधेय का या आधेय से आधार की अधिकता का वर्णन किया जाय वहाँ पर अधिक अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।

सूक्ष्म:—

जहाँ पर दूसरे के हृदय की बात जान कर उसी के अनुसार संकेतों द्वारा उत्तर दिया जाय वहाँ पर सूक्ष्म अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। प्रिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज प्रिय कह्यो तिनहिं सिय सैननि॥

तद्गुण:—

जहाँ पर अपने गुण का परित्याग कर अन्य के गुण को स्वीकारना बताया जाता है वहाँ पर तद्गुण अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
हरे बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति॥

१ जहाँ बड़े आधार ते बरनत बड़ि आधेय।
ताहि अधिक भूषन कहत जानि सुकवि प्रमेय।

२ पर के मन की जानि गत अभिप्राय लिये काज।
करत ततच्छिन कहत हैं सूच्छम सो कविराज।

३ जहाँ आपुनो रंग तजि गहै और को रंग।
तासों तद्गुन कहत हैं भूषन बुद्धि उतंग।

अतद्गुण—

जहाँ पर संगति में आने वाली वस्तु का कोई गुण ग्रहण न करना वर्णित हो वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

लाल बाल अनुराग सों रंगत रीझ सब अंग ।
तऊ न छाड़त ऊजरो रूप साँवरो रंग ।

पूर्व रूप—

जहाँ पर पहले रूप का लोप तथा फिर उसकी प्राप्ति का वर्णन होता है, वहाँ पर पूर्व रूप अलंकार होता है।[2] यह दो प्रकार का होता है (१) प्रथम पूर्व रूप और द्वितीय पूर्व रूप।

प्रथम पूर्व रूप—

जहाँ पर संगति से आये हुए रूप के लुप्त हो जाने पर पूर्व रूप का प्रकट होना दिखाया जाय, वहाँ पर प्रथम पूर्वरूप अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

लसत नीलमनि होत अति कर सिंधुर सहरात ।
मुक्ता को मुक्ता बहुरि, लखो तोहि मुसुकात ॥

द्वितीय पूर्व रूप—

जहाँ पर वस्तु का विनाश हो जाने पर भी उसके समान गुण वाली दूसरी वस्तु से पिछली का गुण बना रहे, वहाँ पर द्वितीय पूर्व रूप अलंकार होता है।[4] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ नहिं संगत में और को गुण जहाँ गहि लेत ।
ताहि अतद्गुन कहत हैं भूषन सुकवि सुचेत ।
२ प्रथम रूप मिटि जाति जहँ फिर वैसोई होय ।
भूषन पूरब रूप सो कहत सयाने लोय ।
३ बहुरि मिले गुन आपनों जहाँ आन के संग ।
पूरब रूप तहाँ प्रथम भाषै सुमति उतंग ।
४ वस्तु विनास हू, बहुरि तदपि नीकली होत ।
दूजो पूरबरूप तेहि बरनत पंडित गोत ।

बदन चन्द की चाँदनी देह दीप की जोति।
राति बितेहू काज नहि, भौन राति सी होति।

मीलित—

जहाँ पर समान गुण वाली वस्तु में मिल जाने पर कोई भी स्पष्टता से कथित न की जा सके, वहाँ पर मीलित अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

पान पीक अधरान में सखी लखी नहिं जाय।
कजरारी अँखियान में कजरारी न लखाय।

उन्मीलित—

जहाँ पर पहले कोई समान गुण वाली वस्तु दूसरी में मिल जाय तथा बाद में किसी प्रकार पहचानी जाय, वहाँ पर उन्मीलित अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

चंपक तन बन बरन भर रह्यो रंग मिलि रंग।
जानो जात सुबास ही केसर लाई अंग।

सामान्य—

जहाँ पर दो वस्तुओं में इतनी समानता दिखाई जाय कि उनका भेद न स्पष्ट हो, वहाँ सामान्य अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भरत राम एकै अनुहारी सहसा लखि न सकै नर नारी।
लखन शत्रुसूदन एक रूपा नखसिख ते सब अंग अनूपा॥

१ सदृस वस्तु में मिलि जहाँ होत न भेद लखाइ।
मीलित तासो कहत हैं भूषन जे कबिराइ।

२ सदृस वस्तु में मिलत पुनि जानत कौनहु हेत।
उनमीलित तासों कहैं भूषन सुकवि सुचेत।

३ भिन्न रूप जहँ सदृस में भेद न जान्यो जाइ।
ताहि कहत सामान्य हैं भूषन कवि समुदाय।

विशेषक—

जहाँ पर दो वस्तुओं में समानता होने पर भी किसी प्रकार का भेद न दिखायी दे, वहाँ पर विशेषक अलंकार होता है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मन मोहन मनमथन को हूँ कहतो को जान।
जो इन्दु कर कुसुम को होतो बान समान।

विशेषकोन्मीलित—

जहाँ पर विशेषक और उन्मीलित दोनों का बोध मिले वहाँ विशेषकोन्मीलित अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

ससि में मुख में भेद कछु नेकु न परत लखाय।
बिन कलंक अरु आस सें सिय मुख जानो जाय।

प्रश्नोत्तर—

जहाँ पर पहले कोई बात पूछी जाय और तब उसका उत्तर दिया जाय वहाँ पर प्रश्नोत्तर अलंकार होता है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

को दाता को रन चढ़ो को जग पालन हार।
कवि भूषन उत्तर दियो सिव नृप हरि अवतार॥

यहाँ पर प्रमुख शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण विद्वानों ने दिये हैं परन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। एक कवि की अभिव्यक्ति की कला

१ भिन्न रूप जहँ सदृश में लहिये कछुक विसेष।
ताहि विशेषक कहत हैं भूषन सुमति उलेख।
२ जहाँ विशेषकोन्मीलित है मिलि भेदहि प्रगटे आय।
तंह विशेषकोन्मीलित है कहत सुकवि समुदाय॥
३ कोऊ पूछे बात कछु, कोऊ उत्तर देत।
प्रश्नोत्तर ताको कहत भूषन सुकवि सचेत॥

2943

एवं प्रौढ़ता की माप करने के लिए अलंकार एक महत्वपूर्ण मान है। इसे सदैव से ही भाषा में आकर्षण उत्पन्न करने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त अलंकार को काव्य की एक शैली विशेष के रूप में भी मान्य किया जाता है जिसके अनुसार काव्य विशिष्ट अर्थ से युक्त शब्दों का संयोग होता है जो अलंकरण की शैली के कारण सौन्दर्ययुक्तता प्राप्त करता है।[1]

प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने अलंकार शास्त्र के विकास की परम्परा को विशेष रूप से समृद्ध बनाने में योग दिया। जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम शास्त्री भरत मुनि ने चार अलंकार ही मुख्य स्वीकार किये हैं। क्रमशः विकास को प्राप्त होते होते इन अलंकारों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच गयी। यह तथ्य ही इस बात का प्रमाण है कि अलंकार सिद्धांत को आचार्य भामह द्वारा आरम्भ किये जाने के पश्चात् निरन्तर मान्यता मिलती रही, एवं कवियों द्वारा ग्राह्य स्वीकार किया गया। अलंकार सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादकों में भामह के अतिरिक्त दंडी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि हैं। इस सिद्धांत की प्रधानता का एक प्रमाण यह भी है कि बहुधा समीक्षा शास्त्र को अलंकार शास्त्र ही कहा जाता है। संक्षेप में, संस्कृत समीक्षा द्वारा निर्धारित प्राचीन साहित्यिक मानदंडों में से एक प्रमुख मान 'अलंकार' है।

रीति सिद्धांत

रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य वामन ने किया। वामन के अतिरिक्त भी संस्कृत के अनेक साहित्य शास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में रीति की विवेचना की है। इन शास्त्रज्ञों विशेष रूप से वामन ने रीति सिद्धांत की वैज्ञानिक और शास्त्रीय व्याख्या करते हुए उसकी महत्ता की घोषणा की है। उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। 'रीति' का शाब्दिक अर्थ मार्ग या पंथ है।

1 *Poetry consists of a verbal composition in which a definite sense must prevail and which must be made charming by means of certain terms of expressions to which the name of Poetic figure is given"* *(History of Sanskrit Poetics, Vol II, S K. Dey, Page 47)*

प्राचीन युग में काव्य क्षेत्रीय दो मार्ग माने जाते थे । प्रथम वैदर्भ मार्ग एवं द्वितीय गौड़ीय मार्ग । इनमें से प्रथम स्वीकार्य एवं द्वितीय त्याज्य माना जाता था । वामन ने तीन रीतियाँ मानी । प्रथम वैदर्भी, द्वितीय गौड़ी एवं तृतीय पाँचाली । इन तीनों मार्गों के गुणों की उन्होंने पृथक-पृथक व्याख्या की है । राजशेखर ने भी अपने 'कर्पूरमंजरी' नामक ग्रन्थ में ये ही तीन रीतियाँ मानी हैं । रुद्रट ने इन तीन रीतियों में एक चौथी रीति 'लाटीया' को जोड़ दिया । भोज ने इनके आगे भी 'आवन्ति' तथा मागधी' रीतियाँ मान्य कीं ।

इस प्रकार से रीतियों की संख्या तो यद्यपि छै हो गई, परन्तु इनमें से वामन द्वारा मान्य तीन रीतियों को ही अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत किया गया । इस प्रकार से इस रीति सिद्धांत को परवर्ती काल में व्यापक प्रसार मिला । ऐतिहासिक दृष्टि से रीति सिद्धांत का प्रवर्तन नवीं शताब्दी में किया गया यद्यपि उससे पहले भी विद्वानों को उस का ज्ञान था ।

"रीति" की व्याख्या:—

रीति का प्रयोग सर्व प्रथम वामन ने किया है । वामन ने ही सर्व प्रथम "रीति" का विश्लेषण किया । वामन के अनुसार रीति उसे कहते हैं जो काव्य शोभा कारक वस्तार्थ वर्णों से युक्त पद रचना हो । वामन के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने बताया कि सम्यक पद रचना को ही रीति कहते हैं । आनन्दवर्धन के पश्चात् राजशेखर ने रीति की व्याख्या करते हुए उसे वचन विन्यास का क्रम[1] कहा है । कुन्तक ने रीति को कवि प्रस्थान हेतु बताया है । भोज ने रीति का अर्थ कवि गमन मार्ग बताया है । मम्मट के विचार से रीति नियत वर्ण व्यापार है । विश्वनाथ ने "पदों की संघटना" को रीति कहा है ।[2]

रीति विभाजन के आधार:—

वामन ने स्वयं यह निर्देशित किया है कि विभिन्न रीतियों का नामकरण उनके विशिष्ट प्रदेशों में विशेष प्रयोगों के आधार पर किया गया है । उदाहरण के लिए विदर्भ में विदर्भी, गौड़ में गौड़ीय तथा पांचाल में पांचाली रीतियों का विशेष प्रयोग मिलता है ।

१ "वचन विन्यास क्रमो रीतिः"
२ "पद संघटना रीतिः"

परन्तु इसके साथ ही साथ वामन ने यह भी स्पष्ट रूप से बताया है कि ये रीतियाँ पूर्णतः प्रादेशिक प्रभावों से मुक्त नहीं हैं क्योंकि कोई भी काव्य शैली किसी द्रव्य के समान जलवायु विशेष की उपज नहीं होती।

भरत, बाण भामह तथा दण्डी के विचारानुसार यद्यपि प्रादेशिक रीति विभाजन को कभी सर्वमान्य नहीं किया गया परन्तु उनका प्रारम्भिक विभाजन विभिन्न प्रादेशिक मार्गों के आधार पर ही हुआ था। कुन्तक का विचार है कि रीति का आधार कवि का स्वभाव है। अपने इसी मत के अनुसार कुन्तक ने रीतियों का विभाजन कवि स्वभावानुसार सुकुमार, विचित्र और मध्यम ही किया। इस प्रकार से उपर्युक्त आचार्यों में से प्रायः सभी ने रीति विभाजन के प्रादेशिक आधार को मुख्यता नहीं दी है।

रीति तत्त्व—

वामन ने रीति के गुणों को ही रीति के तत्त्व माना है। उन्होंने शब्द तथा अर्थ के विभाजन के अनुसार इन्हें दो वर्गों में विभक्त कर दिया है। (१) शब्द गुण तथा (२) अर्थ गुण। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध शब्द सौन्दर्य से तथा द्वितीय का अर्थ सौन्दर्य से होता है। रुद्रट ने रीति का मूल तत्त्व समास को माना है और लघु मध्यम तथा दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटीया और गौड़ीया रीतियों की व्याख्या की।

आनन्दवर्धन के विचार प्रसाद माधुर्य तथा ओज गुण रीति के आन्तरिक तथा समास बाह्य तत्त्व है। राजशेखर ने समास और अनुप्रास को रीति के तत्त्व माना है। भोज का मत भी राजशेखर के समान ही है। मम्मट और विश्वनाथ के विचार से गुण व्यंजक वर्ण गुम्फ रीति तत्त्व हैं। विश्वनाथ ने बताया है कि समास वर्ण योजना और शब्द गुम्फ तीनों रीति के तत्त्व हैं।

रीति नियामक हेतु—

वामन ने रीति को स्वतन्त्र सत्तायुक्त माना है। आनन्दवर्धन ने रस को रीति का नियामक हेतु बताया है। उनके विचार से रस के साथ ही वक्ता औचित्य वाच्य औचित्य तथा विषय औचित्य नामक तीन और रीति नियामक हेतु होते हैं। इनमें से प्रथम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि वक्ता कवि या कवि निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है और कवि निबद्ध (वक्ता) भी रस भाव (आदि) से रहित अथवा रस भावयुक्त (दो प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथा नायक निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक, निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से

विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके साथ का (उपनायक पीठमर्द) हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं।[1]

इसके साथ ही वाच्य औचित्य की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है "इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनि रूप (प्रधान) रस का अंग (अभिव्यंजक) अथवा रसाभास का अंग (अभिव्यंजक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ उत्तम प्रकृति में आश्रित अथवा उससे भिन्न (मध्यम, अधम) प्रकृति में आश्रित इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।"[2]

विषय औचित्य को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है "मुक्तक पर्यायबन्ध परिकथा खंड कथा सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य) अभिनेयार्थ (रूपक) आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना या रीति में भेद हो जाता है।"[3]

रीति का अन्य शैलियों से भेद:—

रीति के समान कुछ अन्य काव्यांग भी प्रयुक्त होते रहे हैं। इनमें से तीन प्रमुख हैं —प्रवृत्ति वृत्ति तथा शैली।

रीति और प्रवृत्ति—

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रवृत्ति का विवेचन सर्व प्रथम भरत ने किया। भरत के अनुसार प्रवृत्ति वह विशेषता है जो विभिन्न क्षेत्रीय वेश भाषा तथा आचार का स्थापन करती है।[4] भरत की इस परिभाषा से रीति और प्रवृत्ति का भेद स्वतः स्पष्ट हो जाता है। रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही होता है जबकि प्रवृत्ति का वेश तथा आचार से भी रहता है। भरत के अतिरिक्त प्रवृत्ति का विवेचन राजशेखर भोज तथा धर्मसुपाल ने भी किया है। संक्षेप में चूंकि रीति के स्वरूप निर्धारण से पूर्व ही

१ 'हिन्दी ध्वन्यालोक', पृ० २४४।

२ वही, पृ० २४४।

३ वही पृ० २४५।

४ पृथिव्यां नाना देश वेश भाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।

प्रवृत्ति का अस्तित्व था अतः रीति प्रवर्तन में प्रवृत्ति के स्वरूप का भी प्रभाव प्रेरणा रूप में अवश्य कार्यशील रहा होगा।

रीति और वृत्ति—

वृत्तियों के दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियाँ अर्थात् भारती सात्वती, कैशिकी एवं आरभटी तथा (२) काव्य वृत्तियाँ अर्थात् उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। आनन्दवर्धन के विचार से व्यवहार का नाम ही वृत्ति है।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार पुरुषार्थ साधक व्यापार को वृत्ति कहते हैं।[2] उद्भट के मत से वर्ण व्यवहार को ही वृत्तियाँ कहा जाता है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है। परवर्ती काल में वृत्ति और रीति में कोई वैशिष्ट्य सूचक भेद नहीं रहा। बहुत से आचार्यों ने उन्हें एक ही माना है, यद्यपि कुछ के विचार से वृत्ति रीति से भिन्न तथा स्वतंत्र है। रुद्रट भी इस मत के पोषक हैं। जगन्नाथ तथा मम्मट ने इन्हें एकार्थक माना है। वामन ने वृत्ति को रीति का अंग माना है।

रीति और शैली—

शैली की व्याख्या विविध विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। 'शैली' की व्युत्पत्ति 'शील' शब्द से मानी जाती है। शील का अर्थ स्वभाव है। रीति और शैली दोनों में स्पष्टतः कोई विशिष्ट भेद नहीं है। परन्तु शैली में व्यक्ति तत्व का महत्व अधिक होता है रीति में कम। वामन तथा आनन्दवर्धन आदि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में इस तत्व को शास्त्रीय मतों के विपरीत अत्यधिक प्रधानता दी गयी है।

रीति के भेद—

वामन ने रीति के तीन भेद माने हैं (१) वैदर्भी रीति (२) गौड़ीया रीति एवं (३) पांचाली रीति।

वैदर्भी रीति—

विदर्भ आदि देशों में प्रचलित होने के कारण इसे वैदर्भी कहा जाता है। यह

१　व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते।
२　तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः।

समस्त गुणों से भूषित होती है। विदर्भ प्रदेश के कवियों ने दस गुणों से अलंकृत इस रीति को विशेष रूप से प्रयुक्त किया है। वैदर्भी रीति के तीन मूल तत्व हैं (१) माधुर्य व्यंजक वर्ण, (२) ललित पद रचना तथा (३ अल्प समास ।[1]

गौड़ीया रीति:—

गौड़ आदि देशों में प्रचलित होने के कारण इसे गौड़ीया कहा जाता है। इसमें वैदर्भी रीति वाले गुणों का अभाव रहता है। इसके मूल तत्व हैं (१) ओज, (२) प्रकाशक वर्ण, (३) आडम्बरपूर्ण बन्ध तथा (४) समासों की बहुलता। ओज और कान्ति से युक्त गौड़ीया रीति में मधुरता और सुकुमारता का अभाव रहता है। इसकी पदावली कठोर होती है।[2]

पांचाली रीति:—

पांचाल आदि देशों में प्रचलित होने के कारण इसे पांचाली कहा जाता है। इसमें मधुरता तथा सुकुमारता का समावेश रहता है। चूंकि इसमें ओज और कान्ति नहीं होती अतः इसकी पदावली कोमल होती है। यह रीति श्रीहीन भी होती है। पांचाली रीति श्लथ बंध पुराण शैली की अनुवर्तिनी मधुर तथा सुकुमार होती है।[3]

वामन ने काव्य के लिए वैदर्भी रीति को ही ग्राह्य बताया है क्योंकि यह सर्व-गुण सम्पन्न है। गौड़ीय और पांचाली रीतियां चूंकि अल्पगुण युक्त होती हैं अतः उपसंगेय हैं। रुद्रट ने रीति की जो व्याख्या की है उसका आधार भिन्न है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना है। उन्होंने रीति के चार भेद किये हैं (१) वैदर्भी (२) पांचाली, (३) लाटीय और (४) गौड़ीय। इनमें से प्रथम को उन्होंने समास रहित द्वितीय को लघु समास वाली, तृतीय को मध्यम समास वाली तथा चतुर्थ को दीर्घ समास वाली बताया है।

स्पष्टतः यह वर्गीकरण वामन की भांति गुणों पर आधारित है। राजशेखर तथा

१ माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ (साहित्य दर्पण पृ० ३२६)
२ ओजः प्रकाशकैर्वर्णैं बन्ध आडम्बरः पुनः, समास बहुला गौड़ी....
३ अश्लिष्टश्लथभावां तां पुराणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमारांच पांचाली कवयो विदु: (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति)

भोज के विचार से वैदर्भी रीति, समास हीन, पांचाली अल्प समास युक्त तथा गौड़ीय दीर्घ समास से युक्त होती है। कुन्तक ने रीति का वर्गीकरण प्रादेशिक विशेषताओं के आधार पर नहीं किया है। उन्होंने कवि स्वभाव के अनुसार तीन मार्गों का निर्देश करके[1], उसी के अनुसार निम्नलिखित विभाजन किया है (१) सुकुमार मार्ग, (२) विचित्र मार्ग तथा (३) मध्यम मार्ग।

सुकुमार मार्ग—

इसमें स्वाभाविकता पर आधारित विशेषताएँ रहती हैं। इस सुकुमार मार्ग की विशेषताएँ सरसता भावपूर्णता, नैसर्गिकता आदि हैं इसमें जिन अलंकारों का समावेश किया जाता है, वे प्राकृतिक और स्वतः उद्भूत होते हैं। यह सुकुमार मार्ग सत्कवियों का मार्ग बताया गया है।

विचित्र मार्ग—

इसमें आलंकारिकता, चामत्कारिकता तथा कलात्मकता आदि विशेषताएँ रहती हैं। यह मार्ग स्वाभाविक न होकर कृत्रिमतायुक्त है जिसमें प्रयत्नपूर्वक शब्दों, वर्णों तथा पदों में चमत्कार समावेशित किया जाता है।

मध्यम मार्ग—

इसमें प्रथम तथा द्वितीय दोनों मार्गों की विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं। यह सम्मिश्रित एवं समन्वित मार्ग है। इसमें न तो अतिशय स्वाभाविकता रहती है और न अतिशय कृत्रिमता बल्कि दोनों का समुचित संयोजन रहता है।

विश्वनाथ ने भी रीतियाँ चार प्रकार की मानी हैं (१) वैदर्भी, (२) गौड़ीय (३) पांचाली तथा (४) लाटीय। उनके रीति वर्गीकरण का आधार गुण, वर्ण, संघटन एवं वृत्ति है। वैदर्भी उन्होंने उस रीति को कहा है जो वृत्तिहीन या अल्पवृत्ति युक्त होती है, तथा माधुर्य गुण की व्यंजना करती है।[2] गौड़ीय रीति वह होती है जो

१ सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ (वक्रोक्ति जीवितम्)

२ माधुर्य व्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः

ओज गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों से युक्त होती है तथा जिसमें   सों का प्रयोग, बहुलता से होता है।[१] पांचाली-रीति वह होती है जो पांच छः समास युक्त पदबन्ध, रचना होती है।[२] लाटीय रीति वह होती जो वैदर्भी तथा पांचाली के मध्य की होती है तथा जिसमें इन दोनों के बीच का सन्तुलित या समन्वित मार्ग ग्रहण किया गया होता है।[३]

शैली

शैली को विचारों का परिधान कहा जाता है। इसके दो तत्व होते हैं, (१) व्यक्ति तत्व और (२) वस्तु तत्व। इनमें से प्रायः प्रथम तत्व को ही प्राथमिकता दी जाती है। शैली काव्य रचना की एक विशिष्टता है। इसका प्रकाशन कवि के व्यक्तित्व, शब्द योजना अलंकार निरूपण आदि के फलस्वरूप होता है। शैली विविध कवियों की रचनाओं का विशिष्टीकरण भी करती है। शैली का आधार कवि के जीवन के संस्कार होते हैं। शैली का निर्धारण कवि के व्यक्तित्व वर्ण्य विषय एवं वातावरण आदि के द्वारा होता है।

यों तो प्रत्येक साहित्यकार की शैली में कुछ वैयक्तिक गुण होते हैं परन्तु उसमें कुछ ऐसे सामान्य तत्व भी रहते हैं जो किन्हीं वर्गों के अन्तर्गत आते हैं। संक्षेप में शैलियों के निम्नलिखित प्रमुख भेद किये जा सकते हैं (१) सरस शैली (२) मधुर शैली (३) ललित शैली (४) क्लिष्ट शैली (५) उदार शैली तथा व्यंग्य शैली। इनमें से प्रत्येक शैली के लक्षण तथा उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

सरस शैली—

सरस शैली रस का निरूपण करती है। यह प्रसाद गुण से युक्त होती है। इस

१ समास बहुला गौड़ी वर्णे शेषे पुनर्द्वयोः ॥
२ समस्त पंचषपदो बन्धः पांचालिका मता।
३ लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पांचाल्योरन्तरे स्थिता।

शैली का प्रयोग वाल्मीकि भवभूति तुलसीदास मीरा तथा मैथिली शरण गुप्त आदि ने किया है। इस शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है:—

अली री मोहि कोउ न समुझावै।
राम गमन साँचो किधौं सपनो कर परतीति न आवै।
लगेइ रहत इन नैननि आगे राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या मन की बिधि जो भयेउ बिपरीता।
दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत तन न रहै बिनु देखे।
करत प्राण प्रयाण सुनहु सखि समुझि परी यह लेखे।
कौशिल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी।

मधुर शैली:—

यह शैली मधुर शब्दावली से युक्त होती है। इसमें संगीतात्मक शब्दों द्वारा उप नागरिका वृत्ति के प्रयोग से कोमल भावनाओं को अभिव्यक्ति दी जाती है। इस शैली का प्रयोग जयदेव, विद्यापति नन्ददास, देव तथा सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने किया है। इस शैली का उदाहरण इस प्रकार है:—

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की मधुराई।
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लखे अखियान सुनाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेर ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकसै है निकाई।

ललित शैली:—

इस शैली में कलात्मकता अधिक रहती है। इसमें चामत्कारिक कल्पना युक्त वर्णन एवं आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। इस शैली का प्रयोग कालिदास बिहारी रत्नाकर तथा जयशंकर "प्रसाद" आदि ने किया है। इस शैली के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

नर्तन की घुमघुर नूपुर ध्वनि अलि गुंजित पद्मों की किंकिणि ॥
भर पद गति में अलस तरंगिणि तरल रजत की धार बहा दे,
मृदुस्मित में सजनी ! विहँसती थी वसन्त रजनी।

क्लिष्ट शैली:—

इस शैली में अस्पष्टता होती है। इसमें संकेत अथवा प्रतीक रूप में किसी भावना को अभिव्यक्ति दी जाती है। इसका अर्थ गूढ़ होता है। इस शैली का प्रयोग भारवि माघ, केशव, तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" आदि कवियों ने किया है। इस शैली का उदाहरण इस प्रकार है —

कौन तम के पार ? (रे कह)
अखिल पल के स्रोत जल जग
गगन घन घनधार (रे कह)
गन्ध व्याकुल कूल उर सर,
लहर कच कर कमल मुख पर
हर्ष अलि हर स्पर्श सर, सर
गूँज बारबार । (रे कह)

उदात्त शैली:—

उदात्त शैली ओज गुण से युक्त होती है। इसमें वीरता तथा उत्साह आदि भाव भावों की अभिव्यक्ति होती है। यह उत्तेजक शैली होती है। इस शैली का प्रयोग बाण भट्ट चन्द बरदायी, भूषण तथा रामधारी सिंह "दिनकर" आदि ने किया है। इस शैली का उदाहरण निम्नलिखित है —

लूट्यो खां दौरा जोरावर आसफजंग
अब लूट्यो कारतलब खाँ मानहु अमाल है।
भूषण भनत लूट्यो पूना में सायस्तखान,
गढ़नि में लूट्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है।
हेरि हेरि कूटि सलहेरि बीच सिरदार
घेरि घेरि लूट्यो सब कटक कराल है।
मानो हय हाथी उमराव करि साथ,
अवरंग डरि सिवा जी पै भेजत रसाल है।

व्यंग्य शैली:—

इस शैली में कोई बात व्यंग्यात्मक रूप में कही जाती है। इसी कारण से इसका वाच्यार्थ गौण और व्यंग्यार्थ मुख्य होता है। इस शैली का प्रयोग तुलसीदास, सूरदास,

बिहारी तथा निराला आदि अनेक कवियों ने किया है। इस शैली का उदाहरण इस प्रकार है —

> तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
> अब तो दादुर बोलिहैं हमें पूछिहै कौन॥

संक्षेप में, ऊपर कुछ प्रमुख शैलियों की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। शैलियों का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म न होते हुए भी अपने आप में पूर्ण है।

गुण

गुणों के विषय में विभिन्न आचार्यों का भिन्न दृष्टिकोण है। भरत मुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है—(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता, (४) समाधि (५) माधुर्य, (६) ओज (७) पद सुकुमारता (८) अर्थ व्यक्ति, (९) उदारता तथा (१०) कान्ति।[1] इसी प्रकार से दंडी ने भी काव्य गुणों की संख्या दस बतायी है जो उपर्युक्त ही है।[2]

भरत और दंडी की गुण विषयक धारणाओं में मुख्य भेद यह है कि भरत ने गुणों को भावगत विशिष्टताएँ माना है तथा दंडी ने गुणों को मार्ग के आधार पर ग्रहण किया है। वामन ने रीति को गुण पर ही आधारित माना है। वामन ने दंडी की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व का निर्धारित किया है। भरत के विचार से गुण काव्य शैली को समृद्ध करते हैं। ये गुण रस पर आश्रित होते हैं।

दंडी ने गुण को अलंकार का समानधर्मा माना है। उनके विचार से गुण रस पर आश्रित नहीं होते जैसा कि भरत ने बताया है — वरन् काव्य के स्वतंत्र अंग होते हैं। वामन के अनुसार गुणों से काव्य की भी वृद्धि होती है और उनके अभाव में काव्य

१ श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥ (नाट्यशास्त्र १७।९६)

२ श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः (काव्यादर्श १।४१)

श्रीहीन हो जाता है। मम्मट के विचार से गुण रस के धर्म हैं जिनसे रस का उत्कर्ष होता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को काव्य का धर्म बताया है काव्यांगों का नहीं। जगन्नाथ ने गुणों को काव्य की जगह शब्दार्थ का धर्म माना है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मम्मट ने केवल तीन गुण (१) माधुर्य (२) ओज तथा (३) प्रसाद माने हैं दस नहीं क्योंकि उनका विचार है कि दस में से अनेक प्रमुख गुण इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। उन्होंने यह भी निर्देशित किया है कि माधुर्य ओज तथा प्रसाद गुण रसास्वाद के समय तीन अवस्थाओं (१) द्रुति (२) दीप्ति तथा (३) प्रसन्नता द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् माधुर्य समासहीन अथवा अल्प समास युक्त होता है। यह चित्त को द्रवित करने वाले भाव से युक्त होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कुसुम धूरि धुंधरी कुंज छवि पुंजन छाई।
गुंजत मंजु मलिन्द मत्त मनु बजति सुहाई।
नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकहिं सुर जुरली।

द्वितीय गुण अर्थात् ओज में संयुक्त वर्णों का प्रयोग बहुलता से रहता है तथा इसकी पदावली समास युक्त रहती है। यह दीप्तिकारक होता है। इसका उत्कर्ष प्राय: वीभत्स तथा रौद्र में होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

जय जयंति जय चंडमुंड चंडासुरखंडिनि।
जय सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहंडिनि॥
जै जै निसुंभ सुंभ मद्दनि भनि भूषन जै जै भननि।
सरजा समत्थ सिवराज कहुँ देहि विजय जै जगजननि॥

तृतीय गुण अर्थात् प्रसाद में सरलता रहती है। इसे समस्त रसों में देखा जा सकता है। यह चित्त को प्रसन्न करने वाला गुण होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखि तिन तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा।
पुरवासिन देखे दोउ भ्राता। नर भूषन लोचन सुखदाता॥

गुणों के आधार—

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है संस्कृत के कुछ आचार्यों ने गुणों को शब्द का धर्म और कुछ ने धर्म का धर्म माना है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि शब्द चमत्कार तथा धर्म चमत्कार ही गुणों के आधार हैं। बाद में गुणों को रस का धर्म भी मान लिया गया है और उसे चित्त वृत्ति माना गया।

गुण और रीति—

दंडी के अनुसार गुण रीति का मूल तत्व है। वामन का भी इस सम्बन्ध में यही मत है। आनन्दवर्धन ने गुण और रीति की वैज्ञानिक तथा विस्तृत व्याख्या की। उन्होंने गुण और रीति के सम्बन्ध एवं आश्रय आदि की विवेचना करते हुए लिखा है कि यदि गुण और संघटना (रीति) एक तत्व हैं अथवा संघटना के आश्रित गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों का भी अनियत विषय हो जायगा। गुणों का तो विषय नियम निश्चित है। जैसे, करुण और विप्रलम्भ शृंगार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष (होता) है ओज रौद्र और अद्भुत विषय में ही प्रधानत रहता है। माधुर्य और प्रसाद रस भाव और तदाभास विषयक ही होते हैं। इस प्रकार (गुणों का) विषय नियम बना हुआ है। (परन्तु) संघटना में वह बिगड़ जाता है। क्योंकि शृंगार में भी दीर्घ समास (रचना संघटना) पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास रहित (रचना पाई जाती है।) इसलिए गुण न तो संघटना रूप है और न संघटनाश्रित है।[1]

गुण और अलंकार—

वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकार के तात्विक भेद का स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि काव्य शोभा के कारक धर्म गुण[1] तथा काव्य शोभा के अतिशय हेतु अलंकार होते हैं।[2] वामन ने गुणों को काव्य की शोभा के लिए आवश्यक माना है। वामन ने लिखा है कि गुण और अलंकार में पारस्परिक समानता भी है और विषमता भी। उनमें समानता यह है कि ये दोनों ही शब्द धर्म तथा अर्थ धर्म हैं। साथ ही ये दोनों काव्य का उत्कर्ष करते हैं। इनमें विषमता यह है कि गुण शब्द अर्थ के नित्य धर्म हैं, जब कि

१   हिन्दी ध्वन्यालोक पृष्ठ ९११।
१   काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
२   तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः

अलंकार उनके अनित्य धर्म गुणों से काव्य की शोभा की सृष्टि होती है जबकि अलंकार उसकी वृद्धि का साधन ही होते हैं आदि।

आनन्दवर्धन के अनुसार जो अंगी रस के आश्रित रहते हैं वे गुण हैं, तथा जो उसके अंग में आश्रित रहते हैं वे अलंकार हैं। मम्मट के विचार से जो अंगी रस का उत्कर्ष करने वाले धर्म हैं वे गुण तथा अन्य धर्म अलंकार कहे जाते हैं। विश्वनाथ के अनुसार अलंकार शब्द अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं। गुण उनके स्थिर धर्म होते हैं।

दोष

भरत ने बताया है कि दोष की स्थिति भावात्मक है तथा गुण उसका विपर्यय है।[1] भामह के अनुसार दोष काव्य के विफलता के कारण होते हैं। इसलिये काव्य में इनका परिहार होना चाहिए। उन्होंने दोषों के तीन वर्ग किये हैं (१) सामान्य दोष, (२) वाणी के दोष तथा (३) दोष के गुणत्व साधन। वामन ने निर्देशित किया है कि गुण के विपर्यय का नाम दोष है।[2] निष्कर्षतः जिससे रस की हानि होती हो, वही दोष है। भरत मुनि ने दोषों की संख्या दस मानी है (१) गूढार्थ दोष, (२) अर्थान्तर दोष, (३) अर्थहीन दोष (४) भिन्नार्थ दोष, (५) एकार्थ दोष (६) अभिप्लुतार्थ दोष (७) न्यायादपेत दोष, (८) विषम दोष, (९) विसन्धि दोष तथा (१०) शब्दहीन दोष।[3]

भामह ने दोषों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है (१) सामान्य दोष, (२) वाणी दोष तथा (३) अन्य दोष। इनमें से सामान्य दोष के अन्तर्गत उन्होंने ६ दोष नेयार्थ दोष क्लिष्ट दोष अन्यार्थ दोष अयुक्तिमत् दोष तथा गूढ शब्द दोष वाणी दोष के अन्तर्गत चार दोष श्रुति दुष्ट दोष अर्थ दुष्ट दोष कल्पना दुष्ट दोष तथा

१ एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः (नाट्यशास्त्र ७, ९५)
२ गुण विपर्ययात्मानो दोषाः
३ गूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः (नाट्यशास्त्र)

श्रुति कष्ट दोष एवं अन्य दोषों के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्यारह दोष—अपार्थ दोष, व्यर्थ दोष, संशय दोष अपक्रम दोष शब्दहीन दोष यति भ्रष्ट दोष भिन्न वृत्त दोष विसन्धि दोष, देश काल कला लोक न्यायागम विरोधी दोष तथा प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हीन दोष माने हैं।

दण्डी ने भी दोषों की संख्या दस ही मानी है जो इस प्रकार है — (१) अपार्थ दोष (२) व्यर्थ दोष (३) एकार्थ दोष (४) ससंशय दोष, (५) अपक्रम दोष (६) शब्दहीन दोष (७) यतिभ्रष्ट दोष, (८) भिन्न वृत्त दोष (९) विसन्धि दोष तथा (१०) देश काल कला लोक न्यायागम विरोधी दोष। वामन ने दोषों के चार भेद किये हैं (१) पद दोष (२) पदार्थ दोष (३) वाक्य दोष तथा (४) वाक्यार्थ दोष। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने असाधु दोष कष्ट दोष ग्राम्य दोष अप्रतीत दोष तथा अनर्थक दोष द्वितीय के अन्तर्गत अन्यार्थ दोष नेयार्थ दोष तथा गूढार्थ दोष तृतीय के अन्तर्गत भिन्न वृत्ति दोष, यति भ्रष्ट दोष तथा विसन्धि दोष एवं चतुर्थ के अन्तर्गत व्यर्थ दोष एकार्थ दोष संदिग्ध दोष अप्रयुक्त दोष, अपक्रम दोष लोक दोष तथा विद्या विरुद्ध दोष माने हैं। संक्षेप में जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है दोष सम्बन्धी भेदों में पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों में यद्यपि कुछ अन्तर मिलता है परन्तु उनके मूल तत्वों की दृष्टि से उनमें पर्याप्त साम्य भी है।

वामन के रीति सिद्धांत को परवर्ती युगों में कितनी मान्यता मिली यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि कितने अधिक विद्वानों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया और इस क्षेत्र में अपना योग दिया। इसका महत्व इससे भी स्पष्ट है कि संस्कृतेतर भाषाओं के साहित्यकारों ने रीति सिद्धांत को किस सीमा तक अपनाया। इस प्रकार से रीति सिद्धांत प्राचीन संस्कृत समीक्षा के पांच प्रमुख मानदण्डों में से एक है जो अनेक दृष्टान्तों से पूर्ण तथा मान्य है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत साहित्य शास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत का प्रवर्तन आचार्य कुन्तक द्वारा हुआ। उन्होंने भामह के ध्वनि सिद्धांत का विरोध करके अपने सिद्धान्त की स्थापना की। इस सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। सर्व प्रथम वक्रोक्ति का प्रयोग बाण भट्ट ने अपनी 'कादम्बरी' नामक कृति में किया है। भामह अपने

'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया। उन्होंने वक्रोक्ति में शब्द तथा अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव माना है।[1] उनके विचार से शब्द वक्रता तथा अर्थ वक्रता का सम्मिलित रूप ही वक्रोक्ति है।[2]

भामह ने वक्रोक्ति का प्रयोग अतिशयोक्ति के अर्थ में किया है। उन्होंने बताया है कि वक्रोक्ति शब्द अथवा अर्थ की विचित्रता ही है। उन्होंने वक्रोक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए बताया है कि वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार या काव्य अपने गुणों से हीन रह जाता है।

दण्डी ने वक्रोक्ति को वाङ्मय का भेद माना है। उन्होंने बताया है कि जहाँ पर वर्णन में सरलता के स्थान पर वक्रता अथवा चामत्कारिकता हो वहाँ पर वक्रोक्ति होती है। दण्डी ने भी वक्रोक्ति को प्रायः अतिशयोक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। उनका मत है कि अन्य सभी अलंकार इसी के आश्रित होते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य के लिए अनिवार्य बताया है।

वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। उनके विचार से वक्रोक्ति सामान्य अलंकार न होकर विशिष्ट अलंकार है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को न सामान्य अलंकार माना न अर्थालंकार। उन्होंने उसे शब्दालंकार का एक भेद माना। उन्होंने वक्रोक्ति के दो भेद किये (१) काकु वक्रोक्ति और (२) भंग श्लेष वक्रोक्ति।

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार ही माना है। परन्तु उन्होंने इसका सर्वाङ्गिन रूप ही स्वीकार्य प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति को एक सामान्य अलंकार ही माना है। मम्मट ने वक्रोक्ति को विशिष्ट शब्दालंकार माना है। उन्होंने इसके तीन भेद किये हैं (१) काकु वक्रोक्ति, (२) भंग श्लेष वक्रोक्ति तथा (३) अभंग श्लेष वक्रोक्ति। इसी प्रकार से रुय्यक ने भी इसे एक विशिष्ट अलंकार ही माना। परवर्ती आचार्यों ने भी उपयुक्त मतों को ही विभिन्न प्रकार से स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति के प्रकार—

कुन्तक के विचार से प्रसिद्ध कथन से भिन्न वर्णन शैली को ही वक्रोक्ति कहा

१ वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः (काव्यालंकार १।६)
२ वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते (वही, ५।६)

जाता है। कुन्तक ने बताया है कि यह वर्णन शैली लोक व्यवहार से भिन्न रहती है। उनके विचार से काव्य शैली तथा लोक व्यवहार की शैली का अन्तर मर्यादित तथा स्वाभाविक है। कुन्तक ने वक्रता में ही काव्य सौन्दर्य की निहिति मानी है और इन्हें एक दूसरे का पर्याय स्वीकार किया है। उनके विचार से वक्रोक्ति के छै मूल भेद हैं (१) वर्ण विन्यास वक्रता (२) पदपूर्वार्ध वक्रता (३) पदपरार्ध वक्रता (४) वाक्य वक्रता (५) प्रकरण वक्रता तथा (६) प्रबन्ध वक्रता।[1]

वर्ण विन्यास वक्रता —

कुन्तक के अनुसार वर्ण विन्यास वक्रता उसे कहते हैं जिसमें एक या अधिक वर्ण को थोड़ा अन्तर देकर इसी प्रकार से ग्रथित किया जाता है।[2] कुन्तक ने इस वर्णों विन्यास वक्रता के तीन भेद किये हैं (१) वर्गान्त से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ण के वर्ग स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ङकार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्त योगी हैं। इनकी पुनः पुनः आवृत्ति वर्ण विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार है। तलनादय अर्थात् तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर जहाँ बार बार निबद्ध हो वहाँ दूसरा प्रकार है। इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजन सङ्क वर्ण रेफ आदि से संयुक्त रूप में जहाँ सिद्ध हो, वहाँ तीसरा प्रकार है। इन सभी भेदों में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए यह सबके साथ सम्बद्ध है।[3]

इस प्रकार से, कुन्तक ने काव्य का प्रथम आधार वर्ण को ही माना है। वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत विविध शब्दालंकारों विविध वृत्तियों एवं विविध शब्द गुणों की गणना की जाती है। कुन्तक ने बताया है कि वर्ण योजना आदि विषय को अलंकृत रूप में अभिव्यक्त कर सकेगी तभी वह चमत्कारयुक्त भी होगी।

१ वर्णविन्यास वक्रत्वं पद पूर्वार्ध वक्रता। वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः॥
   वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा। यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥
   वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वापि यादृशः। उच्यते सहजाहार्य (सौकुमार्य मनोहर)॥
२ एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः।
   स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्ण विन्यास वक्रता॥ (वक्रोक्तिजीवितम्)
३ हिन्दी वक्रोक्ति जीवित।

पदपूर्वार्ध वक्रता:—

पदपूर्वार्ध वक्रता का आशय मूल शब्द की वक्रता है। इसके दस रूप हैं (१) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, (२) पर्यायवक्रता (३) उपचार वक्रता, (४) विशेषण वक्रता (५) संवृति वक्रता (६) प्रत्यय वक्रता (७) वृत्ति वक्रता (८) भाववैचित्र्य वक्रता (९) लिंग वैचित्र्य वक्रता तथा (१०) क्रिया वक्रता।

रूढ़िवैचित्र्य वक्रता—

इसमें रूढ़ि या परम्परा का वैचित्र्य होता है। जहाँ पर असंभाव्य धर्म का आरोप होता है वहाँ भी रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता होती है क्योंकि इससे एक प्रकार के लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ—

(क) धरनिसुता धीरज धरयो समय कुसमय विचारि।

(ख) तव ही पुन सोभा कहुँ सकुचत जाहिं सराहिं।
कमल कमल है ताहिं जब रविकर सौं विकसाहिं॥

(ग) सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

पर्यायवक्रता—

पर्याय पर आश्रित वक्रता पर्याय वक्रता कही जाती है। इसमें किसी एक शब्द के ऐसे पर्याय का प्रयोग किया जाता है जो चमत्कार की सृष्टि करता है या असंभाव्य अर्थ की सूचना देता है। कुन्तक के अनुसार 'जो वाच्य का अन्तरतम उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस वाच्यार्थ को सुशोभित करने में समर्थ है स्वयं (बिना विशेषण के) अथवा विशेषण के योग से भी अपने सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर है और जो असम्भव अर्थ के आधार रूप से भी वाच्य होता है, जो अलंकार से संस्कृत होने अथवा अलंकार का शोभाधायक होने से मनोहर रचना से युक्त है ऐसे पर्याय अर्थात् संज्ञा शब्द (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्याय वक्रता होती है।'[1] इसके उदाहरण इस प्रकार है—

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित।

(क) एक कनक एक कामिनी दुर्गम घाटी दोय।

(ख) अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उपचार वक्रता—

जहाँ किसी वस्तु के साथ किसी भिन्न वस्तु का अभेद बताया जाता है, वहाँ पर उपचार वक्रता होती है। इसके अनेक भेद होते हैं जैसे अमूर्त पर मूर्त का आरोप अचेतन पर चेतन का आरोप रूपक आदि अलंकारों की मूल आधार उपचार वक्रता आदि। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर।
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गंभीर।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो बार बार।

विशेषणवक्रता—

जहाँ पर विशेषण के विशिष्ट प्रयोग के कारण कारक या क्रिया में चमत्कार सृष्टि होती है वहाँ पर विशेषण वक्रता होती है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है—

संकुचित ज्योत्स्ना सी चुपचाप जड़ित पद नमित पलक दृग पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण मधुरता में सी मरी अजान॥

संवृति वक्रता—

जहाँ पर किसी सर्वनाम आदि के द्वारा किसी वस्तु को छिपा कर चमत्कार की सृष्टि की जाती है वहाँ पर संवृति वक्रता होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

अनियारे दीरघ नयन किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जेहि बस होत सुजान॥

१ विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषण वक्रता॥

प्रत्यय वक्रता—

जहाँ पर प्रत्यय से किसी वस्तु में चमत्कार सृष्टि होती है वहाँ पर प्रत्यय वक्रता होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सोने के झूलों सी धूप मधु मधुमास की
उस आंगन में भी उतरी होगी,
सीपी के हाथों पर केसर की लहरी सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी चिर आतुर
लहराइए मन मन हंसी होगी अंगों में।

लिंगवैचित्र्य वक्रता—

जहाँ पर लिंग विषयक प्रयोगों में चमत्कार की सृष्टि हो, वहाँ पर लिंगवैचित्र्य वक्रता होती है। इसके कई भेद होते हैं, जैसे भिन्न भिन्न लिंगों का समानाधिकरण स्त्री लिंग का प्रयोग विशिष्ट लिंग का प्रयोग आदि। लिंगवैचित्र्य वक्रता के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

तुम कनकाभ हो दीप शिखा।
तुम प्रीति सुन्दर तुम कमल कली।
तुम हो गुलाब का फूल हमारे उर उपवन में रहो खिली।

क्रियावैचित्र्य वक्रता—

जहाँ पर क्रिया का प्रयोग चमत्कारपूर्ण ढंग से किया जाय वहाँ पर क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है। इसके कई भेद हैं, उदाहरणार्थ क्रिया का कर्त्ता अभिन्न हो। जहाँ पर क्रिया से किसी कर्त्ता की विचित्रता सूचित हो वहाँ पर क्रिया का चमत्कार विशेषण पर आधारित हो, जहाँ पर क्रिया का अनेक रूपों में उपचार हो तथा जहाँ पर क्रिया के कर्म संवरण द्वारा चमत्कार हो आदि। क्रिया वैचित्र्य वक्रता के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौहन हँसै देन कहै नहि जाय।

पदपरार्ध वक्रता

पदपरार्धवक्रता में पदों के उत्तरार्ध में प्रकट हुई विचित्रता के दर्शन होते हैं। इसके छः भेद होते हैं (१) कालवैचित्र्य वक्रता (२) कारक वक्रता (३) संख्या वक्रता (४) पुरुष वक्रता (५) उपग्रह वक्रता तथा (६) प्रत्यय वक्रता।

काल वैचित्र्य वक्रता—

जहाँ पर काल के प्रयोग पर ही वैचित्र्य निर्भर करता हो वहाँ पर काल वैचित्र्य वक्रता होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करै।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करै।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करै।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करै॥

कारक वक्रता—

जहाँ पर कर्ता को कर्म या कारण का रूप और कर्म या कारण को कर्ता का रूप देकर चमत्कार की सृष्टि की जाय वहाँ पर कारक वैचित्र्य वक्रता होती है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

कोमल अंचल ने पोंछा मेरी गीली आँखों को।
कम्पु उड़ा ले गई कहाँ रंगीन मृदुल पाँखों को॥

संख्या वक्रता—

संख्या वक्रता को वचन वक्रता भी कहते हैं। जहाँ पर वचन का विपर्यास करके चमत्कार की सृष्टि की जाय वहाँ पर संख्या वक्रता होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मनभिन वसन्त की रंग मग उठ आई।
ऐसी मुसकान कि जैसे चाँदनियाँ छिटकीं।
सरस द्रुमों को छूती मादक पुरवाई॥

पुरुष वक्रता—

जहाँ पर उत्तम या मध्यम पुरुष का प्रतिकूल प्रयोग करके चमत्कार लाया जाय वहाँ पर पुरुष वक्रता होती है। पुरुष वक्रता का उदाहरण इस प्रकार है—

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये।
फूल उठे हैं कमल अधर से ये बंधूक सुहाये॥

उपग्रह वक्रता—

जहाँ पर काव्य में चमत्कार सृष्टि के लिए आत्मनेपद या परस्मैपद धातु का प्रयोग हो, वहाँ पर उपग्रह वक्रता होती है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

हौं तो याही सोच में विचारत हौं रही री।
काहे दर्पन हाथ ते न छिन बिसरत है।

प्रत्यय वक्रता —

जहाँ पर विविध प्रत्ययों के प्रयोग से काव्य में चमत्कार की सृष्टि की जाय वहाँ पर प्रत्यय वक्रता होती है। इसके उपसर्ग वक्रता तथा निपात वक्रता दो भेद भी माने गये हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

पिय सौं कहेहु सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग॥

वाक्य वक्रता

वाक्य वक्रता उसे कहते हैं जिसमें किसी वस्तु की उत्कर्षता का केवल शब्दों द्वारा वर्णन हो। इसके दो भेद बताये गये हैं—सहजा तथा आहार्या।[1] कुन्तक का यह

१ "सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो भिद् प्रकारस्य वक्रता।"

वर्णीकरण उनके वाक्य विषयक दृष्टिकोण पर आधारित है। वाक्य वक्रता के अन्तर्गत मुख्यतः दो प्रकार के वर्णन आते हैं। प्रथम प्रकार के वर्णन स्वाभाविकता युक्त होते हैं एवं द्वितीय प्रकार के कवि प्रतिभा से उद्भूत विलक्षणतायुक्त। यह वाक्य वक्रता गुण तथा अलंकार आदि से भिन्न होती है।

कुन्तक ने बताया है कि काव्य के विषय सहज और आहार्य दो के होते हुए भी उत्कर्षयुक्त होते हैं। कवि अपनी स्वेच्छा से काव्य के विषय का चयन करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसके स्वाभाविक धर्मों की उपेक्षा करे। कुन्तक ने वर्ण्य विषयों की सूक्ष्म और विस्तृत विवेचना करते हुए बताया है कि कवि अपनी प्रतिभा से सहज विषयों में चामत्कारिकता का समावेश करने में सफल होता है।

सहज और आहार्य के अतिरिक्त कुन्तक ने काव्य विषयों के दो और भेद चेतन एवं अचेतन भी किये हैं। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने प्रधान और अप्रधान दो और भेद किये हैं। प्रधान में देवता मनुष्य आदि को तथा अप्रधान में पशु पक्षी आदि को रखा है। द्वितीय अथवा अचेतन के अन्तर्गत उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों को रखा है। उन्होंने इनमें से प्रत्येक की मर्यादा का निर्धारण करते हुए काव्य में उनकी उपयोगिता निश्चित की है।

प्रकरण वक्रता

प्रकरण वक्रता का सम्बन्ध किसी प्रसंग विशेष के औचित्य को अधिक प्रभाव युक्त बनाने से है। कुन्तक के विचार से 'जहां अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है वहां और प्रारम्भ से ही निर्शंक रूप से उठने या उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् जहां प्रारम्भ से ही निर्भय होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा हो, वहां) यह प्रकरण वक्रता निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है।[1]

कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के नौ भेद बताये हैं। प्रथम प्रकरण वक्रता वहां पर होती

१ हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् ४/१२।

है जहाँ पर किसी भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष होता हो, द्वितीय प्रकरण वक्रता वहाँ पर होती है जहाँ कवि किसी काव्य प्रसंग में कल्पना की नवीनता और मौलिकता द्वारा विशेष सजीवता ले आता है तृतीय प्रकरण वक्रता वहाँ पर होती है जहाँ पर कवि किसी ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करके उसी प्रसंग में कोई चामत्कारिक तत्व समावेशित किया जाय चतुर्थ प्रकरण वक्रता वहाँ पर होती है, जहाँ पर किसी प्रबन्ध की वस्तु योजना एवं प्रकरण विभाजन का समुच्चय इतना सुन्दर होता है कि वे एक दूसरे के उपकारक उपकार्य का कार्य करते हैं। पंचम प्रकरण वक्रता वहाँ पर होती है, जहाँ पर किसी सामान्य प्रसंग का अतिरंजित एवं विस्तार युक्त वर्णन होता है, षष्ठ प्रकरण वक्रता उस स्थान पर होती है जहाँ पर कवि अपने काव्य में किसी स्थल विशेष पर किसी प्रसंग विशेष की कल्पना करके उसकी सौन्दर्य वृद्धि करता है सप्तम प्रकरण वक्रता वहाँ होती है जहाँ कवि अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी गौण प्रसंग की कल्पना करता है।

प्रबन्ध वक्रता

प्रबन्ध वक्रता नाटक तथा प्रबन्ध काव्य में ही मिलती है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रबन्ध से होता है। विविध वक्रताओं में प्रबन्ध वक्रता ही सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्रीय होती है। इसके भी अनेक भेद हैं। प्रथम वक्रता वहाँ होती है जहाँ पर कवि किसी ऐतिहासिक विवरण में इस प्रकार से नवीन कल्पना तत्व को समावेशित करता है जिससे प्रबन्ध की शोभा एवं आनन्द में वृद्धि होती है। द्वितीय प्रबन्ध वक्रता वहाँ होती है जहाँ कवि ऐतिहासिक वृहद् कथानक के केवल उस अंश को अपने प्रबन्ध का विषय बनाता है, जो सर्वाधिक रोचक और सरस होता है। तृतीय प्रबन्ध वक्रता वहाँ पर होती है जहाँ कवि अपने प्रबन्ध में एक मुख्य ध्येय को सामने रखकर उसका आरम्भ करता है परन्तु ज्यों ज्यों वह गतिशील होता है, त्यों त्यों उसके प्रधान पात्र के महान् व्यक्तित्व के फलस्वरूप अन्य उद्देश्यों की भी पूर्ति होती चलती है। चतुर्थ प्रबन्ध वक्रता वहाँ पर होती है जहाँ पर कवि अपने प्रबन्ध का नामकरण किसी विशिष्ट प्रतीक या घटना विशेष के आधार पर रखकर उसके सौंदर्य की वृद्धि करता है पंचम प्रबन्ध वक्रता वहाँ पर होती है जहाँ पर कवि किसी ऐसे प्रधान और प्रचलित कथानक को अपने प्रबन्ध का विषय बनाता है। जिस पर अन्य अनेक कवि काव्य रचना कर चुके हों परन्तु अपनी मौलिक दृष्टि द्वारा उसे एक नवीन स्वरूप प्रदान करता है।

इस प्रकार से वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य में समावेशित चामत्कारिक तत्वों को निरूपित करने वाला सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह एक अति व्यापक सिद्धान्त है जिसका क्षेत्र विस्तार काव्य के सूक्ष्मतम अंग से लेकर महानतम स्वरूप तक है। कुन्तक द्वारा प्रतिपादित यह काव्य सिद्धान्त सम्पूर्ण काव्य सौंदर्य का निरूपक है। कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रमुख सिद्धांतों का परीक्षण करने के पश्चात् उनकी एकांगिताओं का बहिष्कार करते हुये इस सिद्धांत का प्रवर्तन किया। इसी कारण परवर्ती आचार्यों पर कुन्तक के इस विशिष्ट सिद्धांत का व्यापक प्रभाव पड़ा और उन्होंने इससे प्रेरणा ग्रहण की।

भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास को देखने से इस तथ्य का पता चलता है कि वक्रोक्ति के समान व्यापक मानों से युक्त काव्य सिद्धांत अन्य नहीं है। यह तथ्य भी इसे सिद्धांत की महत्ता और व्यापकता का परिचायक है। संक्षेप में काव्य में चामत्कारिक तत्वों के विश्लेषण और सूक्ष्म परीक्षण की दृष्टि से यह एक सर्वांगीण मानदंड है ।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है। इसके प्रमुख प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ ''ध्वन्यालोक'' में इस सिद्धांत का विशदता से प्रतिपादन किया है। ध्वनि सिद्धांत के विचार से ध्वनि काव्य ही सर्वोच्च कोटि का काव्य है। ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख विशेषता इसका क्षेत्र विस्तार है। ध्वनि सिद्धांत को इस दृष्टि से एक सम्पूर्ण काव्य सिद्धांत कहा जा सकता है। इसमें काव्यालोचन विषयक सभी सिद्धांतों का तत्वगत् समावेश मिलता है।

ध्वनि काव्य को श्रेष्ठतम बताते हुए ध्वनि सैद्धान्तिकों ने गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम एवं व्यंग्यहीन को अधम काव्य प्रतिपादित किया। ध्वनि काव्य वह काव्य बताया गया है जिसमें शब्द तथा अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप को न प्रकट करके उस अर्थ को प्रकट करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। चूँकि ध्वनि का संबंध विविध प्रकार के अर्थों—वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ आदि से है अतः इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के पूर्व शब्द शक्ति की परिचयात्मक व्याख्या आवश्यक है।

शब्द

शास्त्र में जो वाचक है, उसी को शब्द कहा गया है। भारतीय मनीषियों ने शब्द को 'आकाश' तत्व का गुण माना है। किसी शब्द के उच्चारण से आकाश में चारों ओर लहरें फैलने से वह शब्द व्याप्त जाता है जैसे कदम्ब का मुकुल सभी ओर से विकसित होता है, एवं जल की तरंगें सभी ओर अग्रसर होती हैं।[1]

शब्द के चार प्रकार प्रकृति प्रत्यय, निपात तथा उपसर्ग माने गये हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसके अन्तिम भेद को न मानकर केवल तीन ही भेदों को मान्यता दी है।[2] इनमें से प्रथम भेद के अनुसार उसे अपने द्वारा अभीप्सित किसी अर्थ को अवगति कराना चाहिए।[3] द्वितीय भेद वह शब्द होता है जो स्वतंत्र रूप से किसी अर्थ की अवगति कराने की क्षमता से रहित होता है एवं किसी अन्य शब्द की युक्तता से ही अर्थाभिमति करा सकता है।[4] इसके चार भेद सुप् तिङ्, कृदंत तथा तद्धित् बताये गये हैं। तृतीय भेद के अनुसार शब्द प्रत्येक शब्द के साथ सम्बद्ध होकर अपनी अर्थाभिमति नहीं करा पाता है।[5] परन्तु कोई भी शब्द किसी वाक्य में प्रयोग किये जाने से ही सम्यक रूप से अर्थ बोध करा सकता है।[6]

१ सच शब्दो नभोवृत्ति श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥
वीची तरंग न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ (कारिकावली १६५, ६६)

२ प्रकृतिः प्रत्ययश्चेति निपातश्चेति स त्रिधा ।
(शब्दशक्ति प्र० कारिका ६ पृ० २९)

३ स्वोपस्थाप्यपदार्थस्य बोधने यस्य निश्चयः ।
तत्वेन हेतुरन्वया प्रकृतिः सा तदात्मिका ॥ (वही पृ० ४१)

४ स्वतन्त्रार्थानवच्छिन्ने स्वार्थे यो बोधमात्मनः ।
तिङन्तस्य विभावनृमः स वा प्रत्यय उच्यते ॥
(वही ११, पृ० ५१)

५. स्वार्थं शब्दान्तरार्थस्य तादात्म्येनान्वयात्मम ।
(वही ११ पृष्ठ ५१)

६ वाक्य भावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः ।
संपद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः ॥ (वही १२, पृ० ५४)

शब्द शक्तियाँ

किसी शब्द से उसका जो अर्थ व्यक्त होता है, उसे प्रकाशित करने वाली शक्ति को शब्द शक्ति कहते हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण शब्द का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। ये शक्तियाँ किसी शब्द के उच्चरित होने पर मनुष्य के हृदय पर उसका पूर्ण प्रभाव डालती हैं। यह प्रभाव मुख्यतः किसी शब्द के अर्थ से सम्बन्ध रखता है। यह अर्थ शक्ति के कारण ही अपना प्रभाव श्रवण करने वालों पर डालता है।

शब्द शक्ति को शब्द तथा अर्थ का अर्थ सूचित करने वाला सम्बन्ध कहा जा सकता है। इसे शब्द का अर्थगत व्यापार भी कहा जाता है। शब्द शक्तियों के तीन भेद माने गये हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा तथा (३) व्यंजना। इन्हीं तीनों शब्द शक्तियों के सम्बन्ध से तीन प्रकार के शब्द भी बताये गये हैं। (१) वाचक (२) लक्षक तथा (३) व्यंजक तथा तीन ही प्रकार के अर्थ भी (१) वाच्यार्थ (२) लक्ष्यार्थ तथा (३) व्यंग्यार्थ। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपर्युक्त शाब्दिक भेदों अर्थों तथा शब्द शक्तियों का बहुत सूक्ष्म विस्तारयुक्त एवं शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनके भेदों प्रभेदों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अभिधा

जिस शब्द शक्ति के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ की अवगति होती है उसे अभिधा[1] कहते हैं। अभिधा के युक्त शब्द को वाचक कहा जाता है।[2] अभिधा को मुख्या या अग्रिमा भी कहा जाता है क्योंकि उससे मुख्य या अग्रिम अर्थ की प्रतीति

१ कविवर देव ने अभिधा को ही मुख्य शब्द शक्ति प्रतिपादित करते हुए कहा है—
अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन॥
२ 'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः'। (काव्यप्रकाश २ पृ० ३९)

होती है। जो शब्द इस साक्षात् संकेतित अर्थ की अवगति कराता है उसे वाचक कहा जाता है। इसी प्रकार से वाचक से उद्भूत होने वाले प्रमुख अर्थ को वाच्यार्थ कहा जाता है। अभिधा से मुख्यतः तीन प्रकार के वाचक शब्दों की अर्थ प्रतीति होती है—(१) रूढ़ अथवा समूह शक्ति बोधक (२) यौगिक अथवा अंग शक्ति बोधक तथा (३) योगरूढ़ अथवा समूहांग शक्ति बोधक। इनमें से प्रथम कोटि के अर्थात् रूढ़ वे शब्द माने जाते हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं होती या प्रकृत प्रत्यय रूप अवयवों का कोई अर्थ नहीं होता, उदाहरणार्थ पेड़, पौधा घोड़ा तथा पशु आदि।

द्वितीय कोटि के अर्थात् यौगिक वे शब्द माने जाते हैं जिनकी व्युत्पत्ति सम्भव होती है या जिनमें प्रकृति तथा प्रत्यय का संयोग होकर अवयव अर्थ युक्त समुदाय के अर्थ की अवगति होती है उदाहरणार्थ—भूपति, वाग्वान् तत्स्जीवी पशुतुल्य आदि। तृतीय कोटि के अर्थात् योगरूढ़ के शब्द होते हैं, जो यौगिक शब्दों की तरह अवयव अर्थ से युक्त होते हुए भी किसी विशेष अर्थ की अवगति कराते हैं। उदाहरणार्थ—गणनायक, चक्रधर पशुपति आदि। वाचक शब्द से जो संकेतित अर्थ ध्वनित होते हैं वे चार प्रकार के बताये गये हैं (१) जाति रूप अर्थ (२) गुण रूप अर्थ, (३) क्रियारूप अर्थ एवं (४) यद् इच्छा रूप अर्थ। ये चारों क्रमशः जातिवाचक शब्दों गुण वाचक शब्दों, क्रिया वाचक धर्मों तथा द्रव्य आदि का बोध कराते हैं।

लक्षणा

जहाँ पर प्रधान अर्थ में बाधा होने पर रूढ़ि की सहायता से प्रधान अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला कोई अन्य अर्थ लक्षित हो, वहाँ पर लक्षणाशक्ति कार्यशीला होती है।[1] इसी प्रकार से जिस शब्द से लक्षणा के द्वारा प्रधान अर्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षक एवं उसके द्वारा लक्षित अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। इस प्रकार से लक्षणा के तीन प्रमुख तत्व हैं। (१) मुख्य अर्थ की बाधा (२) वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्धित होना तथा (३) रूढ़ि एवं प्रयोजन।

१ मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढ़े प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ (साहित्यदर्पण परि० २, पृ ४८)

मुख्यार्थ की बाधा वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ का प्रत्यक्ष विरोध हो एवं वक्ता द्वारा इच्छित अर्थ बोधगम्य न हो सके। परन्तु इस स्थिति में भी रूढ़ि अथवा प्रयोजन से कोई ऐसा अन्य अर्थ उद्भूत हो जिसका सम्बन्ध वाच्यार्थ से हो। उदाहरण के लिए 'वह बिलकुल गीदड़ है।' इसमें गीदड़ के मुख्यार्थ की बाधा है परन्तु प्रयोजन से यहाँ यह अर्थ निकल सकता है कि वह गीदड़ के समान कायर है। वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना इस प्रकार से होता जैसे गीदड़ के मुख्यार्थ से गीदड़ के समान मनुष्य का गीदड़पन और इन दोनों तत्त्वों के साथ रूढ़ि अथवा प्रयोजन का तत्त्व भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए किसी मनुष्य को कायर होने पर गीदड़ कहने की परम्परा लक्षणा के जो सूक्ष्म और विस्तृत भेद प्रभेद किये गये हैं उनके मूल में उपर्युक्त तीन प्रधान तत्त्व ही हैं।

लक्षणा के भेद

रूढ़ि तथा प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद किये गये हैं (१) रूढ़ि लक्षणा तथा (२) प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढ़ि लक्षणा —

रूढ़ि लक्षणा उसे कहते हैं जहाँ पर रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ को ग्रहण कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ —

> दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति॥

प्रयोजनवती लक्षणा —

जहाँ पर किसी विशेष अभीष्ट की सिद्धि के लिए लक्षणा की जाय वहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए —

> लहर व्योम चूमती उठती चपलाएँ असंख्य नचती।
> गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति रचती॥

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद होते हैं (१) गौणी तथा (२) शुद्धा । प्रयोजनवती लक्षणा का यह भेद उपचार के आधार पर किया जाता है जिसका आशय दो भिन्न वस्तुओं की भिन्नता को लुप्त कर देना तथा उनमें अभेद को दिखाना है ।[1]

गौणी लक्षणा —

गौणी लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ किसी समानता के कारण लक्ष्यार्थ को स्वीकार किया जाता है । उदाहरणार्थ —

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ॥

गौणी लक्षणा के दो भेद होते हैं (१) सारोपा गौणी लक्षणा तथा (२) साध्यवसाना गौणी लक्षणा ।

सारोपा गौणी लक्षणा—

सारोपा गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के कारण आरोप्य और आरोप्यमाण दोनों के कथन द्वारा भिन्न अर्थ की अवगति हो । उदाहरण के लिए —

माखन सों मन, दूध सों जोबन है दधि तें अधिकौ उर ईठी ।
जा छबि आगे छपाकर छाछ समेत सुधा बसुधा सब सीठी ।
नैन नेहु चुवै कवि 'देव' बुझावत बैन वियोग अंगीठी ॥
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ॥

साध्यवसाना गौणी लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने सादृश्य के कारण आरोप्यमाण के द्वारा भिन्न अर्थ की अवगति हो, वहाँ पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा होती है । उदाहरणार्थ —

कौरिन कहा बिछावती फिरि फिरि सेज कृसान ।
सुनो न मेरे प्राणधन, चहत आज कछु जान ॥

१ उपचारो हि नाम अत्यन्त विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम् । ('साहित्य दर्पण', परिच्छेद २ पृ० ६७)

शुद्धा लक्षणा —

जहाँ पर लक्ष्यार्थ की अवगति सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा हो वहाँ पर शुद्धा लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ —

> अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

शुद्धा लक्षणा के अनेक सम्बन्ध—सामीप्य सम्बन्ध तात्कर्म्य सम्बन्ध अंगादि सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध तथा कार्य कारण सम्बन्ध हो सकते हैं। शुद्धा लक्षणा के मुख्यतः चार भेद होते हैं (१) उपादान लक्षणा (२) लक्षण लक्षणा[1] (३) सारोपा शुद्धा लक्षणा तथा (४) साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा।

उपादान लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ को लक्षित किया जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे, वहाँ पर उपादान लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए —

> व्यस्त नील में चल प्रकाश का कम्पन सुख बन बजता था।
> एक अतीन्द्रिय स्वप्न लोक का मधुर रहस्य उलझता था॥

लक्षण लक्षणा—

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ को सिद्ध करने के लिए वाच्यार्थ स्वयं के बजाय अन्यार्थ को सूचित करे, वहाँ पर लक्षण लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए :—

> मेरे सपनों में कलरव का संसार आँख जब खोल रहा।
> अनुराग समीरों पर तिरता था इतराता सा डोल रहा॥

१ स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥
(काव्यप्रकाश उल्लास १ का० १०, पृ० ४१)

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के आधार पर ऐसा आरोप हो जिससे आरोप विषय तथा विषयी दोनों का स्पष्ट कथन होने के साथ ही साथ शब्द का मुख्यार्थ भी व्यंजित हो। उदाहरण के लिए —

औरे भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
औरे भाँति बौरन के झौरन के ह्वै गये।
औरे भाँति विहग समाज में अवाज होति
अबै ऋतुराज के न आज दिन ह्वै गये।
औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रंग
औरे तन औरे मन औरे बन ह्वै गये॥

सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा हो परन्तु सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों से अर्थ की सङ्गति हो तथा आरोप के विषय और आरोप्यमाण दोनों का कथन करते हुए मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग किया जाय वहाँ पर सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए —

आप भुजंगों से बैठे हैं वे कञ्चन के घड़े दबाये।
विनय हार कर कहती हूँ, वे विषधर हटते नहीं हटाये॥

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के बल को स्पष्ट किया जाय तथा केवल आरोप्यमाण का कथन करते हुए शब्द का मुख्यार्थ न छोड़ा जाय वहाँ पर साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा होती है।

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिये झोपड़ी बलि होती है॥

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा —

जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य

सम्बंधों से अर्थ को व्यक्त किया जाय तथा शब्द के मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग तथा आरोप होने पर भी केवल आरोप्यमाण का कथन किया जाय वहाँ पर साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए—

रक्त पीकर लाल है खटमल छिपे आराम गाहों में।
पृथ्वी पर है भरी इनके लिए संसार की पीड़ित निगाहों में।
सदा कर वैर की होली जड़ को लाते हैं दूर से उनको।
विदित हो यह बचा करते नहीं महलात हैं अग्नि के ज्वाला में।।

व्यंजना

जिस शक्ति से शब्द व अर्थ के गौण होने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो उसे व्यंजना कहते हैं। व्यंजना काव्य के बाह्य आवरण को दूर करके उसके अंतः में छिपे व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने वाली शक्ति है जो अर्थ अभिधा तथा लक्षणा द्वारा अप्रकाशित रहता है उसका प्रकाशन व्यंजना के द्वारा होता है।

हेमचन्द्र ने बताया है कि अभिधा से जो अर्थ स्पष्ट होता है उसी में सहृदय तथा प्रतिभावान् श्रोता व्यंजना शक्ति की सहायता से एक नवीन अर्थ की उद्भावना करता है। व्यंजना के द्वारा जो अर्थ उद्भूत होता है उसे व्यंग्यार्थ तथा जिस शब्द का यह अर्थ होता है उसे व्यंजक कहा जाता है। अभिधा तथा लक्षणा से व्यंजना इस बात में भी भिन्न है क्योंकि अभिधा तथा लक्षणा का सम्बंध केवल किसी शब्द मात्र से होता है परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध किसी शब्द के साथ ही उसके अर्थ से होता है। व्यंजना के भेद करते समय उसके इस गुण को भी आधार बनाया जाता है।

व्यंजना के भेद

शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध रखने के कारण व्यंजना के दो प्रकार होते हैं— (१) शाब्दी व्यंजना तथा (२) आर्थी व्यंजना। जहाँ पर शब्द की प्रधानता होती है और और उसी से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है वहाँ पर शाब्दी व्यंजना तथा जहाँ पर अर्थ

की मुख्यता हो वहाँ पर आर्थी व्यंजना होती है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि यों तो व्यंजना एक शब्द आश्रित है परन्तु जहाँ पर कोई शब्द एक अर्थ से पुन: दूसरे अर्थ की व्यंजना करे वहाँ पर अर्थ व्यंजक होता है शब्द केवल उसका सहायक होता है।[1]

इसके अतिरिक्त शाब्दी व्यंजना में भी अर्थ होता है एवं आर्थी में भी शब्द। शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं (१) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना एवं (२) लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना —

शाब्दी व्यंजना का यह भेद वाचक शब्द के आधार पर किया जाता है। इसमें प्राय: अनेकार्थक शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। अभिधा नियामकों द्वारा इसमें अभिधा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तथा वही वाच्यार्थ भी होता है। साथ ही शब्द के विशिष्ट प्रयोग से अप्राकरणिक अर्थ की भी अवगति होती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के ये ही मूल लक्षण हैं।[2] इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

चिर जीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना —

जहाँ पर किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी लाक्षणिक पद का प्रयोग हो वहाँ पर लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कूकती कोयलिया कानन लौं नहिं जात सह्यो जियको सु भगावै।
घूमि ते लिके आगला की फूली पलास दवानल को छवि छावै।
आयो वसन्त अहो अब कन्त सभी यह अन्त की होन लखावै।
बैठि रही हमहू हिय हारि कहाँ लगि आरिये हाथन गावै।।

१ शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यत:।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता।।
२ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया।। (साहित्यदर्पण परि० २ पृ० ७५)

आर्थी व्यंजना—

आर्थी व्यंजना में भी शब्द का योग अवश्य रहता है। मम्मट के विचार से आर्थी व्यंजना में किसी शब्द विशेष से ही व्यंग्य रूप अर्थान्तर अर्थ की अवगति होती है। इसलिए इसमें व्यंजकता तो अर्थ की ही होती है परन्तु सहकारिता शब्द की भी।[1] यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि शाब्दी और आर्थी व्यंजनाओं में आर्थी व्यंजना ही अधिक विस्तृत क्षेत्रीय है। इसमें जिस विशिष्ट शब्द या अर्थ में व्यंजना होती है उसे व्यंजक कहा जाता है। पुनः जिस नवीन अर्थ की अवगति इस विशिष्ट शब्द के अर्थ से होती है उसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

विश्वनाथ ने बताया है कि व्यंजना में शब्द एवं अर्थ एक दूसरे के सहकारी का कार्य करते हैं क्योंकि यदि इनमें से एक व्यंजक होता है तो दूसरा सहकारी व्यंजक। शाब्दी में शब्द किसी दूसरे अर्थ के आश्रय से व्यंग्यार्थ का बोध कराता है, आर्थी में व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाला व्यंजक अर्थ किसी शब्द से ही होता है।[2] किसी शब्द के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के आधार पर आर्थी व्यंजना के तीन भेद किये जाते हैं (१) वाच्य सम्भवा (२) लक्ष्य सम्भवा तथा (३) व्यंग्य सम्भवा।

वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना —

जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर वाच्य संभवा आर्थी व्यंजना होती है। इसमें प्रथमतः किसी शब्द की मुख्यावृत्ति से साधारण अर्थ का बोध होता है तथा बाद में उसी से किसी अन्य अर्थ की अवगति होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कमल तंतु सौं छीन अरु कठिन खड़ग की धार।
अति सूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार॥

लक्ष्य संभवा आर्थी व्यंजना —

जहाँ पर लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर लक्ष्य सम्भवा आर्थी

१ शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता॥ (काव्यप्रकाश तृ० उ० का ३ पृ ८२)
२ शब्दबोध्योव्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता। (साहित्यदर्पण, २. २ पृ० १७)

व्यंजना होती है। इसमें प्रथमतः मुख्यावृत्ति से साधारण अर्थ का बोध होता है, तथा बाद में उसी से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है।

व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना —

जहाँ पर व्यंग्य से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ पर व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना होती है। इसमें प्रथमतः मुख्यार्थ का बोध होने पर तब प्रकरणादि से व्यंग्यार्थ की अवगति होती है। तब इस व्यंग्यार्थ से पुनः व्यंग्यार्थ का बोध होता है। व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना का उदाहरण इस प्रकार है —

सन सूख्यो, बीत्यो बनो ऊखो लई उखारि।
हरी हरी, अरहरि अजौं धर हरि हिय नारि॥

आर्थी व्यंजना के अनेक साधन होते हैं। संक्षेप में वक्ता बौद्धव्य काकु वाक्य वाच्य अन्य संनिधि प्रस्ताव, देश काल आदि की विशेषता के कारण भी व्यंग्यार्थ का बोध इसमें होता है।[1] इनमें से प्रत्येक के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

वक्तृ वैशिष्ट्य —

जहाँ पर कवि या अन्य किसी कथन करने वाले व्यक्ति की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है, उसे वक्ता की विशेषता से उत्पन्न या वक्तृ वैशिष्ट्य कहा जाता है। उदाहरण के लिए —

फेंकता हूँ मैं तोड़ मरोड़ अरी निष्ठुर बीणा के तार।
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव हुंकार।
नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदनामधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल॥

बौद्धव्य वैशिष्ट्य —

जहाँ पर श्रोता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है वहाँ पर बौद्धव्य वैशिष्ट्य कहा जाता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

१ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् (काव्यप्रकाश, उ० ३ पृ० ७१)

नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाय ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जँह गोकुल के राय ॥..

काकु वैशिष्ट्य —

जहाँ पर कंठ ध्वनि के भेद से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो वहाँ पर काकु वैशिष्ट्य होता है। उदाहरण के लिए —

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥

वाक्य वैशिष्ट्य —

जहाँ पर किसी वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर वाक्य वैशिष्ट्य होता है। उदाहरण के लिए —

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार ।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार ॥

वाच्य वैशिष्ट्य —

जहाँ पर वक्तव्य या मुख्यार्थ की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर वाच्य वैशिष्ट्य होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

मधुमय वसंत जीवन वन के बह अंतरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं ॥

अन्यसंनिधि वैशिष्ट्य —

जहाँ पर अन्य की निकटता से वक्ता द्वारा श्रोता से कथित कथन से कोई तीसरा व्यक्ति व्यंग्यार्थ समझे, वहाँ अन्यसंनिधि वैशिष्ट्य होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

घर के सब न्योते गये अली अंधेरी रात ।
दै किवार नहिं द्वार में ताते जिय अकुलात ॥

प्रस्ताव वैशिष्ट्य —

जहाँ पर वक्ता के प्रस्ताव से व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ पर प्रस्ताव वैशिष्ट्य होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

सखि सिंगार सब साजि ही, समय रूप लखि मैन।
चाव चौगुनर निसि मदन बरसत मोहिन नैन॥

देश वैशिष्ट्य —

जहाँ पर स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ का बोध होता हो वहाँ पर देश वैशिष्ट्य होता है। उदाहरण के लिए —

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरन की धुनि छाई।
या बन में कमनीय मृगीन की लोल कलोलनि डोलन भाई॥
सोहै सरित धारि घनी जल वृच्छन की नव नील निकाई।
मंजुल मंजु लतान को चारु चुमीली जहाँ सुषमा सरसाई॥

काल वैशिष्ट्य —

जहाँ पर समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता हो, वहाँ पर काल वैशिष्ट्य होता है। उदाहरण के लिए —

भूमि हरी भै प्रवाह बह्यो जल मोर मचे गिरिते मतवारे।
चंचला त्यों चमकै अभिराम चहूँ बहुँ धीरज तें घन कारे॥
काम है वीर बिदेस उन्हें कछु बोल न बोलिए पावस प्यारे।
माहिं औधि भरी में धरे घनघोर सौं ओघभूरि हमारे॥

चेष्टा वैशिष्ट्य —

जहाँ पर किसी चेष्टा विशेष के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर चेष्टा वैशिष्ट्य होता है। उदाहरणार्थ —

कंटक काढ़त लाल के चंचल चाह निवाहि।
चरन खैंचि लीनो सिया हँसि मूठे करि आहि॥

ध्वनि विवेचन

ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य के तीन भेद होते हैं (१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा (३) अवर काव्य। इनमें से प्रथम उत्तम कोटि का काव्य, द्वितीय मध्यम कोटि का काव्य तथा तृतीय निम्न कोटि का काव्य माना जाता है। इसी प्रकार से ध्वनि के दो भेद हैं (१) लक्षणामूला ध्वनि तथा अभिधामूला ध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि —

जहाँ पर व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ का प्रयोजन नहीं होता वहाँ पर लक्षणामूलाध्वनि होती है। इसके दो भेद हैं (१) अर्थान्तर संक्रमित लक्षणामूला ध्वनि तथा (२)अत्यन्त तिरस्कृत लक्षणामूला ध्वनि।

अर्थान्तर संक्रमित लक्षणामूला ध्वनि :—

जहाँ पर वाच्यार्थ अपने अर्थ को रखते हुए किसी दूसरे अर्थ में संक्रमण करता है, वहाँ पर अर्थान्तर संक्रमित लक्षणामूला ध्वनि होती है। उदाहरण के लिए —

सीता हरण तात जनि कहेउ पिता सन जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दशानन आय ॥

अत्यन्त तिरस्कृत लक्षणामूला ध्वनि —

जहाँ पर वाच्यार्थ का पूर्ण लोप हो जाता है, वहाँ पर अत्यन्त तिरस्कृत लक्षणामूला ध्वनि होती है। उदाहरण के लिए —

कौंहर सी एड़ीन की लाली सहज सुभाइ। पाइ महावर देन को आपु भई बेपाइ ॥

अभिधामूला ध्वनि —

जहाँ पर वाच्यार्थ सत्यपरक हो वहाँ पर अभिधामूला ध्वनि होती है। इसके दो भेद होते हैं (१) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (२) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि —

जहाँ पर वाच्यार्थ की अवगति होने के पश्चात् क्रम से क्रम व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता

है वहाँ पर संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके तीन भेद हैं (१) शब्द शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि (२) अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (३) शब्दार्थोभय शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

शब्द शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि —

जहाँ पर वाच्यार्थ के पश्चात् व्यंग्यार्थ का बोध किसी शब्द विशेष द्वारा होता है वहाँ पर शब्द शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके चार भेद हैं (१) पदगत वस्तु ध्वनि (२) वाक्यगत वस्तु ध्वनि, (३) पदगत अलंकार ध्वनि तथा (४) वाक्यगत अलंकार ध्वनि। शब्द शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है —

जो पहाड़ को तोड़ फोड़ कर राह बनाता।
जीवन निर्झर वही, सदा जो आगे बढ़ता।

अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि —

जहाँ पर पहले वाच्यार्थ तथा बाद में व्यंग्यार्थ का बोध किसी अर्थ विशेष के कारण होता है, वहाँ पर अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके तीन भेद होते हैं (१) स्वतः संभवी अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि (२) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (३) कवि निबद्ध मान पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ शक्ति उद्‌भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के चार भेद (१) वस्तु से वस्तु (२) वस्तु से अलंकार, (३) अलंकार से वस्तु तथा (४) अलंकार से अलंकार, तथा इन चारों में से प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद (१) पदगत (२) वाक्यगत तथा (३) प्रबन्धगत होते हैं। अर्थशक्ति उद्‌भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है —

फागु की भीर अभीरन की गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी॥
छीनि पितम्बर कम्मर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि —

जहाँ पर वाच्यार्थ के ग्रहण करने के क्रम को न लक्षित किया जा सके तथा व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने का निश्चित क्रम न समझा जा सके, वहाँ पर असंलक्ष्यक्रम

व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके आठ प्रकार होते हैं (१) रस ध्वनि (२) भाव ध्वनि (३) रसाभास (४) भावाभास (५) भावोदय (६) भाव संधि (७) भाव शांति तथा (८) भाव शबलता।

रस ध्वनि :—

जहाँ पर किसी वर्णन से व्यंग्यार्थ रूप रस का प्रभाव स्पष्ट हो, वहाँ रस ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ —

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन पग अवनि कठोरा।
जिय न मूरि जिमि जोगवत रहेऊ। दीप बाति नहिं टारन कहेऊ।
सो बन बसहिं तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती।
जो सिय भवन रहै कह अंबा। मो कहं होय बहुत अवलंबा॥

भाव ध्वनि —

जहाँ पर अपुष्ट स्थायी भाव से संचारी भाव का प्रकाशन होता है, वहाँ पर भाव ध्वनि होती है उदाहरणार्थ—

चम्पकलि सी ससि मुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥

रसाभास —

जहाँ पर रस का परिपाक होने पर उसमें कोई अनौचित्य प्रतीत हो वहाँ पर रसाभास होता है उदाहरणार्थ —

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहं तहं गाल बजावन लागे।
लेहु छड़ाय सीय कह कोऊ। धरि बांधो नृप बालक दोऊ।
तोरे धनुष चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुंअरि को बरई।
जो विदेह कछु करहिं सहाई। जीतहु समर सहित दोऊ भाई॥

भावाभास —

जहाँ पर भाव में किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत हो वहाँ भावाभास होता है। उदाहरणार्थ —

बरषन में मिस छाँह संग, कसि प्रियतम की छाँह ।
बरी करत रोस की, स्याई अँखियन माँह ।।

भावोदय —

जहाँ पर किसी भाव के उदय होने में किसी प्रकार के आकर्षण की प्रतीति हो वहाँ पर भावोदय होता है उदाहरणार्थ —

देखि री देखि सखी संग आइ जो कौन है या घर में अतरासि है ।
आनन मोरि के नैनन जोरि अब गई ओसत कै मुसुकाति है ।
बास सु या मुख जोति लखे तें सुधाधर जोति लरी सकुचाति है ।
मोहि लिये चली जाति सु मेरे हिये बिच आगि दिये चलि जाति है ।।

भावसंधि —

जहाँ पर किन्हीं दो भावों के संयोग से किसी प्रकार के चमत्कार की सृष्टि हो वहाँ पर भाव संधि होती है । उदाहरण के लिए —

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरष जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान यहि बार ।

भावशांति —

जहाँ पर किसी उत्कर्षयुक्त भाव की समाप्ति में किसी प्रकार की विशेषता होती है वहाँ पर भाव शान्ति होती है । उदाहरण के लिए—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो सवेग आते रथ के समीप थे ।
परन्तु होते अति ही मलीन थे न देखते थे जब वे मुकुन्द को ।

भावशबलता —

जहाँ पर क्रमानुसार अनेक भावों के संयोग की विशेषता पायी जाय, वहाँ पर भाव शबलता होती है । उदाहरणार्थ —

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी ।

छोही सी छकी सी छीन लीनी सी छकी सी छिन
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बींधी सी बँधी सी, विष बूड़ति विमोहित सी।
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी।।

गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण होता है वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य होता है। इसके आठ भेद होते हैं (१) अगूढ़ व्यंग्य (२) अपरांग व्यंग्य (२) वाच्य सिद्ध्यंग व्यंग्य (४) अस्फुट व्यंग्य (५) संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य (६) तुल्य प्राधान्य व्यंग्य (७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य तथा (८) असुन्दर व्यंग्य।

अगूढ़ व्यंग्य —

जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट हो वहाँ पर अगूढ़ व्यंग्य होता है, उदाहरणार्थ —

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान।।

अपरांग व्यंग्य —

जहाँ पर रस तथा भाव आदि एक दूसरे के अंग हो जावें वहाँ पर अपरांग व्यंग्य होता है। उदाहरणार्थ —

दियत पानि बिभुजात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरसि कै खरे लजाने लाल।।

वाच्य सिद्ध्यंग व्यंग्य —

जहाँ पर व्यंग्यार्थ से ही वाच्यार्थ की अवगति हो वहाँ पर वाच्य सिद्ध्यंग व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ —

पंखुड़ियों में ही छिपी रहकर न बातें व्यर्थ ।
ढूंढ कोनों में न प्रियतम नाम का तू अर्थ ।
छूटा घूँघट पट न मुख से मत उलट कर झाँक ।
बैठ पर्दे में लिखा लिखि मोल अपनी आँक ।
कर कभी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान ।
री सजनि मन को कभी नादान ।

अस्फुट व्यंग्य—

जहाँ पर व्यंग्य स्पष्ट न हो वहाँ पर अस्फुट व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ ।

संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य—

जहाँ पर वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रमुखता के विषय में संदेह हो, वहाँ पर संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ—

भागहुँ चाहि तन मच्छ को स्वच्छ राखिये काय ।
पृथु पथ पोखन को कियो पूषन पार्श्वपाल ।।

असुन्दर व्यंग्य—

जहाँ पर व्यंग्यार्थ में कोई विशेषता न हो वहाँ पर असुन्दर व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ —

विहँग सोर सुनि सुनि समुझि पछवारे की बाग ।
जाति परी पियरी परी प्रिया भरी अनुराग ।।

तुल्य प्राधान्य व्यंग्य—

जहाँ पर वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की विशेषता समान हो वहाँ पर तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है । उदाहरणार्थ—

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात ।
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अंधकार अज्ञात ।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—

जहाँ पर विशेष कंठ ध्वनि के द्वारा व्यंग्य स्पष्ट हो, वहाँ पर काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है। उदाहरणार्थ—

हैं दससीस मनुज रघुनायक जिनके हनुमान से पायक।

अवर काव्य

अवर काव्य में व्यंग्यार्थ नहीं होता इसीलिए उसे अवर या साधारण काव्य माना जाता है। यह निम्न कोटि का काव्य भी कहा जाता है। इसमें शब्दालंकार चित्र काव्य रहता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

विमल विचारन चिरचतुर चारन चरन विलास।
नर वे बहु बाढ़े विसद, बानी बुद्धि विलास॥

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन आनन्दवर्धन ने अवश्य किया है, किन्तु उसकी परम्परा का प्रसार और भी प्राचीन काल तक है। भारतीय साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत संस्कृत के प्रमुख सम्प्रदायों में ध्वनि सिद्धान्त का भी विशिष्ट महत्व है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की और इसके विविध पक्षों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया। आनन्दवर्धन के दृष्टिकोण में अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में कुछ मौलिक अन्तर मिलता है। उनके पूर्व के आचार्य अधिकतर काव्य का परीक्षण और उसके बहिरंग के आधार पर ही करते थे। आनन्दवर्धन ने इसके विपरीत जिस मन्तव्य का प्रतिपादन किया उसके अनुसार साहित्य का अन्तरंग परीक्षण अधिक महत्वपूर्ण होता है।

अलंकार सम्प्रदाय आदि से इस अर्थ में ध्वनि सम्प्रदाय भिन्न है। इस दृष्टिकोण से आनन्दवर्धन का स्थान अपने युग के क्रान्तिकारी विचारकों में है। ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने ध्वनि की महत्ता का प्रतिपादन किया ध्वनिवादियों का यह भी विचार है कि यदि कोई कवि इस तत्व का आश्रय लेता है तो उसकी प्रतिभा और कल्पना शक्ति का प्रसारण और विस्तार हो जाता है। यों तो ध्वनि सिद्धान्त में रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि आदि अनेक ध्वनियाँ मानी गयी

है परन्तु प्रमुखता इसमें रस ध्वनि को ही दी गयी है। आनन्दवर्धन के अतिरिक्त इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में अभिनव गुप्त हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि हैं। इन मनीषियों ने ध्वनि सिद्धान्त को एक व्यापक तथा पूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया।

अध्याय ८

पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन

तुलनात्मक अध्ययन की आधार भूमि

पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा प्रणालियाँ —

छठ तथा सातवें अध्यायों में हमने पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा की जिन विभिन्न प्रणालियों के विकास तथा इतिहास का परिचयात्मक और सैद्धान्तिक विवरण उपस्थित किया है, उसके आधार पर इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ तक पाश्चात्य समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों का सम्बन्ध है उनका सैद्धान्तिक विवरण प्रस्तुत करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वे कौन से कारण हैं, जिन्होंने उन विचार धाराओं के आविर्भाव को आवश्यक बना दिया। प्रत्येक वाद के मुख्य सिद्धान्तों तथा विचार तत्वों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि पाश्चात्य समीक्षा की इन प्रणालियों में विभिन्न युगों में किस प्रकार से रूप परिवर्तन हुआ। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य और समीक्षा के तत्वों पर इनका क्या प्रभाव पड़ा है, इसे भी तुलनात्मक दृष्टि से समझना यहाँ आवश्यक है।

इसी प्रकार भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विविध समीक्षा प्रणालियों के अन्तर्गत मुख्यतः संस्कृत साहित्य के विशिष्ट समीक्षा सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। हिन्दी समीक्षा पर जो पाश्चात्य प्रभाव दिखाई देता है वह विशेष रूप से आधुनिक युग के साहित्य पर ही मिलता है। पाश्चात्य देशों से हमारे विविध प्रकार के सम्बन्ध आधुनिक युग में जब आरम्भ हुए तब पाश्चात्य भाषाओं का सम्पर्क भी विस्तृत हुआ। इसके पूर्व यद्यपि विभिन्न भारतीय भाषाओं में आश्चर्यजनक एकरूपता विद्यमान थी परन्तु जब से पाश्चात्य सम्पर्क में वृद्धि हुई तब से पाश्चात्य प्रभाव क्रमशः विकसित होता चला गया। इसलिए इस सम्पर्क के बाद आधुनिक युग में हिन्दी पर जो पाश्चात्य प्रभाव मिलता है वह अत्यन्त प्रबल है।

अभिव्यंजना और भारतीय सिद्धान्त से उसकी तुलना

अभिव्यंजना विषयक धारणा —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तक इटली का प्रसिद्ध विचारक बेनेदेतो क्रोचे था। यहाँ अभिव्यंजनावाद विषयक धारणा भिन्न रूप में पहले भी विद्यमान थी परन्तु क्रोचे ने उसकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। क्रोचे कहता है कि एक वस्तु पूर्ण अभिव्यंजना होती है। यह पूर्ण अभिव्यंजना मुख्यतः वस्तु के आन्तरिक स्वरूप से सम्बन्ध रखती है। उसने लिखा है कि जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि आन्तरिक शब्द पर हमारा पूर्ण अधिकार हो जाए और किसी आकृति अथवा मूर्ति के विषय में हम पूर्णतः स्पष्ट रूप से विचार कर लें तब अधिक कुछ की आवश्यकता नहीं होती और अभिव्यंजना पूर्ण हो जाती है। इसके पश्चात् ही हम अपने अन्तर स्वर को तीव्रता से अभिव्यक्त करते हैं जिसे हम अपने अन्तर में गुनगुना चुके होते हैं। उसी को बाह्य अभिव्यक्ति देते हैं।[1]

अभिव्यंजना का अर्थ —

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे के अभिव्यंजनावादी आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। आधुनिक प्रयोग में अभिव्यंजना का अर्थ किसी आन्तरिक सत्य का प्रकटीकरण किसी आन्तरिक सत्य की झलक दिखाना उसका प्रतिनिधित्व करने के बाह्य साम्यों को प्रकट करना या उसके महत्त्व का दिग्दर्शन कराने में प्रयुक्त किया जाता है। क्रोचे अभिव्यंजना को आन्तरिक अभिव्यंजित मानता है और इस प्रकार से उन सभी विचारधाराओं का विरोध करता है जो बाह्य अभिव्यक्ति की पोषक या बाह्य रूपात्मक होती है। क्रोचे कहता है कि मूल अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है

1 *When we have mastered the internal word when we have vividly and clearly conceived a figure or a statute when we have found a musical theme expression is born complete nothing more is needed .....what we then do is to say about what we have already said within sing about what we have already sung within —Croce*

बाह्य नहीं क्योंकि सबसे पहले कोई अनुभूति आंतरिक रूप में अभिव्यंजित हो चुकी होती है तत्पश्चात् ही उसका बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में प्रकटीकरण होता है।

इस प्रकार से क्रोचे अभिव्यंजना को प्रत्यक्षतः मानव मन से सम्बन्धित एक प्रक्रिया मानता है और इसीलिए वह यह कहता है कि भौतिक जगत की सभी वस्तुओं का मूल आधार मानव मन ही है जो उसकी सत्ता का बोधन और सार्थकता का प्रकाश करता है। क्रोचे कहता है कि मनुष्य के मन में अभिव्यंजनात्मकता की प्रक्रिया आन्तरिक रूप से क्रियाशील रहती है। प्रत्येक बाह्य अभिव्यक्ति प्राथमिक रूप से मानव अन्तर में निहित होती है। इसी को बाह्य अभिव्यक्ति स्थूलतः प्रकट रूप में की जाती है। चूंकि क्रोचे अभिव्यंजना को बाह्य और भौतिक न मान कर आन्तरिक व मानसिक प्रक्रिया बताता है, इसीलिए [redacted] कहता है कि अभिव्यंजना स्वानुभूति के रूप में एक स्वतंत्र और पूर्ण प्रक्रिया है। क्रोचे के इस मन्तव्य पर पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के क्रम में पर्याप्त विचार विमर्श हुआ। विभिन्न समकालीन तथा परवर्ती विचारकों ने उसकी संगतियों तथा असंगतियों की ओर संकेत किया।

अभिव्यंजन की प्रक्रिया —

इस प्रकार से क्रोचे का यह विचार है कि अभिव्यंजना बाह्य अभिव्यक्ति न होकर आंतरिक अभिव्यक्ति है और उसका सम्बन्ध मन से है। अभिव्यंजन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए क्रोचे ने बताया है कि जो भी बाह्य अभिव्यंजना हम अभिव्यक्त करते हैं वह पूर्व रूप में हमारे हृदय में आन्तरिक रूप से अभिव्यक्त हो चुकी होती है। इससे यह सिद्ध है कि इस संसार में जो कुछ भी प्रकट में है वह मानसिक कार्य या व्यापार का ही बाह्य रूप है। इसीलिए वह समस्त कला की रचना का मूल आधार मन को ही मानता है।

इस प्रकार क्रोचे ने अभिव्यंजना की जिस प्रक्रिया का निर्धारण किया है उसके अनुसार मनुष्य की आत्मा में कुछ संवेदनों का प्रस्फुरण होता है, जब वह सृष्टि के विविध भौतिक पदार्थों के सम्पर्क में आती है। यह संवेदन मूल मूलतः प्रभाव ज्ञान के रूप में होते हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है इसी प्रक्रिया को क्रोचे ने अभिव्यंजना की आन्तरिक स्थिति के रूप में स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् यह मूल कल्पना का योग पाकर बाह्य रूप में अभिव्यंजना अपने सौन्दर्यात्मक तत्व से आनन्द की अनुभूति व्याप्त करती है और यही आनन्दानुभूति शब्द अथवा चित्र के माध्यम से रूपान्तरित होकर कला कृति के रूप में मान्य की जाती है। इस प्रकार से क्रोचे ने अभिव्यंजना की पूर्ण प्रक्रिया का स्पष्ट निदर्शन किया है।

अभिव्यंजनावाद की समीक्षात्मक परिणति

समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे की इस विचारधारा का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। कला के लिए कला का सिद्धान्त क्रोचे की इस विचारधारा से और भी पुष्ट हुआ तथा साहित्य और कला के परीक्षण की एक नई प्रणाली जन्मी। अभिव्यंजनावाद के मूल सिद्धान्तों को समीक्षा की दृष्टि से एक नवीन रूप दिया और मूल्यांकन की नई कसौटी प्रदान की। चूँकि क्रोचे की धारणा आन्तरिक अभिव्यंजना में कल्पना के योग के पश्चात् बाह्य अभिव्यंजना में थी इसलिए उसमें कल्पना तत्व का महत्व भी बढ़ गया। कल्पना को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देकर क्रोचे ने काव्य के अन्य तत्वों की उपेक्षा की है।

भारतीय सिद्धान्त से अन्तर

जहाँ तक अभिव्यंजनावाद का भारतीय समीक्षा सिद्धान्त से साम्य अथवा प्रभाव का सम्बन्ध है भारतीय धारणा से यह एकरूपता रखते हुए भी पर्याप्त भिन्नता रखता है। क्रोचे ने काव्य में कल्पना तत्व का अधिक महत्व स्वीकार करके एक प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है। भारतीय सिद्धान्तों में किसी के अनुसार भी कल्पना को काव्य की आत्मा नहीं माना गया है यद्यपि कल्पना का महत्व अनेक विचारकों ने स्वीकार किया है। हमारे यहाँ विशेष रूप से काव्य की आत्मा के रूप में रस आदि को मान्य किया गया है। इससे यह स्पष्ट है की भारतीय साहित्य शास्त्र में मूल सिद्धान्तों से क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का कोई साम्य नहीं है इसके अतिरिक्त क्रोचे ने केवल अभिव्यंजना को ही प्रमुख मान कर काव्य के अन्य मूल तत्वों की उपेक्षा भी की है।

पाश्चात्य समीक्षा और यथार्थवादी आन्दोलन

प्रतिक्रियात्मकता —

पाश्चात्य साहित्य मे यथार्थवाद का स्थान भी आधुनिक युग की एक प्रधान विचार प्रणाली के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार साहित्य का प्रधान गुण

यथार्थता का चित्रण होना चाहिए। साहित्यकार को अपनी कृति में मानव जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थ का चित्रण करना चाहिए। इस दृष्टिकोण से यह विचारधारा आदर्शवाद की विरोधी विचार धारा है। यथार्थवादी प्रवृत्ति का विरोध बहुत कम समय में ही अन्य विचारधाराओं द्वारा हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि यथार्थवाद के जन्म के साथ ही इसके समर्थकों में एक प्रकार की संकुचित भावना के प्रति आग्रह दिखाई देने लगा और उन्होंने यथार्थ के नाम पर केवल जीवन के कुत्सित सत्यों का चित्रण करना ही आरम्भ किया। जब यथार्थवाद अपने मुख्य उद्देश्य से इस प्रकार से हट गया तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अनेक आन्दोलन हुए और धीरे-धीरे इसका ह्रास होने लगा। विदेश में साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवाद के नाम पर जिस आन्दोलन का आरम्भ फ्रांस में हुआ वह भी एक प्रकार से यथार्थवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में ही था।

स्वरूप —

यथार्थवाद के मूल में जो प्रवृत्ति काम करती है उसके अनुसार कला या साहित्य सृष्टा हमारे सामने जीवन के जिस पक्ष का चित्रण करता है उसका आधार अनिवार्य रूप से यथार्थात्मकता होनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु तथा विषय—कला और साहित्य उसी रूप में अभिव्यक्त होना चाहिए जिस रूप में इसका अस्तित्व होता है। दूसरे शब्दों में यथार्थवाद वस्तु विषय का यथातथ्य अंकन करता है। यह आवश्यक नहीं है यह अंकन सुन्दर है अथवा कुरूप, प्रिय है अथवा अप्रिय। उसका यथार्थात्मक होना ही पर्याप्त है। इस प्रकार से यथार्थवाद विषय वस्तु के यथातथ्य अनुकरण तथा अभिव्यक्तीकरण की प्रणाली को कहते हैं।

हिन्दी साहित्य और यथार्थवाद

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग में यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप ही यथार्थवाद का आरम्भ माना जाता है परन्तु यथार्थवादी प्रवृत्ति आधुनिक युग के पूर्व रचे गए साहित्य में भी मिलती है। यथार्थवाद एक प्रकार की स्वाभाविक साहित्यिक प्रवृत्ति है क्योंकि साहित्य जीवन के यथार्थ का ही चित्रण करता है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में कबीर, तुलसी आदि के साहित्य में कहीं-कहीं यथार्थवादी तत्त्व दिखाई देते हैं। जिनमें उन्होंने सामाजिक यथार्थ के विविध पक्षों का चित्रण प्रस्तुत किया है। जहाँ तक आधुनिक

युगीन हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध है प्रगतिवाद को कभी-कभी यथार्थवाद के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है। स्थूल रूप से द्वितीय महायुद्धोत्तर साहित्य में यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ बहुलता से विद्यमान हैं।

यथार्थवाद और आदर्शवाद

सैद्धान्तिक रूप से यथार्थवाद को आदर्शवाद की विरोधी विचारधारा के रूप में समझा जाता है। यथार्थवाद में किसी प्रकार का कोई आदर्श नहीं रहता। उसमे साहित्यकार अथवा कलाकार यह देखने की चेष्टा नहीं करता कि उसके द्वारा अभिव्यक्त विषय वस्तु का पाठक अथवा समाज पर कितना अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। यथार्थवाद का अनुकरणकर्ता साहित्यकार उदात्तता के आदर्शों का भी ध्यान नहीं रखता। इस दृष्टिकोण से यथार्थवाद को अपेक्षाकृत विश्वसनीय और सहज चित्रण की प्रणाली कहा जा सकता है क्योंकि उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं है। यथार्थवाद में साहित्यकार उसी विषय वस्तु का चित्रण करता है जो प्रत्यक्ष रूप में उसके सामने अस्तित्ववान है।

जगत के सुन्दर तत्वों के साथ-साथ वह असुन्दर को भी ग्रहण करता है। वह किसी वस्तु की अवहेलना केवल उसकी कुरूपता के कारण नहीं करता। उसके विपरीत वह प्रत्येक यथार्थ वस्तु को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति देता है भले ही उसका रूप कुरूप हो अथवा कुत्सितता भरी हो। यथार्थवादी दृष्टिकोण से केवल कुरूपता के कारण किसी यथार्थ से मुंह मोड़ना पलायनवादी प्रवृत्ति का परिचायक है जिसकी यथार्थवादी विचारधारा पूर्ण विरोधिनी है। इस प्रकार से यथार्थवाद के अनुसार साहित्य या कला सृष्टा का सबसे बड़ा धर्म साहित्य में विषय वस्तु का यथातथ्य वर्णन करना है।

यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

जहाँ तक हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियों के समावेश का सम्बन्ध है, हिन्दी में भी यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न युगों में दिखाई पड़ती हैं। आधुनिक

युग में यथार्थवादी चिन्तन विशेष रूप में द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के साहित्य में मिलते हैं। उसके बाद से क्रमशः इस प्रवृत्ति का विकास होता चला गया तथा प्रगतिवाद के रूप में इसे मान्यता मिली। साहित्य के विविध अंगों में विशेष रूप से काव्य, उपन्यास तथा आलोचना में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से समाविष्ट हुई।

एक दृष्टिकोण से यह भी कहा जा सकता है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हिन्दी में छायावाद के रूप में जिस प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ था उसके प्रति विद्रोह और प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद अथवा प्रगतिवाद का आविर्भाव हुआ। कतिपय आधुनिक पाश्चात्य विचारकों मुख्यतः मार्क्स एंगिल्स फ्रायड और डारविन आदि के सिद्धान्त भी इसके मूल में रहे। इन विचारकों के सिद्धान्तों की भी स्थिति इसके मूल में रही। इन विचारकों के सिद्धान्तों के माध्यम से हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य यथार्थवाद का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर पड़ा।

पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवाद

वैचारिक विरोध —

पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवाद का जन्म साहित्य और कला क्षेत्रीय आन्दोलन के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ था। इसके स्वरूप और उद्देश्य का स्पष्टीकरण करने वाले कई घोषणा पत्र भी उस समय प्रकाशित किए गए थे। साहित्य क्षेत्रीय प्रतीकवादी आन्दोलन के मुख्य प्रेरक मेलार्मे माने जाते हैं। उन्होंने इसको एक पुष्ट और संघटनात्मक आन्दोलन का रूप प्रदान किया। वास्तव में इस आन्दोलन का यथार्थवाद, प्रकृतवाद तथा अतियथार्थवाद के विरुद्ध आदर्शवाद के पोषक तथा यथार्थात्मक अनुभूतियों के विरोधक आन्दोलन के रूप में हुआ।

प्रतीकों का क्षेत्र और महत्व

पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियों में प्रतीकवादी आन्दोलन अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता और विशिष्टता की दृष्टि से महत्व रखता है। जैसा कि पीछे कहा गया है कि प्रतीक

एक चिन्ह अथवा प्रतिरूप के अर्थ में एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख है। प्रतीकवादियों के अनुसार प्रत्येक शब्द एक भावनात्मक अथवा दृश्यात्मक सत्य की निहिति रखता है। दूसरे शब्दों में अमूर्त भावना को मूर्त अभिव्यक्ति देना प्रतीक की विशेषता होती है। कहने का आशय यह है कि प्रतीक का आधार रूप भाव गुण आकार प्रयोग आदि होते हैं और इन्हीं की समता के कारण साधारण के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त शैली को प्रतीकवादी कहते हैं। इसलिए इसे अभिव्यक्ति की एक सहज शैली के रूप में मान्य किया जा सकता है।

प्रतीकवाद का मूल आधार यह भावना है कि किसी भी भौतिक पदार्थ का दर्शन हमारे हृदय में किसी न किसी अनुभूति को जन्म देता है। यह अनुभूति किसी समवस्तु की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में वह वस्तु जिसे प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है किसी अव्यक्त की व्यक्त अभिव्यक्ति होती है। प्रतीकों के दो गुणों के आधार पर उन्हें साहित्यिक तथा वैज्ञानिक प्रतीकों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रतीकवाद का क्षेत्र आरम्भ में बहुत सीमित होता है क्योंकि उस समय वह अपने भौतिक अथवा स्थूल अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। धीरे धीरे इसका क्षेत्रगत विस्तार होता चला गया। तब इससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य सत्यों की ओर ध्यान दिया गया। उदाहरण के लिए इस तथ्य का उद्घाटन हुआ कि मनुष्य की सर्व संवेदीय प्रतिक्रियाएँ सूक्ष्म रूप में प्रतिक्रियात्मक होती हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीक भाषागत अपूर्णता के पूरक होते हैं।

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद का आरम्भ किसी आधुनिक युगीन आन्दोलन के रूप में नहीं हुआ। यहाँ स्फुट रूप से प्रतीकों का प्रयोग बहुधा कला और साहित्य के क्षेत्र में होता रहा है। प्रतीकों के प्रयोग के पीछे जो मूलभूत धारणा थी उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। जहाँ तक प्राचीनता का सम्बन्ध है हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के प्रतीक गम्भीर और सार्थक रूप से प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। इनका प्रयोग वैदिक काल तक से होता है क्योंकि वेदों में बहुधा प्रतीकात्मक कथायें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् आदि साहित्य में प्रतीकात्मक रूप में अनेक

आख्यान प्रस्तुत किये गये हैं। पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा इनके पश्चात् आधुनिक युग तक किसी न किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में मिलता है। इसलिए जब हम प्रतीकवाद का अध्ययन मूलतः सैद्धान्तिक रूप में करते हैं तब उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, एक आधुनिक विचारात्मक साहित्य कला क्षेत्रीय आन्दोलन विशेष के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य साहित्य कला में ही हुआ।

संस्कृत साहित्य के पश्चात् हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से होता रहा है। यह परम्परानुगत अर्थ में भी है तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में हुए आन्दोलन के प्रभाव के फलस्वरूप भी। क्योंकि हिन्दी का जितना भी भक्ति अथवा रीति काव्य है उसमें प्रतीकों का प्रयोग परम्परानुगत अर्थ में होता रहा है। उदाहरण के लिए कबीर आदि के साहित्य में यह प्रतीक विधान अपेक्षाकृत अधिक सार्थक रूप में मिलता है।

अतियथार्थवाद का वैचारिक आधार

पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में जो मुख्य आन्दोलन हुए उनमें अतियथार्थवाद भी व्यापक रूप से प्रचलित था। इस आन्दोलन का जन्म बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। इस आधुनिक युग में आरम्भ होने वाले साहित्य और कला क्षेत्रीय अन्य अनेक आन्दोलनों की भांति इसकी जन्मभूमि भी फ्रांस ही थी। इस आन्दोलन के मूल में एक प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना थी जो यथार्थता के रूप में पहले से ही उपज चुकी थी। परन्तु इसका अस्तित्व मानसिक और सांकेतिक रूप में ही था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया और इसकी स्पष्ट चर्चा आरम्भ हुई।

सैद्धान्तिक प्रसार

सैद्धान्तिक रूप से इसका अर्थ यह बताया गया कि वह सत्ता जो यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। इसके सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से आन्द्रे ब्रेतन का नाम

एक बिम्ब अथवा प्रतिरूप के अर्थ में एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख है। प्रतीकवादियों के अनुसार प्रत्येक शब्द एक भावनात्मक अथवा दृश्यात्मक सत्य की स्थिति रखता है। दूसरे शब्दों में अमूर्त भावना को मूर्त अभिव्यक्ति देना प्रतीक की विशेषता होती है। कहने का आशय यह है कि प्रतीक का आधार रूप भाव गुण आकार, प्रयोग आदि होते हैं और इन्हीं की समता के कारण साधारण के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त शैली को प्रतीकवादी कहते हैं। इसलिए हम अभिव्यक्ति की एक सहज शैली के रूप में मान्य किया जा सकता है।

प्रतीकवाद का मूल आधार यह भावना है कि किसी भी भौतिक पदार्थ का दर्शन हमारे हृदय में किसी न किसी अनुभूति को जन्म देता है। यह अनुभूति किसी समवस्तु की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में वह वस्तु जिसे प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है किसी अव्यक्त की व्यक्त अभिव्यक्ति होती है। प्रतीकों के दो गुणों के आधार पर उन्हें साहित्यिक तथा वैज्ञानिक प्रतीकों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रतीकवाद का क्षेत्र आरम्भ में बहुत सीमित होता है क्योंकि उस समय यह अपने भौतिक अथवा वस्तु अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। धीरे-धीरे इसका क्रमबद्ध विस्तार होता चला गया। तब इससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य तत्वों की ओर ध्यान दिया गया। उदाहरण के लिए इस तथ्य का उद्घाटन हुआ कि मनुष्य की सर्व क्षेत्रीय प्रतिक्रियाएँ सूक्ष्म रूप में प्रतिक्रियात्मक होती हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीक भावागत अपूर्णता के पूरक होते हैं।

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद का आरम्भ किसी आधुनिक युगीन आन्दोलन के रूप में नहीं हुआ। यहाँ स्फुट रूप से प्रतीकों का प्रयोग बहुधा कला और साहित्य के क्षेत्र में होता रहा है। प्रतीकों के प्रयोग के पीछे जो मूलभूत धारणा थी उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। जहाँ तक प्राचीनता का सम्बन्ध है हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के प्रतीक गम्भीर और सार्थक रूप से प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। इनका प्रयोग वैदिक काल तक से होता है क्योंकि वेदों में बहुधा प्रतीकात्मक कथायें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् आदि साहित्य में प्रतीकात्मक रूप में अनेक

व्याख्यान प्रस्तुत किये गये हैं। पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा इनके पश्चात् आधुनिक युग तक किसी न किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में मिलता है। इसलिए जब हम प्रतीकवाद का अध्ययन मूलतः सैद्धान्तिक रूप में करते हैं तब उपर्युक्त सत्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है एक आधुनिक विचारात्मक साहित्य कला क्षेत्रीय आन्दोलन विशेष के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य साहित्य कला में ही हुआ।

संस्कृत साहित्य के पश्चात् हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से होता रहा है। यह परम्परानुगत अर्थ में भी है तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में हुए आन्दोलन के प्रभाव के फलस्वरूप भी। क्योंकि हिन्दी का जितना भी भक्ति अथवा रीति काव्य है उसमें प्रतीकों का प्रयोग परम्परानुगत अर्थ में होता रहा है। उदाहरण के लिए कबीर आदि के साहित्य में यह प्रतीक विधान अपेक्षाकृत अधिक सार्थक रूप में मिलता है।

अतियथार्थवाद का वैचारिक आधार

पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में जो मुख्य आन्दोलन हुए उनमें अतियथार्थवाद भी व्यापक रूप से प्रचलित था। इस आन्दोलन का जन्म बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। इस आधुनिक युग में आरम्भ होने वाले साहित्य और कला क्षेत्रीय अन्य अनेक आन्दोलनों की भाँति इसकी जन्मभूमि भी फ्रांस ही थी। इस आन्दोलन के मूल में एक प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना थी जो यथार्थता के रूप में पहले से ही उपज चुकी थी। परन्तु इसका अस्तित्व मानसिक और सांकेतिक रूप में ही था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया और इसकी स्पष्ट चर्चा आरम्भ हुई।

सैद्धान्तिक प्रसार

सैद्धान्तिक रूप से इसका अर्थ यह लगाया गया कि वह सत्ता जो यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। इसके सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से आन्द्रे ब्रेतन का नाम

विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसने क्रमशः सन् १९२४ तथा सन् १९३० में दो घोषणा पत्र भी प्रकाशित किए और इस आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार प्रदान करने में योग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९३० के बाद यह आन्दोलन फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों में भी फैलने लगा। इंग्लैंड में इस सिद्धान्त को बहुत प्रचारित किया गया। वहाँ हर्बर्ट रीड ने इसका संचालन और प्रसारण किया। उसने न केवल अतियथार्थवाद का समर्थन किया वरन् सक्रिय रूप से इस विचारधारा को संघटनात्मक आन्दोलन में भी योग दिया।

अन्य विचारधाराओं से तुलना

सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवादी विचारकों का यह मन्तव्य है कि कला अथवा साहित्य को पूर्ण रूप से बौद्धिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने पर मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अंतर्विरोध के चित्रण की सम्भावनाएँ कम हो जायेंगी। उनके विचार से सभ्य समाज में प्रचलित नैतिक दृष्टिकोण का आदर निरर्थक है। वे स्वच्छन्दतावाद के समर्थक हैं जहाँ कोई नैतिक बन्धन नहीं स्वीकार करना पड़ता। अतियथार्थवादी विचारक पूर्वस्थापित बौद्धिक तथा कलात्मक रूढ़ियों से अपने आपको मुक्त करना चाहते थे।

इस प्रकार से यह आन्दोलन एक प्रकार से पूर्वकालीन रोमांटिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुआ था। इस दृष्टिकोण से अतियथार्थवादी आन्दोलन को आदर्शवाद तथा नियतिवाद का विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि इसकी मान्यताएँ आदर्शात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण की विरोधी हैं। इन विचारकों के अनुसार आधुनिक युग में नीति तथा आदर्श के सिद्धांत अव्यावहारिक तथा रूढ़िवादी हो गए हैं। इसीलिए वे उनको निरर्थक कहकर उनका बहिष्कार करते हैं।

अस्तित्ववादी विचार प्रणाली

पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियों के निर्धारण में जिन आधुनिक आन्दोलनों ने विशेष रूप से योग दिया है उनमें अस्तित्ववाद का भी विशेष स्थान है। अस्तित्ववाद को संसार

की आधुनिकतम विचार प्रणालियों में से एक माना जाता है। आधुनिक युग के जितने भी दार्शनिक विचारधाराओं से सम्बन्धित आन्दोलन हैं उनमें अस्तित्ववाद का स्थान इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने साहित्य के क्षेत्र को विशेष रूप से प्रभावित किया। एक दार्शनिक विचारधारा अथवा आन्दोलन के रूप में अस्तित्ववाद का आरम्भ १९वी शताब्दी में हुआ था। इसके प्रारम्भिक प्रवर्तकों में कीर्कगार्ड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आध्यात्मिक संकट का दर्शन

अस्तित्ववादी विचारधारा मूलतः आध्यात्मिक संकट का दर्शन है। इसके प्रति विविध विचारकों का आकर्षण यही सकरुणपरक स्थिति है। हमारी प्रत्येक आध्यात्मिक स्थिति मूलतः संकट की स्थिति है। मनुष्य परिस्थितियों की विवशता के कारण समाज का दास बन जाता है। और उस मूल तत्व से अपरिचित रहता है जो अनावश्यक तत्वों से आवृत रूप में उसे मिलता है। इसलिए अस्तित्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की मौलिक व सटीक व्याख्या करता हुआ पूर्ण प्रक्रिया से उसका निराकरण करता है।

मूल्य परिवर्तन —

प्रत्येक नवीन युग का आरम्भ एक प्रकार की प्रतिक्रिया के रूप में होता है। यह प्रतिक्रिया मूलतः विगत युग की सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरुद्ध होती है। यह भी एक संकट को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में इसके मूल में एक ऐसी प्रतिक्रिया होती है जो विगत मान्यताओं से स्वतंत्र होने की क्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया की विभिन्न स्थितियों में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब पुरानी मान्यताओं के प्रति मनुष्य का अनास्थाभाव प्रबल होने लगता है और नई मान्यताओं के प्रति भी निश्चयात्मक रूप से उसकी आस्था दृढ़ नहीं हो पाती। इस स्थिति विशेष को भी अस्तित्ववादी विचारक संकट की स्थिति कहते हैं जो मूल्य निर्धारण का संक्रान्ति काल होता है।

अस्तित्ववाद और उसकी साहित्यिक परिणति

साहित्य के क्षेत्र में अस्तित्ववाद स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हुआ। उसकी भाँति

यह भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष को अधिक महत्व देता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्वाद का प्रमुख प्रवर्तक विचारक कीर्केगार्ड स्वयं स्वच्छन्दतावाद का विरोधी था। कीर्केगार्ड का यह विचार है कि मनुष्य प्रायः बहुत सी वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहता है तथा उन्हें उचित रूप से समझ नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की प्रत्येक वैयक्तिक समस्या का किसी न किसी रूप में उसकी धार्मिक भावना अथवा विश्वास से अवश्य सम्बन्ध होता है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण कीर्केगार्ड को एक अस्तित्व अथवा धार्मिक अस्तित्ववादी विचारक माना जाता है क्योंकि जहाँ एक ओर वह धार्मिक भावनाओं को गौरवपूर्ण मानता है वहाँ दूसरी ओर धर्मेतर भावनाओं को पाप की स्थिति मानता है। इसीलिए कीर्केगार्ड का यह विचार है कि अस्तित्व विचारधारा का रहस्य कीर्केगार्ड का रहस्य है और अस्तित्ववाद ईश्वर का साक्षात्कार करने के ढंग रूप से आरम्भ किया गया एक प्रयत्न है।

पाश्चात्य साहित्य में अस्तित्ववाद का समावेश सबसे अधिक फ्रांसीसी साहित्य में मिलता है। युद्धोत्तर साहित्य की सृजनशील प्रवृत्तियों में इस वाद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस काल में लिखी गई कहानियों तथा उपन्यासों में इस सिद्धांत का क्रियात्मक रूप लक्षित किया जा सकता है। नाटक के क्षेत्र में भी उपन्यासों और कहानियों की भाँति सार्त्र ने इस प्रवृत्ति को समाविष्ट किया। सार्त्र के अतिरिक्त दूसरा महत्वपूर्ण क्रियात्मक साहित्यकार एल्बर्ट कामू है। इन्हीं के समान अन्य भी बहुत से विचारक हैं जिनकी कृतियों में अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के संकेत मिलते हैं और जो अस्तित्ववादी मानदंडों का निर्धारण करते हैं।

आदर्शवादी वैचारिक प्रसार

पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक युग में जितने भी प्रतिक्रियावादी आन्दोलन आरम्भ हुए उन सबके मूल में आदर्शवाद का विरोधी सिद्धान्त था। इसलिए आदर्शवाद को मध्य कालीन साहित्य की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति के रूप में मान्य किया जा सकता है। आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो मनुष्य को जीवन में उदात्त तत्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की अवगति कराती है। वस्तुतः ये ही उपलब्धियाँ

मनुष्य के मानसिक सन्तोष और सुख का मूल कारण होती है। चूँकि इन भावनाओं का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर से है इसलिए आदर्शवाद अन्तर्मुखी विचारधारा भी कहा जा सकता है।

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार बाह्य सुख निरर्थक है इसलिए उनके प्रति उदासीन रहना चाहिए। उसे स्थायी सुख और शांति की खोज करनी चाहिए तथा यह समझना चाहिए कि मनुष्य के शरीर में निवास करने वाली आत्मा अनश्वर होती है और उसका भौतिक सुखों से सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार से मानव जीवन की उदात्तता की प्रेरणा देने वाली इस आदर्शवादी विचारधारा की मूल वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। इसके अतिरिक्त इसे आदर्शवाद की एक शाश्वत विचारधारा के रूप में देखा जा सकता है। आदर्शवादी मानदंड इसी कारण से चिरन्तनता के द्योतक होते हैं तथा सामयिक और यथार्थवादी विचारधारा के विरोधी होते हैं।

हिन्दी साहित्य और आदर्शवाद

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि जहाँ तक हिंदी साहित्य का सम्बन्ध है उसमें आरम्भ से आदर्शवादी विचारधारा का निरन्तर से समावेश होता रहा है। आदर्शवादिता उसका प्रमुख अंग रही है और हिंदी के प्रारम्भिक युगीन साहित्य की विभिन्न दिशाओं में उसका योग रहा है। हिंदी साहित्य में आदर्शवादी विचारधारा की इस प्रमुखता के कारणों का यदि हम विश्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि वे बहुत कुछ स्वयं भी स्पष्ट हैं। सर्वप्रथम यह है कि हिंदी ने अपनी पूर्ववर्ती जिन भाषा परम्पराओं से प्रभाव ग्रहण किया उनके साहित्यों में भी आदर्शवादी विचार तत्वों की प्रमुखता रही है। उदाहरण के लिए हिंदी पर आरम्भ में संस्कृत साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। और संस्कृत साहित्य में आदर्शवादिता की व्याप्ति बहुत अधिक रही है।

इसके अतिरिक्त भारतीय धर्म शास्त्र में भी आदर्श पर बहुत अधिक गौरव दिया गया है। हमारे धार्मिक तथा पौराणिक आख्यानों के प्रमुख चरित्र भी आदर्शात्मकता के प्रतीक हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी साहित्य में भी उनसे प्रेरित जितना साहित्य है, उसमें आदर्शात्मक तत्वों का समावेश उसी प्रकार से बहुलता पूर्वक मिलता है जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य मूलों पर आधारित हिन्दी साहित्य में। भारतवर्ष

का इतिहास भी यहां जन्मे हुए महापुरुषों की आदर्श गाथाओं से भरा हुआ है। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दी में जितना भी साहित्य ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित है उसमें भी आदर्शात्मक तत्व बहुलता से समावेशित मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास काल वीर गाथा युग में भी जो साहित्य रचा गया वह वीरता के आदर्शों से परिपूर्ण है। भक्ति युग में तो धार्मिक आदर्शों की इतनी धूम रही कि इस युग में रचा गया प्रायः सारा का सारा हिन्दी साहित्य आदर्शात्मकता के तत्वों से भरा हुआ है। रीति युग में हिन्दी कवियों के सामने मुख्यतः परम्परागत काव्यादर्श ही रहे। और आधुनिक युग में आदर्शवादी विचार परम्परा अपने महत्व को अक्षुण्ण बनाये हुए है जब कि विचार जगत में इतनी अधिक भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी मतों पर आधारित चिन्तन धाराएँ अपनी क्षेत्र गत संकुचितता के कारण एक प्रकार से अपने स्थायित्व में स्वयं ही बाधक सी बनी हुई हैं। यों हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम विकास युग से लेकर वर्तमान युग तक आदर्शवादी विचार तत्व किसी न किसी रूप में उसे प्रभावित करते रहे हैं और अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा उसमें बहुलता से अधिक समावेशित हुए हैं।

इस प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गत जो विविध वैचारिक आन्दोलन समय समय पर आरम्भ हुए तथा उनके द्वारा समीक्षा की जो भिन्न भिन्न प्रणालियां बनीं उनका संक्षिप्त और परिचयात्मक विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है। भारतीय साहित्य शास्त्र में जिन समीक्षा सम्प्रदायों का प्रचार व प्रसार मिलता है तथा उनके अन्तर्गत जो मुख्य मानदंड विषयक धारणाएँ मिलती हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इन दोनों के पारस्परिक साम्य का भी सूचन करने के साथ-साथ, नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

पाश्चात्य प्रभाव के पूर्व की स्थिति

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पाश्चात्य सम्पर्क में आने के पूर्व हिन्दी पर विशेषतः संस्कृत समीक्षा सिद्धांतों का ही प्रभाव व्याप्त था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसके पूर्व की सम्पूर्ण हिन्दी समीक्षा का आधार संस्कृत साहित्य शास्त्र के सिद्धान्त थे। इसलिए भारतीय समीक्षा प्रणालियों के रूप में संस्कृत के ही प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख

सम्प्रदाय जिनमें रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत ध्वनि सिद्धान्त, रीति सिद्धांत तथा वक्रोक्ति सिद्धांत आदि हैं—ही परवर्ती काल में हिन्दी समीक्षा शास्त्र का मूल आधार रहे।

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा का अन्त होने के पश्चात् परवर्ती युग में हिन्दी समीक्षा शास्त्र का जो विकास रीति युग में हुआ उसका आधार भी प्राय उपर्युक्त संप्रदाय ही रहे हैं। रीति युग के पश्चात् आधुनिक युग में भी जिस रूप में समीक्षा का विकास हुआ उसके मूल में यह सिद्धान्त तो आधार रूप में स्थित रहे हैं पाश्चात्य प्रभाव भी पर्याप्त रूप में मिलता है।

भारतीय रस सिद्धान्त

संस्कृत के रस सिद्धांत को संस्कृत समीक्षा शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में मान्य किया जाता है। संस्कृत साहित्य में यह सिद्धांत बहुत प्राचीन है। प्राचीनता की दृष्टि से संस्कृत में 'रस शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम वेदों में मिलता है। परन्तु न तो उस सन्दर्भ में यह शब्द आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और न वेदों में इस शास्त्र का सम्यक विश्लेषण ही मिलता है। अनुमान यह लगाया जाता है कि वैदिक काल में जो क्रियात्मक साहित्य रचा जा रहा था, उसी में संकेत रूप में साहित्य शास्त्रीय विविध वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया गया होगा। यही नहीं आगे चलकर संस्कृत समीक्षा का जो विकास हुआ होगा उसके आधारभूत सिद्धान्त तथा प्रेरक सूत्र भी इन्हीं क्रियात्मक ग्रन्थों में रहे होंगे जैसे कि वे पाश्चात्य यूनानी साहित्य के अन्तर्गत आने वाले 'इलियड' आदि महाकाव्यों में मिलते हैं और जिनसे सूत्र संकेत ग्रहण करके यूनानी साहित्य शास्त्र जैसी समृद्ध और महान् परम्पराओं का आविर्भाव हुआ। कहने का आशय यह है कि वैदिक साहित्य में इस शास्त्र का सैद्धान्तिक विश्लेषण यद्यपि नहीं मिलता परन्तु वहाँ पर इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है जो परवर्ती युग में काव्य द्वारा प्राप्त आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।[1]

1 '*Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit*
A Shankaran p 3

भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्यक रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छत्तीस अध्यायों के इस बृहत ग्रन्थ में नाट्य तत्वों के सन्दर्भ में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस निष्पत्ति" आगे चलकर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परवर्ती समीक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आधार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मूल स्थायी भाव बताए हैं। वे रति क्रोध, उत्साह और जुगुप्सा हैं। इनके आधार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृ गार, रौद्र वीर तथा वीभत्स हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आधारित अन्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृ गार, रौद्र वीर और वीभत्स के आधार पर उन्होंने क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों का निदर्शन किया। इनमें से हास्य का स्थायी भाव हास करुण का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्देशित किया। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर आए हैं भरत ने केवल आठ रसों को ही मान्य किया। नवां रस शान्त रस के रूप में परवर्ती काल में मान्य किया गया।

रस संख्या —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के पश्चात नवां रस शान्त रस के रूप में उद्भट के द्वारा किया गया। फिर कुछ परवर्ती आचार्यों ने वात्सल्य आदि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर लिया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकांश आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृ गार रस को ही मुख्य रस माना। शृ गार रस की प्रतिष्ठा रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विविध पक्षों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मूलतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

का कारण इस भाव तत्व में ही निहित रहता है। इसलिए भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कला की आत्मा से होता है। यह भाव प्राधान्य ही रस सिद्धान्त का मूल आधार है।

रसानुभूति की प्रक्रिया

भट्टनायक ने रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि समस्त काव्य व्यापारों को उनके तीन पक्षों में विभक्त किया जा सकता है। ये तीन पक्ष अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व होते हैं। उनका विचार है कि इनमें से प्रथम दो पक्षों अर्थात् अभिधा और भावकत्व के कारण मनुष्य के हृदय में रस का बोध होता है और भाव की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात भोजकत्व का गुण क्रियाशील होने लगता है। इससे फलस्वरूप भाव का आनन्द प्राप्त होता है। इसी भावना को रस कहा जाता है जो मूलतः आनन्द दशा है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें केवल सत् गुण विशेष रहता है, रज और तम गुणों का लोप हो जाता है। इस प्रकार से यह रस दशा एक प्रकार के उच्चतर आनन्द की दशा होती है।

भारतीय रस सिद्धान्त और पाश्चात्य मान्यताएँ

भारतीय साहित्य शास्त्र में संस्कृत समीक्षा के अन्तर्गत रस सिद्धान्त प्राचीनतम माना जाता है। काव्य में रस की प्रतिष्ठा उसकी आत्मा के रूप में करते हुए इस सिद्धान्त की व्यापक दृष्टिकोण से विवेचना की गयी है। पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में रस का विश्लेषण प्रायः नाटक और महाकाव्य के प्रसंग में किया गया है, परन्तु उसे मुख्यता नहीं दी गयी है। क्रोचे आदि ने अभिव्यंजना के संदर्भ में जिस सहजानुभूति की व्याख्या की है, वह भी इसी से मिलती-जुलती है। परन्तु रस विषयक भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं में मुख्य अन्तर यही है कि यहाँ रसानुभूति पर सर्वाधिक गौरव दिया गया है परन्तु पाश्चात्य दृष्टिकोण से काव्य को अनुकृति मानकर अनुकरण पर बल है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय रस सिद्धांत मुख्यतः दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार लेकर स्थापित किया गया है। पाश्चात्य रूप वाद आदि आन्दोलनों की भाँति

भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्यक रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छत्तीस अध्यायों के इस वृहत ग्रन्थ में नाट्य तत्वों के सन्दर्भ में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस निष्पत्ति" आगे चलकर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परवर्ती समीक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आधार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मूल स्थायी भाव बताए हैं। ये रीति क्रोध, उत्साह और जुगुप्सा हैं। इनके आधार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृंगार, रौद्र और तथा वीभत्स हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आधारित अन्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृंगार, रौद्र वीर और वीभत्स के आधार पर उन्होंने क्रमशः हास्य करुण, अद्भुत और भयानक रसों का निदर्शन किया। इनमें से हास्य का स्थायी भाव हास करुण का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्देशित किया। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर आए हैं भरत ने केवल आठ रसों को ही मान्य किया। नवां रस शान्त रस के रूप में परवर्ती काल में मान्य किया गया।

रस संख्या —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के पश्चात नवां रस शान्त रस के रूप में उद्भट के द्वारा किया गया। फिर कुछ परवर्ती आचार्यों ने वात्सल्य आदि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर किया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकांश आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृंगार रस को ही मुख्य रस माना। शृंगार रस की प्रतिष्ठा रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विविध पक्षों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मूलतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

[illegible] में ही निहित रहता है। इसलिए भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध [illegible] है। यह भाव प्राधान्य ही रस सिद्धान्त का मूल आधार है।

रसानुभूति की प्रक्रिया

भट्टनायक ने रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि समस्त काव्य व्यापारों [illegible] तीन पक्षों से विभक्त किया जा सकता है। ये तीन पक्ष अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व हैं। उनका विचार है कि इनमें से प्रथम दो पक्षों अर्थात् अभिधा और भावकत्व के द्वारा सहृदय के हृदय में रस का बोध होता है और भाव की उत्पत्ति होती है। [illegible] क्रियाशील होने लगता है। इसके फलस्वरूप [illegible] जो रस कहा जाता है, [illegible] विशेष रहता है, रज और तम [illegible] एक प्रकार के [illegible] आनन्द की [illegible] होती है। इस प्रकार से यह रस [illegible]

भारतीय रस सिद्धान्त और पाश्चात्य मान्यताएं

भारतीय साहित्य शास्त्र में [illegible] रस सिद्धान्त [illegible] माना जाता है। काव्य में रस की [illegible] सिद्धान्त की व्यापक दृष्टिकोण से [illegible] क्षेत्र में रस का विश्लेषण [illegible] इसे मुख्यता नहीं दी गयी है। [illegible] भूति की व्याख्या की है, [illegible] और पाश्चात्य मान्यताओं में मुख्य अन्तर यही है कि [illegible] किया गया है परन्तु पाश्चात्य दृष्टिकोण [illegible] पक्ष है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय रस [illegible] आधार लेकर स्थापित किया गया है। [illegible]

भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्यक् रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छत्तीस अध्यायों के इस बृहत ग्रन्थ में नाट्य तत्वों के सन्दर्भ में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस निष्पत्ति" आगे चलकर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परवर्ती समीक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आधार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मूल स्थायी भाव बताए हैं। ये रति क्रोध, उत्साह और जुगुप्सा हैं। इनके आधार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृंगार, रौद्र वीर तथा वीभत्स हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आधारित अन्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृंगार, रौद्र वीर और वीभत्स के आधार पर उन्होंने क्रमशः हास्य करुण अद्भुत और भयानक रसों का निवर्तन किया। इनमें से हास्य का स्थायी भाव हास करुण का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्धारित किया। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर आए हैं भरत ने केवल आठ रसों को ही मान्य किया। नवां रस शान्त रस के रूप में परवर्ती काल में मान्य किया गया।

रस संख्या —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के पश्चात नवां रस शान्त रस के रूप में उद्भट के द्वारा किया गया। फिर कुछ परवर्ती आचार्यों ने वात्सल्य आदि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर लिया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकांश आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृंगार रस को ही मुख्य रस माना। शृंगार रस की प्रतिष्ठा रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विभिन्न पक्षों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मूलतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

सर्वप्रथम अलंकारों का सूक्ष्म विभाजन किया। उन्होंने अनुप्रास यमक, रूपक दीपक, उपमा आक्षेप प्रतिवस्तूपमा अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक विभावना अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति यथासंख्य स्वभावोक्ति अपह्नुति, विशेषोक्ति सहोक्ति, प्रेयस रसवत ऊर्जस्व, पर्यायोक्ति समाहित उदात्त श्लेष तुल्ययोगिता अप्रस्तुत प्रशंसा व्याज स्तुति, निदर्शना उपमा, रूपक, उपमेयोपमा परिवृत्ति संदेह अनन्वय उत्प्रेक्षावयव संसृष्टि भाविक और भावी आदि अलंकारों का भेद सहित विश्लेषण किया।

दंडी का दृष्टिकोण

भामह के पश्चात् दंडी ने अपने ग्रन्थ "काव्यादर्श" में अलंकार शास्त्र का विवेचन किया। उन्होंने काव्य के सौन्दर्यकारक ध्वनि अथवा विशिष्ट गुणों को अलंकार बताया। अतिशयोक्ति अलंकार को उन्होंने अलंकारों में उत्तम ठहराया तथा अतिशयोक्ति को अन्य अलंकारों का परम आश्रय बताया। इसके अतिरिक्त रस के द्वारा उत्तम आनन्द प्रदान करने वाले भाव कथन को उन्होंने रसवत् अलंकार कहा। फिर गर्व की अभिव्यक्ति करने वाले अलंकार को ऊर्जस्व अलंकार कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेय: तथा श्लेष अलंकारों की भी व्याख्या की।

उद्भट की अलंकार व्याख्या

दंडी के पश्चात् आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ "काव्यालंकार सार संग्रह" में रसवत् अलंकार की व्याख्या करते हुए बताया कि जिस काव्य में शृंगार आदि रसों का उदय स्पष्टतः दर्शित हो उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। फिर प्रेय: अलंकार के विषय में उन्होंने लिखा है कि रति आदि भाव के सूचक अनुभाव आदि के द्वारा जिस काव्य की रचना की जाए वह प्रेय: अलंकार से युक्त होता है। ऊर्जस्व अलंकार के विषय में उन्होंने बताया कि क्रोध आदि के कारण अनौचित्य में प्रवृत्त भाव अथवा रस रचना को ऊर्जस्व अलंकार कहते हैं। समाहित अलंकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि जहाँ रस, भाव रसाभास तथा भावाभास की शान्ति का वर्णन हो तथा अन्य रसों के

यह काव्य के बाह्य रूप से सम्बन्धित न होते हुए उसकी आत्मा अथवा आन्तरिक रूप से सम्बद्ध है।

भारतीय अलंकार सिद्धान्त

संस्कृत समीक्षा के अन्तर्गत अलंकार सिद्धांत भी बहुत महत्व रखता है। जिस प्रकार से संस्कृत के रस सिद्धांत के अंतर्गत काव्य की आत्मा को महत्व और प्रधानता दी गई है उसी प्रकार से अलंकार सिद्धांत के द्वारा काव्य के शरीर को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इसके अनुसार काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व उसके अलंकार होते हैं क्योंकि इनके द्वारा काव्य के शरीर का अलंकार होता है तथा सौन्दर्य वृद्धि होती है। चूँकि काव्य शरीर के मुख्य तत्व शब्द तथा अर्थ होते हैं इसलिए अलंकार भी क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के रूप में विभाजित किए जाते हैं।

प्राचीनता —

अलंकार सिद्धान्त की चर्चा संगठित रूप में यद्यपि बहुत बाद में ही मिलती है परन्तु प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्व भी रस सिद्धांत की अपेक्षा कम नहीं है। अलंकार की चर्चा भी सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में मिलती है। संस्कृत साहित्य में शास्त्रीय रूप में सबसे पहले रस सिद्धांत के प्रणेता मुनि भरत ने ही अपने ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र' में अलंकार का प्राथमिक विभाजन किया और उपमा दीपक रूपक तथा यमक नामक केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया। परन्तु यह विभाजन आगे चलकर अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत हो गया।

भामह का अलंकार विवेचन

अलंकार सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला सर्व प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ "काव्यालंकार" है जिसके रचयिता आचार्य भामह हैं। इसलिए भामह को ही अलंकार सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। भामह ने संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में

सर्वप्रथम अलंकारों का सूक्ष्म विभाजन किया। उन्होंने अनुप्रास, यमक रूपक दीपक, उपमा आक्षेप प्रतिवस्तूपमा अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक विभावना अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा समासोक्ति यथासंख्य स्वभावोक्ति, अपन्हुति विशेषोक्ति, सहोक्ति, प्रेयस रसवत ऊर्जस्व पर्यायोक्ति समाहित उदात्त श्लेष तुल्ययोगिता अप्रस्तुत प्रशंसा व्याज स्तुति, निदर्शना उपमा, रूपक, उपमेयोपमा परिवृत्ति संदेह अनन्वय उत्प्रेक्षावयव संसृष्टि भाविक और आशी आदि अलंकारों का भेद सहित विश्लेषण किया।

दंडी का दृष्टिकोण

भामह के पश्चात् दंडी ने अपने ग्रन्थ "काव्यादर्श" में अलंकार शास्त्र का विवेचन किया। उन्होंने काव्य के सौन्दर्यकारक धर्म अथवा विशिष्ट गुणों को अलंकार बताया। अतिशयोक्ति अलंकार को उन्होंने अलंकारों में उत्तम ठहराया तथा अतिशयोक्ति को अन्य अलंकारों का परम आश्रय बताया। इसके अतिरिक्त रस के द्वारा उत्पन्न आनन्द प्रदान करने वाले भाव कथन को उन्होंने रसवत अलंकार कहा। फिर गर्व की अभिव्यक्ति करने वाले अलंकार को ऊर्जस्व अलंकार कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेयः तथा श्लेष अलंकारों की भी व्याख्या की।

उद्भट की अलंकार व्याख्या

दंडी के पश्चात् आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सार संग्रह" में रसवत् अलंकार की व्याख्या करते हुए बताया कि जिस काव्य में शृंगार आदि रसों का उदय स्पष्टतः लक्षित हो उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। फिर प्रेयः अलंकार के विषय में उन्होंने लिखा है कि रति आदि भाव के सूचक अनुभाव आदि के द्वारा जिस काव्य की रचना की जाए वह प्रेयः अलंकार से युक्त होता है। ऊर्जस्व अलंकार के विषय में उन्होंने बताया कि क्रोध आदि के कारण अनौचित्य में प्रवृत्त भाव अथवा रस रचना को ऊर्जस्व अलंकार कहते हैं। समाहित अलंकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि जहां रस, भाव रसाभास तथा भावाभास की शान्ति का वर्णन हो तथा अन्य रसों के

अनुभाव आदि की अपेक्षा हो वहाँ समाहित अलंकार होता है। इसके अतिरिक्त उदात्त अलंकार के विषय में उद्भट ने लिखा है कि किसी समृद्ध वस्तु अथवा महापुरुष के अभ्रमान या अंगरूप वर्णन को उदात्त अलंकार कहा जाता है।

अन्य अलंकार शास्त्री और अलंकार भेद

वामन ने अलंकार के महत्व के विषय में बताया है कि काव्य अलंकार के योग से ही उपादेय होता है। फिर उन्होंने अलंकार को परिभाषित करते हुए लिखा कि काव्य में सौंदर्य के आधायक तत्व को अलंकार कहते हैं। वामन ने केवल तीस अलंकारों को मान्य किया है। वामन के पश्चात् रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए उनके चार भेद किये हैं। ये चारों भेद अर्थालंकारों से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें पहला भेद वास्तव अलंकार है, जिसे उन्होंने वस्तु के स्वरूप का वर्णन करने वाला कह कर परिभाषित किया है। दूसरा भेद औपम्य अलंकार है इसमें वक्ता किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक प्रकार से प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करता है। तीसरा भेद अतिशय अलंकार है जो वहाँ होता है जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम किसी बाधा के कारण भिन्न स्वरूप को प्राप्त हो जाए। चौथा भेद श्लेष अलंकार है। यह वहाँ होता है जहाँ अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य के द्वारा अनेक अर्थों का बोध हो। रुद्रट के पश्चात् कुन्तक ने अलंकार की परिभाषा करते हुए लिखा कि वक्रोक्ति का अर्थ अलंकार है और इस प्रकार से जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए उसको अलंकार कहते हैं।

महत्व —

इस प्रकार से संस्कृत के अन्य सम्प्रदायों की भाँति अलंकार सम्प्रदाय भी प्राचीनता महत्व तथा प्रसार की दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय है। जैसा कि पीछे के विवरण से स्पष्ट होता भरत मुनि ने केवल चार अलंकारों का विधान किया था। उनके पश्चात् दंडी उद्भट, वामन रुद्रट कुन्तक आदि ने इस वर्गीकरण को सूक्ष्मतर किया तथा अलंकार के सैकड़ों भेद तथा उपभेद बनाए। इस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र का यह सम्प्रदाय अपनी परम्परा को आज भी अक्षुण्ण बनाए हुए है। यही नहीं संस्कृतेतर परम्पराओं में अलंकार शास्त्र का प्रसार हो रहा है एवं बड़ी संख्या में नवीन अलंकारों की सृष्टि की जा रही है।

पाश्चात्य यूनानी साहित्य शास्त्र और भारतीय अलंकार सिद्धान्त

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की प्राचीन यूनानी परम्परा में अरस्तू ने यद्यपि अपने ग्रन्थ 'रिटोरिक' में काव्यशास्त्र के विविध अंगों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु उसमें अलंकार का प्रयोग भारतीय अर्थ में नहीं किया गया है। पाश्चात्य विचार धारा के अनुसार भाषण कला तथा वाग्मिता आदि के सन्दर्भ में ही इस शब्द का प्रयोग किया गया जब कि भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकार को काव्य की आत्मा मानकर उसकी प्रधानता का विवेचन हुआ। इसलिए इन दोनों दृष्टियों में पारस्परिक भिन्नता है। अरस्तू ने मुख्य रूप से अनुकरण पर बल दिया और उसे काव्य का स्रोत माना जबकि हमारे यहाँ अलंकार सिद्धांत का प्रतिपादन उसकी प्रतिष्ठा काव्य की आत्मा के रूप में करते हुए हुआ है।

भारतीय ध्वनि सिद्धांत

ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापकों में आनन्दवर्द्धन का नाम सब से अधिक महत्वपूर्ण है। रस तथा अलंकार सम्प्रदायों की भाँति ध्वनि सिद्धांत भी बहुत प्राचीन अनुमानित किया जाता है यद्यपि इसका सबसे पहले निरूपण और संयोजन आनन्दवर्द्धन के द्वारा ही किया गया। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि होती है। इस प्रकार से रस सिद्धांत रीति सिद्धांत तथा वक्रोक्ति सिद्धांत की भाँति ही इस सिद्धांत का उद्देश्य भी काव्य की आत्मा की खोज करना है। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार ध्वनि काव्य ही सर्वोत्तम काव्य है। इस सिद्धांत की एक विशेषता यह भी है कि जिस प्रकार से अलंकार तथा रीति सिद्धांतों में रस की उपेक्षा की गई थी इसमें वैसा नहीं किया गया। यही नहीं ध्वनि सिद्धांत ने अपने परिवेश में प्रायः सभी काव्य सिद्धांतों की विशेषताओं को समावेशित कर लिया। इस कारण इसमें पर्याप्त पूर्णता तथा विशदता मिलती है।

व्याख्या और क्षेत्र विस्तार

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार शब्द, पद और वाक्य का बहुत महत्व है। शब्द इसे

कहते हैं जो सुन पड़े। दूसरे शब्दों में, संसार में किसी पदार्थ का बोध कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं। इसी प्रकार से जब बहुत से शब्द एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, तब उन्हें शब्द समूह या पद कहते हैं एवं जहाँ पर बहुत से पद एकत्रित हों और पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करें, उसे वाक्य कहते हैं। इस प्रकार से शब्द की शक्ति बहुत अधिक है। विभिन्न अर्थों के बोधक शब्दों को सुनकर हमारे मन में उसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। जो शक्ति इस प्रतिक्रिया का मूल कारण होती है उसे शब्द शक्ति कहते हैं।

दूसरे शब्दों में किसी शब्द का अर्थ बताने वाली शक्ति को शब्द शक्ति कहते हैं। इन शब्द शक्तियों के तीन भेद माने गए हैं। यह अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना है। इन्हीं के सम्बन्ध से शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं। वाचक, लक्षक तथा व्यंजक और इन्हीं के सम्बन्ध से अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ कहते हैं। इनमें से अभिधा उस शब्द शक्ति या शब्द व्यापार को कहते हैं जो मुख्य अर्थ का बोध कराये। लक्षणा शक्ति उसे कहते हैं जो मुख्य अर्थ में बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन की सहायता से अन्य अर्थ की प्रतीति कराएँ तथा व्यंजना शक्ति वहाँ होती है जहाँ पर अभिधा और लक्षणा द्वारा अर्थ बोध के बाद किसी अन्य अर्थ का बोध हो।

इसी व्यंजना की मुख्यता के आधार पर ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य के तीन भेद किए जाते हैं ध्वनि काव्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा अवर काव्य। ध्वनि सम्प्रदाय में उपर्युक्त सिद्धांतों के सूक्ष्म भेदों तथा उपभेदों का वर्णन और व्याख्या प्रस्तुत की गई है। 'ध्वन्यालोक' 'काव्य प्रकाश' 'साहित्य दर्पण' 'काव्य निर्णय' काव्य दर्पण तथा 'रस गंगाधर' आदि ग्रन्थों में विवेचित यह सिद्धांत भारतीय साहित्य शास्त्र में अपने क्षेत्र विस्तार के कारण अन्यतम है।

भारतीय ध्वनि सिद्धान्त और पाश्चात्य दृष्टिकोण

भारतीय ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप की विशदता से विवेचना करते हुए ध्वनि काव्य को सर्वोत्तम कोटि का काव्य बताया। उन्होंने काव्य के प्रकट तथा अप्रकट अर्थों की ओर संकेत किया और ध्वनि के अनेक सूक्ष्म भेद विभेद किये। उन्होंने ध्वनि का भारतीय साहित्य शास्त्रीय सम्प्रदायों के सन्दर्भ में व्यापक विवेचन किया और एक सम्यक सिद्धांत के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने इसे इतना अधिक क्षेत्र विस्तार

दिया कि संस्कृत समीक्षा के अलंकार रीति तथा वक्रोक्ति आदि सभी सिद्धांत इसके अन्तर्गत आ गये। पाश्चात्य दृष्टिकोण में काव्य का तात्विक विश्लेषण करने वाला कोई सिद्धांत नहीं है। *संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों में जो वैचारिक प्रसार* दिखायी देता है उसका भी पाश्चात्य चिन्तन में अभाव है। ध्वनि सिद्धांत भी मुख्य रूप से काव्य के अतिरिक्त स्वरूप अथवा उसकी आत्मा पर ही बल देता है जब कि पाश्चात्य रूपवाद तथा प्रतीकवाद आदि आन्दोलन उसके बाह्य रूप तथा अभिव्यक्ति पर गौरव देते हैं।

भारतीय रीति सिद्धान्त

रीति सिद्धान्त भी संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों में एक है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक आचार्य दंडी हैं। उनका मन्तव्य यह है कि काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण अलंकार आदि न होकर मुख्य गुण हैं। इन गुणों की संख्या उन्होंने दस मानी है। इस प्रकार से रीति मत का आभास दंडी के विचारों में मिल जाता है, यद्यपि एक सिद्धान्त के रूप में दंडी ने रीति का प्रयोग नहीं किया। आगे चलकर आचार्य वामन ने इस सिद्धान्त की व्यवस्थित रूप से स्थापना की। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए यह कहा कि गुण और अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं परन्तु उनमें भी गुण का महत्व अलंकार की अपेक्षा अधिक है।

इससे स्पष्ट है कि रीति सिद्धांत रस सिद्धांत के विपरीत एक ऐसा सिद्धांत है, जिसे काव्य के अंतरंग की अपेक्षा बहिरंग को अधिक महत्व दिया गया है। वामन ने रीति को ही काव्य माना है। उनके विचार से विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। इस प्रकार से काव्य की एक विशिष्ट शैली को ही रीति माना गया है। रीति के तीन भेद होते हैं, वैदर्भी गौड़ीया तथा पांचाली। इनमें से प्रथम को वामन सर्वगुण सम्पन्न तथा सर्व ग्राही बताया है।

रीति और गुण :—

रीति परम्परा के अन्य आचार्यों में रुद्रट राजशेखर भोज आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से रुद्रट ने 'लाटी' के नाम से इसका एक और भेद कर दिया। अन्य विचारकों के दृष्टिकोण में प्रायः एकरूपता की प्रतीति होती है। जैसा कि ऊपर

कहा गया है काव्य के सौन्दर्य कारक श्लेष प्रसाद समता समाधि माधुर्य, ओज सुकुमारता उदारता वास्तविकता तथा कांति गुण माने गए हैं। परन्तु आगे चलकर इनमें से माधुर्य ओज तथा प्रसाद गुण ही विशेष रूप से मान्य किए गए।

भारतीय रीति सिद्धान्त तथा पाश्चात्य प्रतीकवाद

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में मान्य करते हुए अपने सिद्धान्त का व्यापक दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। रीति के लिए दंडी ने 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। वामन ने रीति को गुणों पर आधारित किया है। उन्होंने रीति की व्याख्या करते हुए उसे विशिष्ट पद रचना कहा। रीति के वैदर्भी गौड़ीया तथा पांचाली नामक तीन भेद करते हुए उन्होंने प्रथम को सर्वाधिक मान्य किया। वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीति को गुणों पर न आधारित मानकर समास पर आधारित किया और उसके चार भेद किये। इस प्रकार से अनेक आचार्यों द्वारा स्पष्टीकृत और समर्थित रीति सिद्धान्त काव्य रचना की शैली का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है।

दूसरे शब्दों में इसके द्वारा शैली की उत्कृष्टता या स्वरूप का सम्यक परीक्षण हो सकता है। भारतीय रीति सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य प्रतीकवाद से भी की जा सकती है। प्रतीकवादी भी शैली की विशिष्टता पर विशेष गौरव देते हैं। परन्तु रीति सिद्धान्त और प्रतीकवाद में मुख्य भेद यह है कि जहाँ रीति सिद्धान्त शैली को काव्य की आत्मा मानता है वहाँ प्रतीकवाद केवल शैली की विशेषता की ओर ही संकेत करता है। इस दृष्टिकोण से रीति सिद्धान्त को व्यापक और सर्वांगीण तथा प्रतीकवाद को संकुचित और एकांगी कहा जायगा।

भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त

स्वरूप —

वक्रोक्ति सिद्धान्त भी प्रमुख संस्कृत साहित्य सम्प्रदायों में उल्लेखनीय है। यह

सिद्धांत भी काव्य के बाह्य स्वरूप को अधिक महत्व देता है। इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं यों उनसे पूर्व भी भामह, दंडी तथा आनंदवर्द्धन के द्वारा वक्रोक्ति का महत्व स्वीकार किया गया था। परन्तु काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा करने का श्रेय आचार्य आचार्य कुन्तक को ही है। आचार्य कुन्तक ने यह बताया है कि कोई भी सामान्य उक्ति काव्यात्मक नहीं हो सकती क्योंकि उसमें कोई सौंदर्य या विशेषता नहीं होती। उन्होंने काव्यात्मक उक्ति वक्रोक्ति को माना, क्योंकि उसमें कवि अपनी प्रतिभा से विलक्षणता उत्पन्न कर सकता है।

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक यही धारणा है परन्तु अन्य आचार्यों के विचारों में इसमें कुछ भिन्नता मिलती है। उदाहरण के लिए भामह के अनुसार वक्रोक्ति में काव्य के सारे सौन्दर्य और शोभा निहित रहती है। दंडी के अनुसार स्वाभोक्ति तथा वक्रोक्ति पृथक् होती है। कुन्तक ने अलंकृति को ही वक्रोक्ति माना है। उन्होंने वक्रोक्ति के ६ भेद माने हैं जो वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता पद परार्द्ध वक्रता वाक्यवक्रता प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता हैं। इस प्रकार से काव्य विषयक यह सिद्धांत भी बहुत विस्तृत है तथा इसमें काव्य के सूक्ष्म परीक्षण के लिए एक व्यापक मापदंड निहित है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त तथा अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण के अनुसार उक्ति की मार्मिकता के अनुसार ही काव्य की श्रेष्ठता का निर्धारण होगा। किसी उक्ति का निहित अर्थ विशेष महत्व नहीं रखता है भले ही वह कितना भी असाधारण हो। इससे स्पष्ट है कि यह वाद भी अन्य अनेक साहित्यशास्त्रीय विचारधाराओं की भांति एकांगिता से भरा हुआ है। यह काव्य में अर्थ अथवा भाव तत्व को उपेक्षित करता है और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के सौंदर्य को ही प्रधानता देता है।

इस दृष्टि से इसकी तुलना भारतीय साहित्य शास्त्र के संस्कृत वक्रोक्ति सिद्धांत से की जा सकती है। परन्तु वक्रोक्ति सिद्धांत इसकी अपेक्षा अधिक वैचारिक पूर्णता लिए हुए है। वक्रोक्ति के अनुसार उक्ति का चमत्कारिकता से युक्त होना ही काव्यात्मकता है। अभिव्यक्ति की यह विशेषता पाठक के मन को प्रभावित और आनन्दित करती है। दूसरे शब्दों में वक्रोक्ति काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाले सभी अलंकारों के मूल में

रहती है और इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में व्यापक उपयोगिता से युक्त है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार आन्तरिक अभिव्यक्ति के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूप होते हैं। इनमें से प्रथम ज्ञान की उपलब्धि तथा द्वितीय उसकी क्रियात्मक परिणति का कारण होता है। इनमें से भी सैद्धांतिक के दो प्रकार सहजज्ञान मूलक तथा वैकल्पिक होते हैं जिनमें से प्रथम यथार्थतः कला के क्षेत्र का सूचन करती है।

इससे स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धांत दोनों में ही काव्य में अभिव्यंजना पर सबसे अधिक गौरव दिया गया है जो मूलतः अविभाज्य तथा अद्वितीय होती है और अनिवार्यतः रूपक तथा सौंदर्ययुक्त भी होती है। परन्तु इन दोनों में मौलिक अन्तर दृष्टिकोण का है। क्रोचे का अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक और सौन्दर्यवादी है जब कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद दृष्टिकोण विशुद्ध अन्वेषणायुक्त तथा साहित्य शास्त्रीय। यही अभिव्यंजनावाद की संकुचितता और वक्रोक्ति सिद्धांत की व्यापकता का मूल कारण है।

निष्कर्ष :—

पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आलोचकों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उनमें दृष्टिकोणगत मौलिक भेद है। पाश्चात्य चिन्तनधाराएँ प्रायः एकांगी हैं और काव्य के सभी तत्वों का सम्यक विवेचन न करके उसके किसी अंग या रूप से ही मुख्यतः सम्बन्ध रखती हैं। इसके अतिरिक्त उनमें स्थानीयता इतनी अधिक है कि वे सर्वदेशीय मान्यता नहीं प्राप्त कर सकती हैं। उनमें वैयक्तिक वाद का आग्रह अधिक है, एवं अन्वेषण भावना नहीं मिलती है। इसके अतिरिक्त उनमें पारस्परिक वाद विवाद और खंडन मंडन की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक है। इसीलिए पाश्चात्य सिद्धांतों का विकास स्फुट रूप से हुआ प्रतीत होता है जिसमें पृथक विचार प्रणालियाँ हैं। इसके विपरीत भारतीय साहित्य शास्त्र में व्यापक दृष्टिकोण से काव्यात्मा का अन्वेषण हुआ है।

यहाँ काव्य के बाह्य पक्षों पर तो दृष्टि रखी ही गयी है, उसकी आत्मा को मुख्यता देते हुए उसकी भी गहन विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसी कारण साहित्य अथवा काव्य का ऐसा कोई भी अंग या तत्व नहीं है, जिसके वैज्ञानिक विश्लेषण के गम्भीर प्रयत्न भारतीय चिन्तकों ने न किये हों। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे सार्वदेशिक स्तर पर मान्यता प्राप्त कर सकी हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने काव्य शास्त्र की अपेक्षा मापन कला आदि अन्य माध्यमों को अधिक महत्व

दिया है। इसलिए भी यहाँ यह शास्त्र परिपक्व आधार लिए हुए नहीं है, जब कि भारतीय दृष्टि विशुद्ध शास्त्रीय है। पाश्चात्य साहित्यकारों ने अनुकरण पर और भारतीय ने रस पर विशेष बल दिया है। संक्षेप में पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों में दृष्टिकोणगत मौलिक भेद के मुख्य कारण ये ही हैं।

अध्याय ९

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियां

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि के रूप में हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र को मान्य किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से प्रेरणा तथा आधार ग्रहण करके जिस प्रकार से उसका विकास हुआ था उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप रीति साहित्य शास्त्र से प्रभावित रहा। हिन्दी में रीति कालीन साहित्य शास्त्र का आरम्भ होने के पूर्व ही हिन्दी भाषा का प्रौढ़ रूप स्थिर हो चुका था। अनेक ऐसे काव्य ग्रंथ थे जो सर्वोत्कृष्ट कोटि के साहित्य में गणित होते थे और जिनका उतना ही महत्व आज तक है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि सैद्धान्तिक विचारों का अभाव खटकता। इसलिए एक युगीन आवश्यकता के रूप में हिन्दी की साहित्य शास्त्रीय परम्परा का आरम्भ हुआ। जहाँ तक प्रभाव और प्रेरणा सूत्र का सम्बन्ध है उसके सामने केवल संस्कृत साहित्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा ही थी। इसीलिए संस्कृत समीक्षा के सिद्धांतों के अनुकरण पर ही हिन्दी में भी सिद्धांत नियमन हुआ।

हिन्दी के अधिकांश रीतिकालीन साहित्याचार्य संस्कृत की वैचारिक उपलब्धियों से सुपरिचित थे और उससे व्यापक रूप से प्रभावित हुये थे। इसीलिए हिन्दी साहित्य शास्त्र का आरम्भ किसी मौलिक आधार भूमि पर न हो सका। उसमें गम्भीर चिन्तन और नवीन सिद्धांतान्वेषण की प्रवृत्ति का भी इसीलिए अभाव रहा। अधिकांश रीति कालीन कवियों ने केवल विनोद अथवा प्रदर्शन के लिए आचार्यत्व का परिचय दिया। रीतिकालीन साहित्य शास्त्र में जो मुख्य अभाव है उसका भी मूल कारण साहित्य चिन्तकों की उपर्युक्त सीमा ही है।

हिन्दी में रीतिकालीन साहित्यशास्त्र की परम्परा का आरम्भ किस समय हुआ और हिन्दी का सर्वप्रथम रीति शास्त्रज्ञ कौन था, इसके विषय में अधिक ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, पुण्य नामक एक कवि ने सबसे पहले एक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'शिव' सिंह सरोज' में

मिलता है तथा जिसका समय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में संवत् ७७० अनुमानित किया है। ऐतिहासिक क्रम से जब तक कोई पुष्ट प्रमाण न मिले तब तक इसके विषय में आधिकारिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्रियात्मक रूप से हिन्दी की रीति शास्त्रीय परम्परा का आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी से ही हुआ। परन्तु इसका आशय यह नहीं समझना चाहिए कि बीच के इस दीर्घ समय में किसी प्रकार के चिन्तन का अस्तित्व नहीं मिलता। यथार्थ में इस बीच हिन्दी के वीर काव्य तथा भक्ति काव्य की रचना करने वाले अनेक प्रमुख कवियों ने स्फुट रूप से अपने आचार्य रूप का भी परिचय दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी रीति शास्त्र के विकास की एक आधार भूमि अवश्य निर्मित हो चुकी थी।

रीति साहित्य चिन्तन का स्वरूप —

हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य बड़े अंशों में शास्त्रीय है। रीति शब्द का प्रयोग ही हिन्दी में इस अर्थ में हुआ है जिससे साहित्य सिद्धांतों का सूचन हो। कभी-कभी व्यापक अर्थों में भी इसका प्रयोग मिलता है। कुछ भी हो हिन्दी रीतिकाल में रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा लक्षण ग्रन्थों तथा टीका ग्रन्थों की रचना अधिक हुई। इस काल तक काव्य में प्रयोग की जाने वाली हिन्दी अत्यन्त प्रौढ़ रूप धारण कर चुकी थी। कबीर जायसी सूर तथा तुलसी के काव्य के रूप में उसकी उपलब्धियाँ असाधारण थीं। इसलिए उनकी किसी भी क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली सम्भावना के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। परन्तु इस परम्परा में अधिक मौलिकता न मिलने का एक कारण यह भी है कि अधिकांश रीतिकालीन साहित्य शास्त्रमों ने जो भी साहित्य चिन्तन किया वह या तो संस्कृत परम्परा के पिष्टपेषण के रूप में या और या मनोविनोद में।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार्य अपनी कवित्व शक्ति का प्रमाण देने के मोह से भी स्वयं को नहीं बचा पाता था। इसलिए भी उपर्युक्त परिणाम सामने आया। कवित्व शक्ति उनमें अवश्य थी परन्तु पांडित्य प्रदर्शन के मोह ने उन्हें दोनों प्रकार से अपेक्षाकृत हीन बना दिया। अनेक कारणों से वे मौलिक चिन्तन न कर सके और संस्कृत विचारों की हिन्दी भाषा में व्याख्या भर कर सके। इसी से उनकी अहम् भावना तुष्ट हो गई और कवित्व प्रदर्शन भी कर सके। कुछ विशिष्ट आचार्यों को छोड़कर जिनमें केशवदास, चिन्तामणि कुलपति सोमनाथ देव भिखारीदास तथा प्रतापसाहि हैं शेष प्राय: सभी रीतिकालीन आचार्यों और कवियों के विषय में यह कथन समान रूप से सत्य है।

हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि

उसका प्रवर्तन और प्रसार आरम्भ में संस्कृत की परम्परा के अनुगमन के रूप में ही हुआ। जिस प्रकार से संस्कृत के विचार सैद्धान्तिक समीक्षा का निरूपण करने के साथ ही साथ उसकी उदाहरण सहित व्याख्या करते थे उसी प्रकार से हिन्दी के रीतिकालीन विचारकों ने अपनी पांडित्य और कवित्व शक्ति से संयुक्त व्यक्तित्व का परिचय दिया। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में लक्षण ग्रन्थों की जो परम्परा मिलती है वह इसी प्रकार की है।

इससे यह सिद्ध है कि न केवल रचना शैली की दृष्टि से वरन् विषय वस्तु के विवेचन की दृष्टि से भी हिन्दी रीतिकालीन साहित्य की शास्त्रीय परम्परा संस्कृत की अनुगामिनी थी। उसमें प्रायः उन सभी विषयों का लगभग उसी प्रकार का विवेचन उपलब्ध होता है जो संस्कृत साहित्यशास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा में मिलता था। इसीलिए हिन्दी रीतिशास्त्र में मौलिकता के स्थान पर संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्देशित सिद्धांतों की पुनरावृत्ति अधिक है।

यही नहीं जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में विभिन्न सम्प्रदाय थे उसी प्रकार से हिन्दी रीति साहित्यशास्त्र की परम्परा में भी प्रायः इसी प्रकार के सिद्धांतों और सम्प्रदायों का अनुगमन करने वाले आचार्य हुए हैं। इसका एक कारण यह भी रहा है कि हिन्दी रीतिकाल के प्रारम्भिक कालीन साहित्याचार्य मूलतः संस्कृत भाषा के भी मान्य आचार्य थे और उन्हें संस्कृत चिन्तन की उपलब्धियों की बहुत गम्भीर अवगति थी। वे संस्कृत का ज्ञान भी करते थे और उनके लिए यह गर्व की भी बात थी। इसलिए जब हम हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा के आरम्भ और विकास पर विचार करते हैं तब हमें उपर्युक्त तथ्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ

हिन्दी का आविर्भाव यों तो बहुत समय पूर्व से माना जाता है परन्तु आधुनिक युग में इसके स्थापकों में जिन लोगों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं वे मुन्शी सदासुखलाल लल्लू लाल सदल मिश्र राजा शिवप्रसाद राजा लक्ष्मण सिंह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि हैं। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य के क्षेत्र में जो प्रयत्न किए वे क्रान्तिकारी सिद्ध हुए, इसलिए हिन्दी के खड़ी बोली रूप को स्थिर करने का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। भारतेन्दु के अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र बदरी नारायण चौधरी ठाकुर

जगमोहन सिंह पं० बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों ने भी इस गद्य प्रवर्तन के युग मे उल्लेखनीय योग दिया।

इस प्रारम्भिक काल में क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र म नाटक निबन्ध, उपन्यास और स्फुट साहित्य के साथ साथ अनुवाद कार्य भी हुआ। परन्तु हिन्दी समीक्षा का इन कृतियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं है। हिंदी में समीक्षा का आरम्भ यद्यपि पुस्तक रूप में भारतेन्दु के समय ही हो गया था परन्तु इस युग में कोई ऐसा समीक्षक नहीं हुआ था जिसने समीक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय योग दिया हो। दूसरे शब्दों में जिसे विस्तृत आलोचना कहा जाता है, वह इस युग में नहीं लिखी गई। उसका आरम्भ वस्तुत द्विवेदी युग में ही हुआ। इसलिए हिंदी समीक्षा की खड़ी बोली के अन्तर्गत आने वाली विकास परम्परा के आरम्भिक आचार्य पं महावीर प्रसाद द्विवेदी ही माने जाते हैं।

ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में भी विश्व की अन्य भाषाओं की भाँति जो सर्व प्रथम प्रणाली मिलती है, वह ऐतिहासिक समीक्षा की है। इस समीक्षा प्रवृत्ति का जो नवीन रूप मिलता है, वह यद्यपि बहुत पुष्ट और वैज्ञानिक है, परन्तु आरम्भिक युग में इसका रूप और क्षेत्र बहुत सीमित था। यों यह समीक्षा पद्धति अन्य प्रणालियों की भाँति ही विकास के क्षेत्रों में विस्तार पाती रही है और विविध रूपों मे इसका प्रसार होता रहा है। स्थूल रूप से इस समीक्षा प्रणाली के दो रूप मिलते हैं। पहला तो साहित्यिक इतिहासों में और दूसरा एक दृष्टिकोण के रूप में। प्रथम के अन्तर्गत साहित्य और उसके विविध अंगों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से परम्परागत विवरण प्रस्तुत किया जाता है तथा द्वितीय का समावेश का अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों में भी किया जाता है।

समीक्षा की ऐतिहासिक प्रवृत्ति हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रणालियों में एक है। वह इसलिए भी विशिष्ट है क्योंकि सामान्यत समीक्षा के क्षेत्र मे जिन प्रणालियों का प्रयोग होता है, उनमें इसी का प्रचलन सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त यह समीक्षा प्रणाली सबसे अधिक ग्राह्य भी है। जहाँ तक इसकी आवश्यकता का सम्बन्ध है, साहित्य

के इतिहास के प्रत्येक नए युग में इस बात की आवश्यकता होती है कि प्राचीन युगीन उपलब्धियों का लेखा जोखा किया जाए और इसके आधार पर उन सूत्रों की खोज की जाय जो साहित्य की भावी सम्भावनाओं को जन्म देती हैं। इसलिए ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली सदैव ही व्यवहार्य रहती है।

प्रमुख विशेषता —

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति की हिंदी में स्थिति और विकास पर विचार करने से पहले इसकी मुख्य विशेषताओं की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वास्तव में जहाँ एक ओर यह समीक्षा पद्धति अपेक्षाकृत सरल और सामान्य प्रतीत होती है वहाँ दूसरी ओर इसके क्षेत्र में सदैव ही कुछ व्यावहारिक समस्याएँ विद्यमान रहती है। प्रत्येक युग के परिवर्तन के साथ इतिहास के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता है और साहित्य के मानदण्ड भी बदलते हैं। इसलिए प्रत्येक युग में यह समस्या एक नए रूप में विद्यमान रहती है। इसकी उपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती क्योंकि साहित्यिक इतिहास का लेखा जोखा एक विषम कार्य है। केवल भिन्न भिन्न युगों में होने वाले साहित्यिक विकास का सूक्ष्म और तिथियुक्त विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र इस प्रणाली का सूचक नहीं है बल्कि एक विशिष्ट और युग सम्मत दृष्टिकोण से उसकी उपलब्धियों का लेखा जोखा प्रस्तुत करना तथा उसमें से भावी विकास के संकेत सूत्रों का चयन करना इस समीक्षा प्रणाली की ऐतिहासिकता को सार्थक करता है और इसे पूर्णता प्रदान करता है।

ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली की एक विशेषता यह भी है कि इससे इस तथ्य की प्रतीति होती है कि अतीत युगों में रचा गया साहित्य किसी आकस्मिक प्रेरणा का परिणाम नहीं होता वरन् उसके मूल में एक प्रकार की निश्चित प्रतिक्रिया रहती है जो उसकी पारस्परिक सम्बद्धता की सूचक होती है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि मानव समाज के सांस्कृतिक विकास को विभिन्न युगों की किन यथार्थताओं ने प्रभावित किया। साहित्य का इतिहास भी इस तथ्य का सूचक है कि अर्थवान मूल्य सदैव युग के निर्माण तत्व रहे हैं। इसका कारण यह होता है कि उसके प्रेरक मूल युग युग चेतना से अनुप्राणित होते हैं और उनमें वह शक्ति निहित होती है जो स्तरीय निर्वाहन तथा प्रगति के लिए अपेक्षित होती है।

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति की एक और उल्लेख्य विशेषता यह है कि केवल उसी के द्वारा अतीत साहित्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन हो सकता है। इस दृष्टिकोण में तटस्थ पर्यवेक्षण की जो विशेषता है वह सांस्कृतिक उपलब्धियों की चेतना का

विकासशील बनाए रखती है। इस प्रकार से उपलब्धियों की यह धरोहर एक युग से दूसरे युग तक स्वत: हस्तांतरित होती रहती है तथा नष्ट नहीं होने पाती।

इस तथ्य का एक दूसरा पक्ष यह है कि अतीत की सांस्कृतिक उपलब्धियों और उनके मूल्यों का संरक्षण किया जाए। यह इस समीक्षा प्रणाली के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण समस्या है जो प्राय: ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक नवीन युग में उपस्थित रहती है। कहने का आशय यह है कि जो प्रमुख समीक्षक होते हैं वे सदैव इस बात की खोज में लगे रहते हैं कि विविध युगीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक धरोहर प्राप्त हुई है वह कितने अंशों में भावी चिन्तन को प्रभावित करने की क्षमता से युक्त है।

आरम्भ और विकास —

हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि साहित्यिक इतिहासों के रूप में उसका आरम्भ हुआ था। साहित्य या काव्य के किसी अंग के क्रमिक विवरण और संकलन से उसका विकास हुआ। किसी साहित्यकार के नाम जीवन परिचय वंशावली प्रमुख रचनाएँ तथा तिथियों आदि के उल्लेख तक ही यह प्रवृत्ति सीमित रही। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि केवल सूची के अनुसार वर्गीकृत विवरण तथा स्थूल परिचय के रूप में ही उसकी पूर्णता समझी जाती थी। जहाँ तक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के समावेश का प्रश्न है उसका उसमें अभाव होता था। कभी-कभी यह विवरण कवि या लेखक के परिचयात्मक रूप में न होकर प्रवृत्ति के विचार से भी किया जाता था और काल खंडों के अनुसार उनका विभाजन कर दिया जाता था। हिंदी में ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति का प्रारम्भिक स्वरूप इसी प्रकार का था।

प्रमुख समीक्षक —

हिंदी में ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति के विकास में योग देने वाले समीक्षकों में गार्सां द तासी ठाकुर शिव सिंह सेंगर जार्ज ग्रियर्सन मिश्रबन्धु, डाक्टर श्यामसुन्दर दास पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी डा० रामकुमार वर्मा पं० विश्व नाथ प्रसाद मिश्र आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे समीक्षकों की है जिन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य उसके किसी अंग अथवा प्रवृत्ति के इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं आरम्भिक कालीन हिन्दी के साहित्यिक इतिहासों में सुनिश्चित दृष्टिकोण का अभाव

था परन्तु आगे चलकर उसका यह अभाव दूर होता गया। यही नहीं विश्लेषण तथा वर्गीकरण की दृष्टि में भी क्रमशः वैज्ञानिकता का समावेश होता गया, जिससे पूर्ववर्ती उपलब्धियों का सम्यक विवरण अनुपलब्ध न रहा।

गार्सां द तासी —

गार्सां द तासी नामक फ्रांसीसी साहित्यकार ने हिंदी साहित्य का इतिहास 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर एन्दुई ऐन्दुस्तानी' शीर्षक से सन् १८३९ में प्रस्तुत किया था। यह इतिहास फ्रांसीसी भाषा में लिखा गया था। इस ग्रंथ में लेखक ने हिंदी साहित्य के विकास में योग देने वाले लगभग सत्तर कवियों की सूची प्रस्तुत की है। यह सूची वर्ण क्रम के अनुसार दी गयी है। इस ग्रन्थ का महत्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत अधिक सिद्ध हुआ तथा आगे के इतिहासकारों के लिए इसने प्रेरणा का कार्य किया।

शिवसिंह सेंगर :—

गार्सां द तासी के बाद हिंदी काव्य का एक ऐतिहासिक विवरण शिवसिंह सेंगर के द्वारा शिवसिंह सरोज शीर्षक से प्रस्तुत किया गया। इसमें हिंदी के एक सहस्र ऐसे कवियों का परिचय और विवरण था जिनके विषय में इससे पूर्व कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी। इस ग्रंथ का संकलन ठाकुर शिवसिंह सेंगर द्वारा सन् १८८३ में किया गया था। इस ग्रंथ में भी यद्यपि ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली का कोई परिष्कृत रूप न मिलकर आरम्भिक रूप मात्र मिलता है परन्तु फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्व है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कवियों की रचनाओं के उदाहरण भी दिए गये हैं।

डा० ग्रियर्सन —

ठाकुर शिवसिंह सेंगर लिखित 'शिवसिंह सरोज' के पश्चात् सन् १८८९ में डा० ग्रियर्सन ने शिवसिंह सरोज से मिलता जुलता ही एक कवि वृत्त संग्रह प्रकाशित किया। इस संग्रह का नाम माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' था। इस संग्रह में भी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का कोई पुष्ट रूप नहीं मिलता। शिवसिंह सरोज' की भांति इसमें भी लेखक ने मुख्यतः कवि विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य ध्येय रखा था। काल क्रम के अनुसार यह विवरण प्रस्तुत किया जाना ही इस प्रणाली के आरम्भिक स्वरूप का परिचय देता है अन्यथा यह भी एक कवि वृत्त संग्रह मात्र ही है। इस ग्रन्थ में प्रवृत्ति तथा काल विभाजन की नवीनता अवश्य मिलती है।

खोज रिपोर्ट —

भागे ग्रियर्सन के पश्चात् ऐतिहासिक पद्धति का क्रम निर्वाह काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत की गई विविध खोज रिपोर्टों में मिलता है। इन रिपोर्टों में बहुत से परिचित और अपरिचित कवियों के विषय में खोज करके ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार उनका तथा उनकी कृतियों का परिचय प्रकाशित किया गया। यह खोज रिपोर्ट आठ भागों में प्रकाशित हुई थी जिसका समय सन् १९०० से लेकर १९११ तक है। हिन्दी के साहित्यक इतिहासों की परम्परा में इन रिपोर्टों का भी बहुत हाथ है। इसके अतिरिक्त इनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि उनमें पूर्व इतिहास ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रमाणिकता मिलती है।

मिश्रबन्धु —

'मिश्रबन्धु' के नाम से हिंदी समीक्षा क्षेत्र में जो रचनाएं उपलब्ध हैं उनमें पं० गणेश बिहारी मिश्र पं० श्याम बिहारी मिश्र और पं० शुकदेव बिहारी मिश्र थे। इन मिश्रबन्धुओं ने हिंदी की समकालीन स्थिति को समझा और उसके अभावों को दूर करने की चेष्टा की। इन लोगों ने "मिश्रबन्धुविनोद" के नाम से चार भागों में हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। यह इतिहास अपने प्रकार का एक ही ग्रंथ है। सन् १९११ में प्रकाशित इस ग्रंथ की कुल पृष्ठ संख्या २२९० है तथा इसमें लगभग पाँच सहस्र प्राचीन और नवीन साहित्यकारों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया गया है। इसमें लेखकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण हिंदी साहित्य के विकास का विवरण उपस्थित करते हुए प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कवियों के अतिरिक्त सैकड़ों ऐसे कवियों का परिचयात्मक उल्लेख किया है जिन्होंने अपनी अपनी प्रतिभा और शक्ति के अनुसार रचना की और साहित्य को जीवित रखते हुए उसके विकास में योग दिया।

इस प्रकार से, मिश्रबन्धुओं का लिखा हुआ ग्रंथ साहित्यिक इतिहास अपने प्रकार का प्रथम प्रयत्न है। यद्यपि मिश्रबंधु विनोद से पहले भी हिंदी में कुछ साहित्यिक इतिहास लिखे जा चुके थे परन्तु उनमें इतना विषय विस्तार और दृष्टिकोण नहीं था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "मिश्रबन्धु विनोद" पहला साहित्यिक इतिहास न होते हुए भी सम्पूर्णता की दृष्टि से हिंदी साहित्य के विकास का लेखा जोखा प्रस्तुत करने वाला पहला ग्रंथ है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखकों ने केवल विनोद में ही इसकी रचना कर डाली थी। कुछ लोगों ने यह आक्षेप भी किया है कि मिश्रबंधु विनोद" में अनेक साहित्यकारों के विषय में दी गई अनेक सूचनाएँ प्रामाणिक नहीं हैं परन्तु इतना निश्चित

है कि सामयिक आवश्यकता और उपलब्धियों को देखते हुए इस ग्रंथ का हिंदी के साहित्यिक इतिहासों में विशिष्ट स्थान है।

रामचन्द्र शुक्ल —

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के क्रम में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि प० रामचन्द्र शुक्ल की है। उन्होंने इस समीक्षा प्रणाली का परिचय अपनी अनेक कृतियों में तो किया ही है, इसका सबसे पुष्ट रूप आवश्यक संतुलन के साथ उनके 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में मिलता है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल एक कवि और लेखक वृत्त संग्रह मात्र ही नहीं है। इसमें लेखक ने सबसे पहले हिंदी साहित्य के इतिहास का व्यवस्थित काल विभाजन किया है। काल विभाजन और काल विभागों का नामकरण करने के सम्बंध में स्वयं इतिहासकार ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है।[1]

अपने इतिहास में प० रामचन्द्र शुक्ल ने आदि काल के अन्तर्गत अपभ्रंश काल तथा देश भाषा काल का उल्लेख किया है। इनका समय सं० १०५० तक है। फिर वीर गाथा काल के अन्तर्गत मुख्यत वीर काव्य को रखा है जिसका समय संवत् १०५० लेकर १३७५ तक माना है। इसके पश्चात् पूर्व मध्य काल म भक्तिकाल का समय संवत्

१ जिस काल खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार काल का निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएं मिल कर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे यदि किसी काल में पाँच ढंग की रचनाएं १०, ५, ६, ७ और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढंग की रचना की ? पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता कही जाएगी यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस ढंग के ग्रंथ बहुत अधिक प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायगी चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की पुस्तकें इधर उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २)

१३७५ से लेकर १७०० तक मानते हुए निर्गुण धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा एवम् सगुण धारा के अन्तर्गत राममक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा को रखा है।

उत्तर मध्यकाल में रीतिकाल की चर्चा लेखक ने की है जिसमें शृंगारी कवियों तथा प्रबन्धकारों वर्णनात्मक प्रबन्धकारों सूक्तिकारों ज्ञानोपदेश पद्यकारों तथा भक्ति काव्यकारों का उल्लेख रीति ग्रन्थकारों के साथ किया है। रीतिकाल का समय लेखक ने सं० १७०० से सं० १९०० तक माना है। तत्पश्चात् आधुनिक काल के अन्तर्गत लेखक ने सम्वत् १९०० से लेकर १९८० के बीच लिखित साहित्य को लिया है और इसमें ब्रजभाषा गद्य खड़ी बोली गद्य तथा विविध आधुनिक कालीन काव्य धाराओं परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस आधुनिक काल का विवरण अधिक पूर्ण और विस्तृत नहीं है। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से देखने पर इस इतिहास का स्थान हिंदी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक इतिहासों में ठहरता है।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जिस दृष्टिकोण का उपयोग किया है वह अन्य साहित्यिक इतिहासकारों की अपेक्षा विशिष्टता रखता है। शुक्ल जी ने यथासम्भव काल विभाजन तथा नामकरण में प्रवृत्तियों तथा साहित्यांगों का ध्यान रखा है। उनके इतिहास तथा अन्य इतिहासकारों की रचनाओं में जो काल विषयक अन्तर मिलता है उसका एक कारण भी यही है। इसके अतिरिक्त समकालीन जीवन की गति तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनके प्रतिछवित स्वरूप पर उनकी दृष्टि बराबर रही है। वीरगाथा काल भक्ति काल तथा रीति काल में हुए साहित्यिक विकास का सन्तुलित रूप उनके इतिहास में विस्तार से मिलता है।

आधुनिक काल को उन्होंने गद्य का काल माना है यद्यपि इसमें भी एक दूसरी धारा पद्य के रूप में प्रवाहित रही है। इस प्रकार से हिंदी साहित्य के इतिहास के चार विकास युगों का जो ऐतिहासिक विवरण शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है उसमें साहित्यकारों एवम् उनके ग्रन्थों का परिचय तथा सूचीपत्र नहीं प्रस्तुत किया गया है वरन् यह भी निर्देश किया गया है कि साहित्य का कौन सा स्वरूप समाज के लिए कल्याणकारी है। इस दृष्टि से उनके इस साहित्यिक इतिहास में समीक्षा के व्यावहारिक रूप का भी समावेश मिलता है जिसकी मुख्य विशेषता पक्षपात रहित दृष्टिकोण है।

अन्य समीक्षक :—

ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय देने वाले अन्य समीक्षकों

में हिंदी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० श्यामसुन्दरदास, "हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के लेखक डा० सूर्यकांत शास्त्री 'हिंदी साहित्य की भूमिका' तथा "हिंदी साहित्य का आदि काल' के लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' के लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध" 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के लेखक डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल" तथा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन विभिन्न कृतियों में आधारभूत रूप स प्राय पूर्ववर्ती साहित्यिक इतिहासों से ही सहायता ली गई है। दृष्टिकोणगत विभिन्नता तथा कुछ विवरण प्रस्तुत करने की नवीनता के अतिरिक्त सामग्री की खोज सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषता भी इन ग्रंथों में मिलती है। इसके अतिरिक्त हिंदी में अन्य भी अनेक छात्रोपयोगी इतिहास लिखे गए हैं जिनकी संख्या बहुत अधिक है परन्तु ये सब उपर्युक्त कृतियों के संक्षिप्त संस्करण मात्र हैं और विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। इन इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त जसा कि पीछे भी कहा गया ह स्फुट रूप से एतिहासिक समीक्षा पद्धति समीक्षा क दृष्टिकोण के रूप में अन्य प्रणालियों के रूप मे भी समाविष्ट दिखाई देती है।

सुधारपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

सुधारपरक समीक्षा या करेक्टिव क्रिटिसिज्म उस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा साहित्य के गुण और दोष की विवेचना करने के साथ ही साथ समीक्षक रचना के विषय में रचनाकार को कुछ सुझाव भी देता चलता है। इन सुझावों का आधार सैद्धांतिक होता है तथा उनकी व्यावहारिक सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। साहित्य के विभिन्न माध्यमों के आवश्यक उपकरणों के स्वरूप निर्धारण के विषय में सुझाव दिए जाते हैं।

आरम्भ और विकास —

भारतेंदु युग में समीक्षा का क्ष त्र बहुत संकुचित रहा। प्रमुख समीक्षक अधिकां

१३७५ से लेकर १७०० तक मानते हुए निर्गुण धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा एवम् सगुण धारा के अन्तर्गत रामभक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा को रखा है।

उत्तर मध्यकाल में रीतिकाल की चर्चा लेखक ने की है जिसमें शृगारी कवियों, कथा प्रबन्धकारों वर्णनात्मक प्रबन्धकारों सूक्तिकारों ज्ञानोपदेश पद्यकारों तथा भक्ति काव्यकारों का उल्लेख रीति ग्रन्थकारों के साथ किया है। रीतिकाल का समय लेखक ने सं० १७०० से सं० १९०० तक माना है। तत्पश्चात् आधुनिक काल के अन्तर्गत लेखक ने सम्वत् १९०० से लेकर १९८० के बीच लिखित साहित्य को लिया है और इसमें ब्रजभाषा गद्य खड़ी बोली गद्य तथा विविध आधुनिक कालीन काव्य धाराओं परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस आधुनिक काल का विवरण अधिक पूर्ण और विस्तृत नहीं है। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से देखने पर इस इतिहास का स्थान हिंदी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक इतिहासों में ठहरता है।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जिस दृष्टिकोण का उपयोग किया है वह अन्य साहित्यिक इतिहासकारों की अपेक्षा विशिष्टता रखता है। शुक्ल जी ने यथासम्भव काल विभाजन तथा नामकरण में प्रवृत्तियों तथा साहित्यांगों का ध्यान रखा है। उनके इतिहास तथा अन्य इतिहासकारों की रचनाओं में जो काल विषयक अन्तर मिलता है, उसका एक कारण भी यही है। इसके अतिरिक्त समकालीन जीवन की गति तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनके प्रतिछवित स्वरूप पर उनकी दृष्टि बराबर रही है। वीरगाथा काल भक्ति काल तथा रीति काल में हुए साहित्यिक विकास का समुचित रूप उनके इतिहास में विस्तार से मिलता है।

आधुनिक काल को उन्होंने गद्य का काल माना है यद्यपि उसमें भी एक दूसरी धारा पद्य के रूप में प्रवाहित रही है। इस प्रकार से हिंदी साहित्य के इतिहास के चार विकास युगों का जो ऐतिहासिक विवरण शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है उसमें साहित्यकारों एवम् उनके ग्रन्थों का परिचय तथा सूचीपत्र नहीं प्रस्तुत किया गया है वरन् यह भी निर्देश किया गया है कि साहित्य का कौन सा स्वरूप समाज के लिए कल्याणकारी है। इस दृष्टि से उनके इस साहित्यिक इतिहास में समीक्षा के व्यावहारिक रूप का भी समावेश मिलता है जिसकी मुख्य विशेषता पक्षपात रहित दृष्टिकोण है।

अन्य समीक्षक —

ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय देने वाले अन्य समीक्षकों

में 'हिंदी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० श्यामसुन्दरदास, "हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के लेखक डा० सूर्यकांत शास्त्री, "हिंदी साहित्य की भूमिका" तथा 'हिंदी साहित्य का आदि काल' के लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, "आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' के लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध' "हिंदी साहित्य का इतिहास' के लेखक डा० रामशंकर शुक्ल, 'रसाल" तथा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन विभिन्न कृतियों म आधारभूत रूप स प्राय पूर्ववर्ती साहित्यिक इतिहासो स ही सहायता ली गई है। दृष्टिकोणगत विभिन्नता तथा कुछ विवरण प्रस्तुत करन की नवीनता के अतिरिक्त सामग्री की खोज सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषता भी इन ग्रंथों में मिलती है। इसके अतिरिक्त हिंदी में अन्य भी अनेक छात्रोपयोगी इतिहास लिख गए हैं जिनकी संख्या बहुत अधिक है परन्तु ये सब उपर्युक्त कृतियों के संक्षिप्त संस्करण मात्र हैं और विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। इन इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त जसा कि पीछे भी कहा गया ह स्फुट रूप स ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति समीक्षा क दृष्टिकोण के रूप में अन्य प्रणालियों के रूप म भी समाविष्ट दिखाई देती है।

सुधारपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

सुधारपरक समीक्षा या रफ़ॉर्मेटिव क्रिटिसिज्म उस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा साहित्य के गुण और दोष की विवेचना करने के साथ ही साथ समीक्षक रचना के विषय में रचनाकार को कुछ सुझाव भी देता चलता है। इन सुझावों का आधार सैद्धांतिक होता है तथा उनकी व्यावहारिक सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। साहित्य के विभिन्न माध्यमों के आवश्यक उपकरणों के स्वरूप निर्धारण के विषय में सुझाव दिए जाते हैं।

आरम्भ और विकास —

भारतेंदु युग में समीक्षा का क्षेत्र बहुत संकुचित रहा। प्रमुख समीक्षक अधिकां

प्रायः निबन्ध लेखन के क्षेत्र में अधिक क्रियाशील रहे। समीक्षा में केवल परिचयात्मक पद्धति ही प्रमुख थी जिसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न पुस्तकों तथा लेखकों की परिचयात्मक आलोचना विविध पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित की जाती थी। आगे चलकर द्विवेदी युग में हिन्दी समीक्षा का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त हुआ। किसी सीमा तक नवीन मानदंड लोगों ने ग्रहण किये और रूढ़िवादिता का विरोध किया। इस युग के सर्वप्रमुख समीक्षक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी में सर्वप्रथम सुधारपरक समीक्षा पद्धति का आरम्भ किया।

भारतेन्दु युगीन परिचयात्मक समीक्षा बहुत अप्रौढ़ता लिए हुए थी और उसमें आलोचकता का भी पूर्ण अभाव था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस युग में समीक्षा का उद्देश्य जनसाधारण को किसी कृति अथवा कृतिकार की विशेषताओं से अवगत कराना था। परन्तु द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने समीक्षा के इन कमियों का निर्मूलन की चेष्टा की। उनका दृष्टिकोण सुधारवादी रहा जिसमें परिष्कार की भावना निहित थी। द्विवेदी जी ने संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्यकारों की बहुत तटस्थ रूप से समीक्षा प्रस्तुत की है। आलोच्य कृति अथवा कृतिकार का मूल्यांकन करने के साथ ही साथ द्विवेदी जी भाषा के विविध रूपों पर भी दृष्टि रखते थे विशेष रूप से वह भाषा की व्याकरणिक शुद्धता पर दृष्टि रखते थे। उनकी अधिकांश समीक्षाओं में आलोच्य कवि का भाषा की दृष्टि से विशेष अध्ययन किया गया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी —

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा व्यक्तित्व पर एक दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने द्विवेदी युगीन समीक्षा प्रवृत्तियों में परिष्कार की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कार्य किया। यही नहीं, उन्होंने कवियों का नेतृत्व और निर्देशन करते हुए संकुचितता के विरुद्ध आन्दोलन भी किया। उन्होंने कवियों को परम्परागत काव्य विषयों का परित्याग करके नवीनतर विषयों को काव्य में समाविष्ट करने का सुझाव दिया। विशेष रूप से रीतिकाल तथा भारतेन्दु युग में किसी नयी उस कविता का उन्होंने विरोध किया जिसके विषय कुत्सित रुचि और मनोवृत्ति के सूचक हैं और जिनका उद्देश्य निम्नस्तरीय मनोरंजन करना है। युगीन आवश्यकता के रूप में काव्य में विषय चयन का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होंने नवीन विषयों को ग्रहण करने की प्रेरणा दी।[1]

१ चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल अनन्त आकाश अनन्त पृथ्वी सभी से उपदेश मिल सकता

साहित्यिक मान्यताएं —

जहाँ तक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक मान्यताओं का सम्बन्ध है उन्होंने अपने दृष्टिकोण में शास्त्रीयता के अनुमोदन का परिचय दिया है। संक्षेप में द्विवेदी जी की आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं को हम निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं कवि और काव्य के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा है कि काव्य प्रतिभा बहुत से कवियों में ईश्वर प्रदत्त होती है। और जो वस्तु ईश्वर प्रदत्त होती है वह लाभदायक होती है, निरर्थक नहीं, और उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त यथार्थ अर्थ में कविता तभी कविता कही जायगी जब कि उसमें प्रभावात्मकता का गुण विद्यमान होगा।

इतिहास ने इस बात को सिद्ध किया है कि कविता के प्रभाव से संसार में बड़े बड़े काम हुए हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि काव्य एक प्रभावशाली साहित्यिक माध्यम है। काव्य में कल्पना के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह मत है कि वह किसी सीमा तक काव्य के लिए आवश्यक है और काव्य में उसके समावेश को रोका नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह कल्पना असत्य की कोटि की है तो वह असत्य और अशिक्षित लोगों को ही प्रिय लगती है। शिक्षित और सभ्य लोग उसे भटकाने वाला समझते हैं। उन्होंने काव्य में यथार्थ वर्णन का ही अनुमोदन किया है।

कविता की भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह विचार है कि गद्य और पद्य

है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं? केवल अविचार और अंधपरम्परा। कवि को अपने काव्य के विषय का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए क्योंकि कविता में मनुष्य के जीवन की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार से मनुष्य के जीवन के असंख्य पक्ष हैं और मनुष्य जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका अधिक से अधिक विस्तार हो उसी प्रकार से एतः कवि के लिये यह आवश्यक है कि वह परम्परा वादी सीमा संकोच की वृत्ति का परित्याग करके नवीनतर विषयों को अपने काव्य में समावेशित करे और इस प्रकार से अपने काव्य विषयक दृष्टिकोण का परिष्कार और प्रतिभा तथा सामर्थ्य का विकास करे।"

दोनों में कविता लिखी जा सकती है।[1] परन्तु यह भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। किसी भी पाठक को यदि कविता पढ़ते ही पूरी तौर से समझ में आ जाएगी तो वह उसको रुचिपूर्वक पढ़ भी सकेगा और उसका आनन्द भी प्राप्त कर सकेगा। इसीलिए वह यह कहते थे कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा ही होनी चाहिए।[2] भाषा के विषय में द्विवेदी जी ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि उन्हें अपने काव्य में ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो सर्व ग्राह्य हो और यह गुण भाषा में तभी आ सकता है जब वह सरलता से युक्त हो। यदि पाठक को काव्य समझने के लिए भाषा की दुरूहता के कारण कोई कठिनाई होगी तो वहाँ पर काव्य के उद्देश्य की हानि होगी। यदि कविता की भाषा स्पष्ट और सरल होगी तो पाठक उसे भली प्रकार से समझ भी सकेगा और उससे आनन्द लाभ भी कर सकेगा।

भाषा का एक और गुण यह भी होता है कि उसमें विषयानुकूलता हो। इसके लिए विषय के अनुरूप भाषा और उपयुक्त शब्दावली का चयन आवश्यक है। जहाँ तक काव्य भाषा में आलंकारिता या चामत्कारिकता का सम्बन्ध है द्विवेदी जी यह कहते हैं कि उसमें यह गुण केवल क्लिष्टता से नहीं आएगा। यदि भाषा सहज और स्वाभाविक है तथा उसमे कृत्रिमता का दोष नहीं है तो वह स्वाभाविक है तथा उसमें कृत्रिमता का दोष नहीं है तो वह स्वयं प्रभावपूर्ण प्रतीत होगी। इसीलिए द्विवेदी जी ने कवियों को यह सलाह दी है कि वह यथासम्भव अपने काव्य में उस सामान्य भाषा का ही प्रयोग करें जो उनके दैनिक जीवन के प्रयोग में आती है क्योंकि उनका यह विचार है कि अपने आप में ही यह एक कृत्रिम बात है कि भिन्न भिन्न प्रकार की भाषाएँ बोली और लिखी जाएँ।

१ गद्य और पद्य की भाषा पृथक पृथक न होनी चाहिये। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य पद्यात्मक साहित्य होनी चाहिये।"

(रसज्ञ रंजन पृ० ७७)

२ मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोल लेते हैं विद्वान और अविद्वान दोनों ही जिसे काम में लेते हैं। (वही, पृ० ८८)

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि द्विवेदी जी का भाषा विषयक यह दृष्टिकोण अपनी उदारता और ग्राह्यता के कारण ही विशेष रूप से प्रचारित हुआ और इसलिए खड़ी बोली का जो हिंदी काव्य भाषा के रूप में जो स्थापन हुआ उसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। परन्तु भाषा सम्बन्धी उदार दृष्टिकोण के साथ ही साथ द्विवेदी जी अशुद्ध और अव्याकरणिक भाषा के प्रयोग के कट्टर विरोधी थे और इसलिए केवल शुद्ध और व्याकरणिक भाषा को ही कविता में मान्य किया है। कवि और काव्य के विषय में द्विवेदी जी के कुछ निष्कर्ष बहुत स्पष्ट हैं। उनके विचार से एक कवि का यह काम है कि वह किसी वस्तु का वर्णन करने के पूर्व अपने हृदय में जो रसानुभूति अनुभव करे, उसको कुछ इस प्रकार से अभिव्यक्त करे कि पाठक के हृदय में भी वैसी ही अनुभूति हो। इसीलिए द्विवेदी जी ने कविता का सबसे बड़ा गुण उसकी सरसता बताया। उनका कहना है कि जिस रस की कविता हो उसको पढ़ने वाला अगर उसी रस के अनुकूल न व्यापार करने लगे तो वह कविता कविता नहीं कहलाती है।

द्विवेदी जी काव्य में चमत्कार के समावेश के समर्थक थे। उनका यह मत था कि कविता में जो बात कही जाए वह असाधारण और निराले ढंग से कही जानी चाहिए। इसलिए कवि को शब्द और अर्थ दोनों की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी प्रभावात्मकता के सबसे बड़े समर्थक थे। उनके मतानुसार काव्य का सर्वमान्य मूल्य यह प्रभावभाव ही हो सकता है।

जहाँ तक काव्य के अर्थों में निहित दोषों का सम्बन्ध है द्विवेदी जी का यह मन्तव्य है कि उसमें यदि सरसता हो तो उसके बहुत से दोष ढक जा सकते हैं परन्तु कुछ काव्य दोष ऐसे हैं जिन्हें किसी भी प्रकार से सम्मत नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अश्लीलता और ग्राम्यता आदि के दोष। एक कवि के लिए उन्होंने ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा आवश्यक मानी परन्तु इसके साथ जो दूसरा अनिवार्य गुण उसमें होना चाहिए वह यह कि निरन्तर कठिन अभ्यास से वह अपनी प्रतिभा का विकास और परिष्कार करे।

काव्य में अलंकार प्रयोग के द्विवेदी जी विरोधी तो नहीं थे परन्तु इतनी आलंकारिकता का समर्थन नहीं करते थे जिससे काव्य में बोझिलता और दुरूहता आ जाए। उनका विचार था कि काव्य में आलंकारिकता की अपेक्षा सरसता और स्पष्टता के गुण अधिक अनुमोदनीय हैं। अलंकार काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि का माध्यम अवश्य ही है। परन्तु उसे काव्य के प्राथमिक तत्व के रूप में नहीं मान्य किया जा सकता। अलंकारों में भी उन्होंने शब्दालंकार को अप्रधानता दी है।

काव्य में अलंकार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह मत है कि जहाँ तक शब्दालंकार का प्रश्न है वे काव्य के लिए बहुत आवश्यक नहीं हैं क्योंकि शब्दालंकार से काव्य श्रेष्ठ हो जाता है। जो काव्य श्रेष्ठ होगा उसमें अर्थालंकार अपने काव्य में समाविष्ट करने और इस प्रकार से पाठकों को चमत्कृत करने की इच्छा से जो कवि काव्य रचना में प्रवृत्त होता है वह उसके सौन्दर्य को स्वयं नष्ट कर देता है परन्तु इस मन्तव्य का अर्थ वास्तव में यह है कि जब तक इन तत्वों का समावेश काव्य में आडम्बर की भाँति नहीं खटकने लगता है तब तक उसका अनुमोदन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अतिशयता से इन तत्वों का समावेश काव्य की यथार्थात्मकता और प्रभावात्मकता को भी कम कर देता है।

काव्य में छन्द विधान के विषय में द्विवेदी जी ने यह लिखा है कि इस विषय में शास्त्रीयता का अनुगमन करना बहुत हितप्रद होगा। इसका कारण यह है कि संस्कृत साहित्य की परम्परा में जिन शास्त्रीय छन्दों की विवेचना की गई है वे व्यावहारिक दृष्टिकोण से हिन्दी कवियों के लिए अधिक ग्राह्य नहीं हो सकते यद्यपि वह यह चाहते थे कि यथासम्भव संस्कृत छन्दों का प्रयोग हिन्दी कवियों द्वारा किया जाए। इसीलिए उन्होंने कहा कि हिन्दी में प्रचलित छन्दों में कवियों को संस्कृत के कुछ श्रेष्ठ छन्दों को भी अपने काव्य में प्रयुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिए क्योंकि उनके विचार से इससे हिन्दी काव्य की शोभा बढ़ने की सम्भावना है।

इससे यह सिद्ध है कि द्विवेदी जी काव्य में छन्द विधान के सम्बन्ध में रूढ़िवादी नहीं थे परन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि वह काव्य में छन्द तत्व को बहुत महत्व देते थे। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया है कि कवि चाहे जिस प्रकार के छन्द में काव्य रचना करे, उसे यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि वह छन्द रूप विषय के सर्वथा अनुकूल हो। छन्द विधान के सम्बन्ध में कहीं-कहीं द्विवेदी जी नवीनता के बहुत अधिक समर्थक हो गए हैं। इसलिए एक स्थान पर उन्होंने यह लिखा है कि पद के अन्त में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने की आवश्यकता है। इस प्रकार से द्विवेदी जी ने काव्य में छन्द विधान के विषय में जहाँ एक ओर शास्त्रीय अनुगमन का समर्थन किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने छन्द की नई सम्भावनाओं के क्षेत्र में भी कवियों को पूर्ण स्वतंत्रता दी है।

नाटक के विषय में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की यह धारणा है कि संस्कृत द्वारा परम्परा रूप में प्रदत्त नाट्य रूपों का व्यावहारिक अनुगमन अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होगा क्योंकि युग परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य रूपों में भी परिवर्तन आवश्यक और स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य में सुखान्तक नाटक का ही

समयन और रचना निर्देशित की गई है। जहाँ तक दुखान्त नाटक का सम्बन्ध है उसका उसमें अधिक अनुमोदन नहीं किया गया है परन्तु द्विवेदी जी ने दुखान्त नाटक को भी स्वीकृत किया। इसका कारण यह है कि द्विवेदी जी का नाटक के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण यह था कि संस्कृत में नाटक विषयक जो सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है उसकी अवगति हिन्दी के नाटककारों के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि उस समय इस भेद का जो भी शास्त्रीय या व्यावहारिक महत्त्व रहा है हमारे युग के लेखकों के लिए उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों से अधिक महत्त्व नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी यह भी धारणा थी कि जहाँ तक नाटक को एक माध्यम के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न है यदि कोई नाटककार उसके सैद्धान्तिक भेद प्रभेद को अधिक ध्यान में रखेगा तो वह अपनी प्रतिभा का समुचित उपयोग नहीं कर सकेगा और न ही एक नाटककार के रूप में अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगा।

द्विवेदी जी के मत के अनुसार एक समीक्षक का कर्तव्य यह है कि वह छन्द अलंकार, व्याकरण आदि पर किसी कृति की समीक्षा करते समय बहुत अधिक गौरव न दे क्योंकि ऐसा करना उसके लिए अपने अविवेक का परिचय देना होगा क्योंकि इस प्रकार की भूलें विशेष रूप से व्याकरण की भूलें कम या अधिक संख्या में प्रायः सभी लोग करते हैं चाहे वह कितने ही बड़े विद्वान क्यों न हों। किसी श्रेष्ठ ग्रन्थ का महत्त्व उसमें पाई जाने वाली व्याकरणिक भूलों से कम नहीं हो जाता। इसलिए समीक्षक को यह चाहिए कि वह यह देखने की चेष्टा करे कि कोई कृति किस प्रकार की विषय वस्तु पर आधारित है। फिर उसकी शैली की परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उपयोगिता की दृष्टि से तथा मनोरंजन की दृष्टि से यह पुस्तक किस प्रकार की है।

इसके अतिरिक्त उसे यह भी देखना चाहिए कि पुस्तक में या तो कोई नई बात लिखी हो और या किसी पुरानी बात को नए ढंग से लिखा गया हो। और अन्त में एक समीक्षक के लिए विचारणीय विषय यह होगा कि लेखक ने जिस उद्देश्य से कोई पुस्तक लिखी है वह पूर्ण होता है कि नहीं। द्विवेदी जी का यह निर्देश है कि समीक्षक को किसी कृति के गुण दोषों का परीक्षण करते समय व्यक्तिगत रागद्वेष की भावना से मुक्त रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने सबसे बड़ा उपदेश यह दिया है कि नये समीक्षक पूर्ण रूप से निर्भीक हों। किसी भी बड़े से बड़े या छोटे से छोटे साहित्यकार का मूल्यांकन करते समय समीक्षक को तटस्थ रहना चाहिए। यहाँ तक कि प्राचीन महान् कवियों तक की आलोचना उन्होंने इसी दृष्टि से की है।[१]

१ जिस देश के पढ़े लिखे लोगों का यह हाल है कि उनके ...

इस प्रकार से द्विवेदी जी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यदि कोई समीक्षक किसी कृति के केवल गुणों का वर्णन करता है दोषों को नहीं देखता या दोषों का वर्णन करता है और गुणों का उल्लेख नहीं करता तो उसकी समीक्षा एकांगी कही जायेगी। उनके मत से समीक्षा का उद्देश्य यह है कि पाठक को किसी कृति के यथार्थ स्वरूप से परिचित कराया जाए। इसलिए जब तक समीक्षा संतुलित नहीं होगी तब तक उसके इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। स्वयं द्विवेदी जी ने अपनी समीक्षा में इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यों सामान्य रूप से उनका स्थान शास्त्रीय समीक्षकों में है और उन्होंने निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षा के साथ साथ तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रयोग किया है, कहीं कहीं उनकी शैली अतिशय रूप से व्यंग्यात्मक हो गई है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर लिखा है "हाँ महाराज। आप विद्वान आप आचार्य आप प्रधान पंडित आप विख्यात पंडित और हम अनाथ अज्ञ और दुर्जन क्योंकि हमे आपका व्याकरण तोषप्रद नहीं। सरकार की सेवा करते करते और प्रधानतया संस्कृत पढ़ाते पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृत लेखनी सचमुच विलक्षणता की कामधेनु है।"

उपर्युक्त विवरण से यह भ्रम हो सकता है कि द्विवेदी जी की आलोचना में और व्यंग्यात्मकता और तिरस्कार की भावना हुआ करती थी तथा उसका प्रभाव बहुत ही घातक हुआ करता था क्योंकि कोई भी नवोदित कवि या लेखक इस प्रकार की आलोचनाएँ देखकर स्वाभाविक रूप से हतोत्साहित होकर साहित्य के पथ से विमुख हो जायगा। परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है क्योंकि द्विवेदी जी कटु आलोचना उसी व्यक्ति की करते थे जिसके विषय में यह समझते थे कि वह अपने पांडित्य प्रदर्शन की धुन में साहित्यिकता की अवहेलना कर रहा है और उसे सही मार्ग पर लाने के लिए ही

आप समझाते हैं उनमें गुण दोष निर्णायक शक्ति बतलाइये कैसे उत्पन्न हो सकती है? ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो बोलो मत। वाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किए बिना न रहा जाय तो प्राचीन ग्रन्थकारों के गुण ही गुण गाओ। जब उन्हें सुनते सुनते लोग ऊब जाय तब दोष दिखाना। भाषा विज्ञान और गुण दोष विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेंट भारतीय युवकों को विलायत भेजे तो उसे भेजने दो। तुम क्यों पुराने पंडितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिये घातक मोल लेते हो?

आलोचना आवश्यक है अन्यथा द्विवेदी जी ने ऐसी भी उदार आलोचना लिखी है कि जिससे निश्चित रूप से किसी भी कवि या लेखक को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता और जो उस नए कवि या लेखक की भावी उन्नति में अनिवार्य रूप से योग देता। उदाहरण के लिए उन्होंने श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'भारत भारती' नामक काव्य की समीक्षा करते हुए लिखा है— 'यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देता है। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है आत्म विस्मृतों को पूर्व स्मृति लाने वाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य में नहीं हो सकती है।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने जो समीक्षा लिखी है वह उनके दृष्टिकोण और व्यक्तित्व के विविध पक्षों का परिचय देने में समर्थ है। उनके समीक्षा व्यक्तित्व का निर्माण उनके अपार ज्ञान स्पष्टवादिता और निर्भीकता से हुआ था। "रसज्ञ रंजन" और 'आलोचनांजलि' नामक कृतियों में द्विवेदी जी ने अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण का यथासम्भव व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से परिचय दिया।

कुल मिलाकर द्विवेदी जी का समीक्षा विषयक दृष्टिकोण एक प्रकार की प्रतिक्रियात्मकता से भरा हुआ है। बहुधा भिन्न भिन्न विद्वान जो उनके समीक्षा साहित्य पर अतिवादिता का आक्षेप करते हैं उसका यही कारण है। हिन्दी कविता के तृतीय विकास युग अर्थात् रीतिकाल में लिखे गए काव्य के प्रति द्विवेदी जी की धारणा अच्छी नहीं थी। इसी कारण से उन्होंने काव्य में नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन करने वाली शृंगारिकता का घोर विरोध किया। उनकी समीक्षा में धार्मिकता तथा नैतिकता के समावेश के प्रति जो आग्रह दिखाई देता है उसका यही कारण है।

द्विवेदी जी ने जो आलोचना लिखी है उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का परिचय उपर्युक्त विवरण से मिल जाता है परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेख के योग्य है कि "रसज्ञ रंजन" और "आलोचनांजलि" नामक सैद्धान्तिक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने "हिन्दी नवरत्न" व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ भी लिखी हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में जो सबसे अधिक विवाद की सिद्ध हुई वे हैं 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' और 'कालिदास की निरंकुशता'। इनमें से हिन्दी कालिदास की समालोचना में 'कुमारसम्भव' 'ऋतुसंहार', 'मेघदूत' और 'रघुवंश' आदि की परिचयात्मक व्याख्या की गयी है।

जहाँ तक द्विवेदी जी की भाषा का सम्बन्ध है पीछे कहा जा चुका है कि उनके समय में भाषा का स्वरूप क्रमशः स्थिर हो रहा था। इस दृष्टिकोण से भाषा को समर्थता और शुद्धता प्रदान करने में द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ था। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। यदि कहीं पर उनकी भाषा अप्रौढ़ और अशक्त प्रतीत होती है तो इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रचलित भाषा का प्रयोग करके अपनी बात को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से कहना चाहा है। उनकी भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने का एक कारण यह भी है परन्तु ऐसी भाषा साहित्यिक विषय पर लिखी गई रचनाओं में नहीं मिलती बल्कि अन्य सामयिक विषयों पर लिखी गई रचनाओं में मिलती है।[1]

इस प्रकार से यह आभासित होता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव उस समय हुआ जब खड़ी बोली का स्वरूप स्थिर हो रहा था। अपने युग के वह सर्व आचार्य थे जिन्होंने भाषा के महत्व को समझा और उसे साहित्य के संदर्भ में हल करने की चेष्टा की। उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि कविता का जो पर म्परागत अर्थ सामान्य लोग समझते हैं, वह सही नहीं है वरन् उसे विस्तृत अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है। उन्होने तर्क से यह समझाने की चेष्टा की यदि प्राचीन समय में कादम्बरी जैसे कृतियों की भाषा गद्य हो सकती है तो आधुनिक काव्य में भी गद्य का प्रयोग किया जा सकता है।

१ ब्रजाहुरचार्य आप कहते हैं कि प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि आप कभी आगरा मथुरा फर्रुखाबाद मैनपुरी और इटावे तशरीफ ले जायँ तो कृपा करके वहाँ के एक आध अपर प्राईमरी या मिडिल स्कूल का मुआइना न करें तो मुआइजा अवश्य ही करें। ऐसा करने से आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है। अगर आपकी इस 'भाखा' नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइये कि श्रीमान् ही के वचनों कासिम अली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है। १७०० ईसवी से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'भाखा' में बड़े बड़े ग्रन्थ बनाए हैं। हिन्दू कवियों की आप खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।"

श्रेष्ठ काव्य के लिए उन्होंने अर्थ और रस को महत्व दिया, क्योंकि उनके विचार से यही उसकी कसौटी है। उन्होंने नए कवियों को यह सलाह दी कि यथासम्भव दुरूहता के दोष से बचने की चेष्टा करें और ऐसा तभी हो सकता जब वे सरल सामान्य और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करेंगे। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी जी के महत्व का एक बड़ा कारण यह है कि वह भावी हिन्दी समीक्षा का मार्ग निर्देशन कर सके। उन्होंने इस दिशा में कार्य करते हुए सबसे पहले भाषा का परिष्कार किया जो हिन्दी के लिए उनकी सबसे बड़ी देन है। जहाँ तक समीक्षात्मक दृष्टिकोण का प्रश्न है वह बहुत निर्भीक समीक्षक थे। कभी-कभी कुछ लोग उनके विरोध में यह कहते थे कि उन्होंने अत्यन्त कटुतापूर्वक आलोचना की है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि सुधारपरक समीक्षा पद्धति से ही आधुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ हुआ। हिन्दी गद्य के आविर्भाव के पश्चात् जब समीक्षा साहित्य का आरम्भ हुआ तब महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सबसे पहले अपने समीक्षा व्यक्तित्व से समकालीन लेखन को प्रभावित किया। इसलिए यह स्वाभाविक था कि शास्त्रीय अथवा अन्य किसी प्रकार की समीक्षा पद्धति का आश्रय लेने के स्थान पर सुधारपरक समीक्षा पद्धति को वे स्वीकार करते क्योंकि उसके माध्यम से हिन्दी साहित्य के इस आरम्भिक युग में विविध लेखकों और कवियों को सुझाव देकर वह उनका मार्ग दर्शन कर सकते थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् उनके समान प्रखर व्यक्तित्व वाला और कोई समीक्षक नहीं हुआ। इसलिए हिन्दी में सुधारपरक समीक्षा पद्धति की यह परम्परा भी द्विवेदी जी के पश्चात् क्षय सी होकर अन्य प्रवृत्तियों से मिल गई क्योंकि परवर्ती समीक्षा का क्षेत्र क्रमशः प्रशस्त होता चला गया और उसमें विविधताओं का समावेश होता चला गया।

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

तुलनात्मक समीक्षा या 'कम्परेटिव क्रिटिसिज्म' उस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा विषय में निहित तत्वों की तुलना उसी के समान अन्य विषयों में निहित तत्वों से की जाय और उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकाला जाय। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह समीक्षा प्रवृत्ति बहुत प्राचीन नहीं है यद्यपि आधुनिक युग में इसका

प्रसार बहुत अधिक है। इसकी व्यापक क्षेत्रीय मान्यता और प्रमुखता का कारण यह है कि इसका क्षेत्र बहुत अधिक प्रशस्त है। एक नवीन समीक्षा प्रवृत्ति होने के कारण भी इसकी सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं। इस समीक्षा पद्धति में जो दृष्टिकोण कार्यशील रहता है वह यह है कि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में जो साहित्य रचा गया है उसकी मूलभूत प्रेरणा लगभग समान रही है, क्योंकि मनुष्य की भावनाओं और अनुभूतियों में सर्वत्र एक रूपता पायी जाती है।

पूर्व रूप —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का पूर्व रूप द्विवेदी जी की आलोचना में मिलता है। उन्होंने अपनी 'आलोचनांजलि' नामक रचना में अश्वघोष कृत 'सौन्दरनन्द' काव्य के सन्दर्भ में उसकी तुलना कालिदास से की है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत छन्नूलाल द्विवेदी लिखित 'कालिदास और शेक्सपीयर' नामक कृति का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उन्होंने विश्व साहित्य के इन महान् नाटककारों का तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन किया है। परन्तु इस पुस्तक में शास्त्रीयता और विश्लेषणात्मकता का अभाव है। लेखक ने कालिदास और शेक्सपीयर के जीवन चरित्र पर ही मुख्यतः दृष्टि रखी है।

इसके अतिरिक्त 'कालिदास और भवभूति' नामक पुस्तक का भी उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। यह पुस्तक मूलतः बंगला भाषा में लिखी गई थी और इसके लेखक द्विजेन्द्रलाल राय थे। हिन्दी में इसका अनुवाद पं॰ रूपनारायण पांडेय द्वारा किया गया। इस पुस्तक में कालिदास लिखित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा भवभूति लिखित 'उत्तररामचरितम्' नामक नाटकों के आधार पर इन नाटककारों का विशद रूप से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

आरम्भ और विकास —

तुलनात्मक समीक्षा के मूल में जो वृत्ति कार्य करती है वह यह है कि किसी भी वस्तु के यथार्थ महत्त्व का बोध तभी होता है जब उसी के समान दूसरी वस्तु की तुलना करते हुए उसका आपेक्षिक स्थान का निर्धारण किया जाए। स्वतंत्र रूप में किसी कृति का परीक्षण इससे भिन्न होता है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा मूल्यांकन के लिए अपेक्षाकृत उदात्त दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसीलिए प्रतिनिधि समीक्षा प्रणालियों में तुलनात्मक समीक्षा को विशिष्ट स्थान दिया जाता है। हिन्दी समीक्षा के प्रारम्भिक युग से ही तुलनात्मक समीक्षा प्रणाली का आरम्भ हो गया था। हिन्दी के प्रारम्भिक कालीन प्रमुख समीक्षकों में से अनेक ने इस प्रणाली का अनुगमन किया।

जिन समीक्षकों की समीक्षा प्रणालियों में तुलनात्मक समीक्षा प्रधान नहीं भी रही उन्होंने स्फुट रूप से इसका प्रयोग अवश्य किया।

मिश्रबन्धु —

मिश्रबन्धुओं की समीक्षा पद्धतियों का एक रूप तुलनात्मक भी है। उनके प्रधान ऐतिहासिक दृष्टिकोण में भी तुलनात्मकता मिलती है। उन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में कवियों का जो श्रेणीकरण प्रस्तुत किया है, वह भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। कवियों का यह श्रेणीकरण जहाँ एक ओर मिश्रबन्धुओं के मौलिक दृष्टिकोण का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर तुलनात्मक समीक्षा के समुन्नित रूप का भी परिचय उससे मिलता है। सूर, तुलसी देव बिहारी भूषण केशव मतिराम तथा हरिश्चन्द्र आदि कवियों का जो तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत किया है तथा जो निष्कर्ष उन्होंने निकाले हैं वे उनकी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक सामर्थ्य का परिचय देते हैं। विभिन्न कवियों की गुण दोष निरूपण प्रणाली के आधार पर परख करते हुए उनकी शास्त्रीय आलोचना प्रस्तुत करना तथा उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता का निर्धारण करना मिश्रबन्धुओं की तुलनात्मक समीक्षा का आधार है।

मिश्रबन्धुओं की तुलनात्मक समीक्षा केवल विविध कवियों की समानताओं और असमानताओं की पारस्परिक तुलना तक ही सीमित नहीं रही है वरन् विविध युगों की तुलना और विविध भाषाओं तथा उनके लेखकों की तुलना भी उसमें हुई है। उदाहरण के लिए उन्होंने हिन्दी कविता के विकास के विविध युगों की तुलना अंग्रेजी काव्य के इतिहास के विविध युगों से की है तथा इसी प्रकार से हिन्दी कवियों और अंग्रेजी कवियों की तुलना भी की है। इन तुलनाओं में भक्ति युग की तुलना पुनर्जागरण युग तथा चन्द बरदाई और तुलसीदास की तुलना चौसर और शेक्सपीयर आदि से की गई है। तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के इन्हीं आधारभूत तत्वों के द्वारा आगामी काल में यह समीक्षा पद्धति प्रशस्त हो सकी।

पद्मसिंह शर्मा —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का हिन्दी में सुव्यवस्थित रूप में स्थापन करने का श्रेय पं० पद्मसिंह शर्मा को ही है यद्यपि उनसे पूर्व भी इस पद्धति के रूप मिलते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के अनुसार ही अपने समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्माण किया है। शर्मा जी ने बिहारी और देव के ऐतिहासिक वाद-विवाद में भाग लिया और बिहारी की देव से उच्चता सिद्ध की।

इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी के उन कवियों की ओर सामान्य रूप से उन्होंने ध्यान नहीं दिया जो बिहारी और देव की अपेक्षा महान् हैं क्योंकि उनके काव्य में उतनी चामत्कारिकता या आलंकारिकता नहीं मिलती। वह चमत्कार प्रधान काव्य को विशेष महत्व देते थे क्योंकि उनकी धारणा के अनुसार काव्य के अलंकरण से उसके सौन्दर्य में बहुत वृद्धि होती थी। शर्मा जी के इसी आग्रह और पक्षपात को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक मूल्य से युक्त प्रतिपादित किया है।[1]

सतसई संहार —

पं० पद्मसिंह शर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्व में वे विशेषताएं दिखाई देती हैं जो एक तुलनात्मक समीक्षक के लिए अपेक्षित हैं। इनमें से एक विशेषता है उनका बहु भाषा ज्ञान। संस्कृत हिन्दी प्राकृत तथा ब्रज भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। इनमें से प्रत्येक भाषा की महत्वपूर्ण कृतियाँ उन्होंने पढ़ रखी थीं और उनके बहुत से अंश उन्हें कण्ठस्थ भी थे। शर्माजी का 'पद्मपराग' नामक निबन्ध संग्रह ऐसी विचारात्मक रचनाओं से युक्त है जो उनके व्यक्तित्व का सम्यक् परिचय देने में समर्थ हैं।

तुलनात्मक समीक्षा विषयक शर्मा जी का पहला निबन्ध "सतसई संहार" है जो "सरस्वती' में धारावाहिक रूप से छपकर बाद में पुस्तिकाकार प्रकाशित हुआ।

१ " "पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुसरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। आर्य्या सप्तशती और 'गाथा सप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते जुलते पद्यों को बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को उच्च सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने भी बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो पर उन्होंने जो कुछ किया है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"

भाषा की प्रवाहपूर्णता और शैली की सजीवता के साथ गम्भीर विषय प्रतिपादन से युक्त यह रचना तुलनात्मक समीक्षा साहित्य की प्रवर्तक कृतियों में है। परन्तु चूँकि अभी इस समीक्षा का सम्यक रूप में विकास नहीं हुआ था इसलिए इसमें कुछ ऐसे तत्व है जो वैयक्तिक पक्षों पर कटाक्ष के रूप में समाविष्ट हुए हैं। वास्तव में इसका कारण यह था कि पं० पद्मसिंह शर्मा अपने स्वभाव से ही स्पष्टवादी थे और लेखन में भी स्पष्टवादिता की प्रवृत्ति को ही पसन्द करते थे।

बिहारी की सतसई —

पं पद्मसिंह शर्मा ने "बिहारी की सतसई" की जो विस्तृत भूमिका लिखी है वह उनकी विद्वता की परिचायक होने के साथ ही साथ तुलनात्मक समीक्षा का भी प्रौढ़ रूप प्रस्तुत करती है। इस रचना में कवि बिहारी की साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्धारण करते हुए शर्मा जी ने उनके काव्य के उन मर्म तत्वों की विवृति की है जिनसे हिन्दी के पाठक अभी तक अछूते थे। यही नहीं किसी एक भाव का साम्य किसी दूसरे महा कवि की रचना से उपस्थित करना और अपने निर्णयात्मक मत का प्रतिपादन जितने प्रमा णात्मक रूप में उन्होंने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

'बिहारी सतसई' में एक स्थल पर उसका महत्व प्रतिपादित करते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है 'आजकल सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी स्वभावोक्ति पर फिदा है। अन्य अलंकारों की सत्ता इसकी परिष्कृत रुचि की आँखों में काँटा सी खटकती है और विशेषकर अतिशयोक्ति से तो उसे कुछ चिढ़ सी है। प्राचीन साहित्य विधाताओं के मत में जो चीज कविता कामिनी के लिए नितान्त उपादेय थी वही इनके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि वैचित्र्य का दौरात्म्य है। जो कुछ भी हो प्राचीन काव्य वर्तमान "परिष्कृत सुरुचि" के आदर्श पर नहीं रचे गए। उन्हें इस नए मत से नापना चाहिए प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है। "सतसई" भी एक ऐसा ही काव्य है बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिनमें अतिशयोक्ति शून्य अलंकार चमत्कार रहित माना गया है। उपमा उत्प्रेक्षा पर्याय और विरोधाभास आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन लाभ करते हैं अतिशयोक्ति ही उन्हें जिलाकर चमकाती है मनमोहक बनाती है उनमें जादू लाती है।'[1] ---

1 'बिहारी की सतसई' पं० पद्मसिंह शर्मा पृ० २१८।

मौलिकता का स्वरूप —

पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' का अध्ययन करते समय उ
प्र न के शैली छन्द भाव अलंकार आदि तत्वों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवे
प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सातवाहन
'गाथा सप्तशती' तथा गोवर्धनाचार्य कृत 'आर्या सप्तशती' आदि ग्रंथ बिहारी के स
आदर्श रूप से मान्य थे तथा उनका प्रभाव भी उन्होंने ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध
शर्मा जी के कुछ विचार आदर्श कोटि के है। उदाहरण के लिए कवि कर्म तथा वि
की मौलिकता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह f
सित किया है कि साहित्यिक मौलिकता किसी नवीन विषय की सद्भावना में
नही होती। उपलब्ध तथ्य का नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण भी मौलिकता का
सूचक है।

यही नही उन्होंने स्पष्ट रूप से इस तथ्य की घोषणा की है कि साहित्यक
का परस्पर भाव अथवा विषय साम्य से अलग रहना असम्भव ही है। इसके अतिरि
कभी कभी यह केवल संयोग के कारण भी होता है। अतः इस प्रकार के दोष वि
श्रेष्ठ कवि पर लगाकर उसे हीन सिद्ध करना सर्वथा अन्याय है। उन्होंने 'बिह
की सतसई' में लिखा है कवि भी प्रकृति वाटिका का विकासक वसन्त है। वह प्र
क उन्ही नीरस सूखे ठू ठ रूपों में अपनी प्रतिभा शक्ति से आलौकिक रस का सं
करके कुछ से कुछ दिखाता है। कवि बसन्त किसी पुरानी कविता द्रुम में रस म
के मधुर फल किसी में अलंकार ध्वनि के मनोहर पुष्प और किसी में वस्तु ध्वनि
के सुन्दर रूप रंग का समावेश करके सूखते हुए और निर्जीव को सजीव बना दे
है। किसी को शब्द शक्ति के और किसी को अर्थ शक्ति के सहारे ऊपर उ
देता है। किसी को अर्थालंकार क वैचित्र्य से आँखों में चुभने और चित्त में चु
भाता कर दिखाता है।[1]

महत्व —

पं पद्मसिंह शर्मा का महत्व हिन्दी समीक्षा के क्ष त्र में तुलनात्मक पद्ध
के सुनियोजित प्रवर्तक की दृष्टि से है। उन्होंने "बिहारी की सतसई" की भूमि
में बिहारी की आपेक्षित उत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराते हुए अपने मत का पाण्डित्य

१ 'बिहारी की सतसई' पं० पद्मसिंह शर्मा पृ २७।

पूर्ण पुष्टीकरण किया। उनकी समीक्षा में कहीं कहीं शास्त्रीयता तथा प्रभाववादिता की प्रधानता भी हो गयी है। यह निश्चित है कि उनके इस धारा का ही यह परिणाम हुआ कि न केवल बिहारी के बारे में जानकारी बढ़ी वरन उनके यथार्थ महत्व को भी समझा गया। इसके अतिरिक्त समीक्षा में स्पष्टवादिता तथा पक्षपातहीनता के गुणों के समावेश की भी एक युगीन आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति उनके द्वारा की गयी।

कृष्णबिहारी मिश्र —

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के विकास में योग देने वाली दूसरी उल्लेखनीय कृतियाँ कृष्णबिहारी मिश्र लिखित 'देव और बिहारी' है। इस पुस्तक में उन्होंने देव को बिहारी की अपेक्षा श्रेष्ठतर कवि घोषित किया है। इसके पूर्व पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' नामक कृति में बिहारी की श्रेष्ठता के विषय में जो मन्तव्य प्रस्तुत कर चुके थे उसका 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक में खंडन किया गया।

इस प्रकार की तुलनात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के प्रसार के दृष्टिकोण से तो ठीक रहती है परन्तु इसमें एक प्रकार के आग्रह की वृत्ति भी विद्यमान रहती है। इसीलिए इस पुस्तक में भी पूर्व निश्चित मन्तव्य था जिसका उद्देश्य देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। इस ग्रंथ में लेखक ने अन्य अनेक कवियों से देव की तुलना करके उन्हें उच्चतर स्थान दिया है। यह पुस्तक तुलनात्मक समीक्षा का प्रौढ़ और व्यापक रूप प्रस्तुत करती है। आगे चलकर इस समीक्षा पद्धति का जो विकास हुआ उसमें भी इस पुस्तक का पर्याप्त योग है।

देव और बिहारी —

इस ग्रंथ में पं० कृष्णबिहारी मिश्र का उद्देश्य देव के काव्य सौष्ठव की व्याख्या करते हुए उनका विशेष रूप से बिहारी की अपेक्षा उच्च महत्व प्रतिपादित करना था। ऐसा करते समय लेखक ने काव्य के विविध पक्षों के आधार पर इन दोनों कवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में एक स्थान पर इन दोनों कवियों के प्रेम वर्णन की तुलना प्रस्तुत करते हुए मिश्र जी ने लिखा है बिहारी लाल की अपेक्षा देव ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के स्फुरण में विशेष हुआ है। बिहारी लाल का वर्णन न तो क्रमबद्ध ही है न उसमें विषय वासना और शुद्ध प्रेम में विलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। देव ने परकीया का वर्णन किया है और अच्छा किया है परन्तु परकीया प्रेम को उन्होंने निम्न

भी शुरू की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढ़कर किया है। मुग्धा स्वकीया के प्रेमानन्द में देव मग्न दिखाई पड़ते हैं। पर बिहारी ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है।[1]

शास्त्रीय दृष्टि —

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य का गहन अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उनके पास एक ठोस साहित्यिक आधारभूमि थी क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप ही हिन्दी में भी साहित्यशास्त्र की परम्परा का प्रवर्तन हुआ था और रीतिकाल में लिखा गया हिन्दी का काव्य भी प्रायः उन्हीं मानदंडों के अनुसार था। इसलिए उन कसौटियों के सन्दर्भ में रीतिकालीन साहित्य का परीक्षण सर्वथा सम्भव था। देव बिहारी और मतिराम पर मिश्र जी ने जो अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किए हैं वे इसी शास्त्रीय दृष्टिकोण से लिखे गए हैं।

निर्णयात्मक स्पष्टता —

मिश्र जी की तुलनात्मक समीक्षा में निर्णयात्मक स्पष्टता सर्वत्र लक्षित की जा सकती है। उदाहरण के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' में एक स्थान पर लिखा है 'देव जी शृ गारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अनेक स्थलों पर भाव समानता में बिहारी लाल देव तथा अन्य कवियों से दब गए हैं। देव की भाषा बिहारीलाल की भाषा से कहीं अच्छी है। सूर हित हरिवंश मतिराम तथा अन्य कई कवियों की भाषा भी बिहारी की भाषा से मधुर है। भाषा का समुचित नियंत्रण करते हुए गम्भीरता पूर्वक भाव का निर्वाह करने में देव जी अद्वितीय हैं। " एक मात्र सतसई के रचयिता के कुछ दोहे कोई भले ही विशिष्ट कह दे पर दर्जनों ग्रन्थ बनाने वाले देव जी के विशिष्ट छन्द कहीं ढूढ़ने पर मिलेंगे। " सारांश यह कि हमारी राय में शृ गारी कवियों में देव जी का स्थान पहले है और बिहारी लाल का बाद को।[2] इसी प्रकार से अन्य स्थलों पर भी उनके निर्णय स्पष्ट हैं।

१ 'देव और बिहारी' पं० कृष्णबिहारी मिश्र पृ० १५२।
२ वही पृ० १४६, २४२ २६।

काव्य की भाषा —

काव्य की भाषा के विषय में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र का यह मत था कि यद्यपि खड़ी बोली में लोग काव्य रचना कर रहे थे परन्तु उसके लिए अधिक उपयुक्त भाषा ब्रजभाषा ही है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि उनके समय तक खड़ी बोली काव्य की भाषा बन चुकी थी और अनेक कवि उसमें काव्य रचना करके उसकी सम्भावनाओं की ओर संकेत कर रहे थे। मिश्र जी भी यह चाहते थे कि हिन्दी और हिन्दी कविता की सभी प्रकार से उन्नति हो परन्तु उनका निश्चित मत था कि चूंकि काव्यात्मक गुण ब्रजभाषा में अधिक सम्भव और सुलभ है इसलिए उसी में कविता करना अधिक उचित होगा। उनके विचार से भावात्मकता और शब्द सौन्दर्य के गुण खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक थे।

इस प्रकार से यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ एक ओर शास्त्रीयता के कट्टर अनुगमन के कारण मिश्र जी ने आधुनिक विचारधाराओं को अपनी समीक्षा मे स्थान नहीं दिया उसी प्रकार से दूसरी ओर ब्रजभाषा के अतिशय समर्थन के कारण उन्होंने खड़ी बोली में काव्य रचना को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।

देव और केशव —

कृष्ण बिहारी मिश्र ने अपने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक में देव की भाषा की तुलनात्मक श्रेष्ठता का अन्वेषण करते हुए अन्य कवियों की भाषा पर भी विचार किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने देव और केशव की भाषा की तुलना करते हुए लिखा है 'मुख्यतया दोनों ही कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है पर केशव की भाषा मे संस्कृत एवं बुन्देलखंडी के शब्दों को विशेष आश्रय मिला है। संस्कृत शब्दों की अधिकता से केशव की कविता में ब्रजभाषा की सहज माधुरी न्यून हो गई है। संस्कृत में मीलित वर्ण एवं ट वर्ग का प्रयोग विशेष अनुचित नहीं माना जाता, परन्तु ब्रजभाषा में इनको श्रुति कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है। केशवदास ने इस पाबन्दी पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इधर देव ने मीलित वर्ण टवर्ग एवं रेफयुक्त वर्ण का व्यवहार बहुत कम किया है। सो जहाँ तक श्रुति माधुर्य का सम्बन्ध है, देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी है। केशव की भाषा बहुत कुछ क्लिष्ट भी है। ·····शब्दों को तोड़ मरोड़ कम करने तथा व्याकरण संगत भाषा लिखने में यह देव से ·····अच्छे हैं। देव की भाषा लिखने में कोष अर्थसाम्य, प्रस्तुरण की सरलता एवम् स्वा

भाविकता अधिक है। हिन्दी भाषा के मुहावरे एवम् लोकोक्तियाँ भी देव की भाषा में सहज सुलभ हैं।"[1]

मतिराम ग्रन्थावली —

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी पुस्तक 'मतिराम ग्रन्थावली' में भी भूमिका लिखते समय मतिराम की तुलना देशी विदेशी भाषाओं के विविध कवियों से की है। कहीं कहीं यह इस अर्थ में तो समत है ही कि दो कवियों में भाव साम्य अथवा विषय साम्य मिलता है, साथ ही बहुत से कवियों के सम्बन्ध में उसे और भी व्यापक स्वरूप दिया गया है। उदाहरण के लिए मतिराम की तुलना सूरदास तुलसीदास, तोष रघुनाथ कालिदास रवीन्द्र शेक्सपीयर आदि से भी की गई है। इनमें परस्पर भावगत अथवा विषयगत समानता मिलती है। उपर्युक्त कवियों में से अनेक के क्षेत्र परस्पर सर्वथा भिन्न हैं और इनकी एक दूसरे से तुलना उनके स्तर के अंतर के कारण भी नहीं की जा सकती, परन्तु मिश्र जी ने उनके काव्य का व्यापक पृष्ठभूमि पर अध्ययन करते हुए, इस प्रकार के प्रसंगों की खोज करके उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

महत्व —

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने हिन्दी के तंयत समीक्षकों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मिश्र जी का आविर्भाव हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में उस समय हुआ था जब समीक्षा के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो रहा था। कुछ समीक्षक उनसे पूर्व हो चुके थे, जिन्होंने अपने अपने दृष्टिकोण से यथासम्भव सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्रों में कार्य किया था। मिश्रजी ने इस परिस्थिति को यथार्थ रूप में समझा और साहित्यालोचन में प्रवृत्त हुए। समकालीन आलोचना में जो तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति थी उसके विशिष्ट व्यक्तियों में मिश्र जी एक हैं। देव और बिहारी उनकी इसी प्रकार समीक्षा पद्धति की परिचायक पुस्तक है। उन्होंने 'मतिराम ग्रन्थावली' में भी जो भूमिका लिखी है उससे उनकी साहित्य विषयक मान्यताओं का निर्देशन होता है। इन दोनों ही पुस्तकों में मिश्रजी का दृष्टिकोण प्रधान रूप से शास्त्रीय रहा है।

उन्होंने अन्य शास्त्रीय समीक्षकों की भाँति अपने दृष्टिकोण में अनिश्चयता और

१ "देव और बिहारी" पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पृ० २८६।

अस्थिरता का परिचय नहीं दिया है वरन् एक ही मत पर दृढ़ रहे। यह भी उनके दृष्टिकोण की प्रौढ़ता का सूचक है। उनके समय में मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा और रामचन्द्र शुक्ल आदि समीक्षक थे जो उनके दृष्टिकोण के समान ही किसी न किसी रूप में शास्त्रीयता के समर्थक थे। यह एक संयोग की बात थी कि अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण विषयों की उपेक्षा करके ये समीक्षक देव और बिहारी की उच्चता या मध्यता के विवाद में पड़े परन्तु इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में अनेक नई दिशाएं स्पष्ट हुईं जिनके फलस्वरूप भविष्य में उसने प्रशस्ति पायी।

भगवान दीन —

लाला भगवानदीन का स्थान भी हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लाला जी ने यद्यपि अपने साहित्यिक सिद्धान्तों के विषय में कोई स्वतंत्र समीक्षा ग्रन्थ नहीं प्रस्तुत किया परन्तु उनकी लिखी हुई भिन्न भिन्न टीकाओं सम्पादित ग्रन्थों पत्रिकाओं आदि में उनके विचार मिल जाते हैं। बिहारी और देव" शीर्षक से जो पुस्तक मिलती है उसमें लालाजी के निबन्ध संगृहीत किए गए हैं। लालाजी कट्टर रूप से शास्त्रीय समीक्षक थे। उनका यह शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रायः सभी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

लालाजी की समीक्षात्मक कृतियों में 'अलंकार मंजूषा' तथा व्यंग्यार्थ मंजूषा' आदि सैद्धांतिक रचनाएं 'केशव कौमुदी', प्रियाप्रकाश' 'बिहारी बोधिनी, 'मानस की टीका' 'दोहावली' कवितावली' और छत्रप्रकाश दर्शक आदि टीकायें तथा सूरपंच रत्न', 'केशवपंचरत्न' तुलसीपंचरत्न' 'ठाकुर ठसक' 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' 'रामविलास, 'विरह विलास' 'स्नेह सागर' और 'सूक्ति सरोवर' आदि सम्पादित ग्रन्थ हैं।

बिहारी और देव :—

लाला भगवानदीन लिखित "बिहारी और देव' नामक पुस्तक तुलनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत बाजैवाली उल्लेखनीय कृति है। इस पुस्तक में लेखक ने रीतिकाल के इन इन दोनों शीर्षस्थ कवियों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक रूप से बिहारी को देव की अपेक्षा श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया है। परन्तु इस पुस्तक में तुलनात्मक विवेचन के साथ ही साथ पूर्ववर्ती समीक्षकों पर भी आरोप लगाए गए हैं और आक्षेप किए गये हैं। इसीलिए उन्होंने बिहारी की उच्चता सिद्ध करते हुये देव की कविता में दोष निकालने की अधिक चेष्टा की है। यह प्रवृत्ति तुलनात्मक समीक्षा के पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में समान रूप से सत्य है। लाला जी ने इस पुस्तक में पूर्ववर्ती समीक्षकों के द्वारा

बिहारी पर लगाये हुए दोषों का निराकरण किया। उनकी समीक्षा में भी निष्कर्षात्मक मन्तव्यों की प्रधानता है।

अन्य कृतियाँ —

लाला भगवानदीन की अन्य कृतियों में 'बिहारी बोधिनी' 'कवितावली', 'दीपावली' 'केशव कौमुदी' तथा 'सूर पंचरत्न' आदि उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती हैं। इनमें लाला जी ने जो भूमिकाएँ प्रस्तुत की हैं उनमें सम्बन्धित विषय के प्रतिपादन के साथ ही साथ प्रासंगिक रूप से काव्य के आधारभूत तत्वों के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन रचनाओं में उनका आचार्य का रूप प्रधान रहा है और दृष्टिकोण में शास्त्रीयता की प्रधानता रही है। लाला जी की सैद्धांतिक कृतियों में 'अलंकार मंजूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' मुख्य रही हैं जिनमें सरल शैली से लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

महत्व —

लाला भगवानदीन का स्थान तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत आने वाले समीक्षकों में है। व्यावहारिक समीक्षा में तो उन्होंने इस पद्धति का प्रयोग किया ही है सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वह किसी कृति का विश्लेषण करते समय सबसे पहले उसके उद्देश्य का परीक्षण करते हुए देखते थे कि किस दृष्टि या प्रयोजन से वह रची गई है और उसकी पूर्ति में वह कितनी समर्थ है। इसके पश्चात् शास्त्रीय सिद्धांतों की कसौटी पर वह कृति किस सीमा तक खरी उतरती है।

इसके अतिरिक्त अंत में वह यह भी देखते थे कि उसी विषय पर यदि अन्य कवियों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं तो उनकी तुलना में कितनी उत्तम या मध्यम हैं। इससे यह सिद्ध है कि वह प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा पद्धति के ही समर्थक थे और आधुनिक दृष्टिकोण के विषय में किसी सीमा तक उपेक्षा भाव रखते थे। लाला भगवानदीन को हम टीकाकारों की परम्परा के अंतिम स्तम्भ भी कह सकते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में वह अंतिम टीकाकार थे और उनके पश्चात टीका की यह परम्परा लगभग समाप्त सी हो गई।

पद्मसिंह शर्मा —

विश्व साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों के भाव अथवा अभिव्यक्ति साम्य के आधार पर हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का नवीन रूप प्रस्तुत करने का श्रेय पद्मसिंह

रानी गुर्टू को है। शची रानी गुर्टू ने अपने साहित्य दर्शन नामक ग्रन्थ में विविध भाषाओं के और विविध देशों के महान् साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है। बाल्मीकि से लेकर रविन्द्रनाथ ठाकुर तक के लगभग दो दर्जन से अधिक साहित्यकारों के विषय में उन्होंने विचार किया है। इस पुस्तक की मान्य समीक्षकों द्वारा पर्याप्त प्रशंसा हुई और इसे विश्व साहित्य कोष तक की संज्ञा दी गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखिका ने अत्यधिक परिश्रम किया और विश्व साहित्य के प्रतिनिधि साहित्यकारों के कलात्मक सौन्दर्य का परिचय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के अध्ययन में दृष्टिकोण सम्बन्धी मतभेद के लिए बहुत अधिक स्थान रहता है। लेखिका ने यथासम्भव शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन विभूतियों पर विचार किया और सहृदयतापूर्ण चित्रण के कारण उनकी शैली में भावनात्मकता का समावेश हो गया है। इसी कारण लेखिका की भाषा समीक्षात्मक न रहकर काव्यात्मक हो गई है। उदाहरण के लिए "विराट साक्षात्कार से रचित महाकवि की कल्पना विस्मय विमुग्ध जब चिरन्तन सत्य के दर्शन में जो जाती है तो उसके हृदय में अग प्रतिक्षण भावऊर्मियों का उद्वेलन होता है। कवि आँखें फाड़कर देखता है। उसके समक्ष दूर बहुत दूर तक प्रकृति का विराट वैभव बिखरा पड़ा है। हरीतिमा में ओतप्रोत प्रकृति बाला का लहलहाता परिधान सूर्य के धवल करणों पर बिखरी स्वर्णिम किरणें उसके आभरण से प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य विभोर कवि आश्चर्य से भर जाता है।[1] इस प्रकार के स्थलों पर आलोच्य साहित्यकारों के मूल्यांकन और महत्व निदर्शन का प्रयत्न अप्रासंगिक हो गया है और अनुभूतिगत श्रद्धा का अभिव्यक्तीकरण प्रधान।

दृष्टिकोण —

लेखिका ने इस ग्रन्थ में अपने दृष्टिकोण और प्रयोजन के विषय में यह लिखा है कि आज संसार के किसी भी देश के विकास के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह विविध सीमाओं का अतिक्रमण न करते हुए भी यथासम्भव साहित्य में निहित शाश्वत सत्य को पहचानने का प्रयत्न करे। भले ही वह किसी भी देश भाषा जाति और युग का साहित्य हो। उनका कथन है कि आज का विचारक देश काल और समाज की सीमाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह जानता है कि यद्यपि विचार, भाव और अनुभूति में कुछ ऐसे तत्व कला में होते हैं जो काल की सीमाओं से परे भी मनुष्य के हृदय को छूते हैं क्योंकि वह उसका गौरवमय अतीत है। फिर भी साहित्य और कला

१ "साहित्य दर्शन शचीरानी गुर्टू।

के रूप चिरपरिवर्तनशील है, क्योंकि उनके सामाजिक और आर्थिक आधार परिवर्तनशील हैं। जैसे महाकाव्य की रचना होमर वेदव्यास और वाल्मीकि ने की वह वर्जिल, दान्ते और मिल्टन क्यों न कर सके, और आज वैसी रचना इलियट और जेम्स जॉयस क्यों नहीं कर रहे? अवश्य ही इसके पीछे कुछ ऐसी सामाजिक तत्व हैं जिन्हें हमारे शाश्वतवादी विचारक नहीं ग्रहण कर पा रहे। इसे केवल दैवी घटना कह कर हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते।"[१]

सीमाएँ —

इस ग्रन्थ में लेखिका ने कहीं-कहीं कुछ सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत किया है। उदाहरण के लिए उनका कहना है कि प्रत्येक काव्य जिस युग विशेष में लिखा जाता है उसमें उस युग की आवश्यकताएँ प्रेरक होती हैं क्योंकि साहित्य और कला इतिहास विकासमान और गतिशील मानवीय संस्कृति का प्रतिरूप है। 'रामायण' 'महाभारत' 'कामायनी' और 'पैराडाइज लॉस्ट' अपने-अपने युगों के अनुसार ही स्वरूप ग्रहण किए हुए हैं। इसी प्रकार से उपन्यास पूँजीवादी युग में महाकाव्य की भूमिका अदा करता है।

इस पुस्तक की कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट हैं और इसीलिए उनकी उपेक्षा करते हुए उसका मूल्यांकन करना उचित नहीं है। यद्यपि लेखिका का उद्देश्य किसी विशिष्ट समीक्षात्मक दृष्टिकोण का विश्व के साहित्यकारों पर आरोपण करना नहीं है परन्तु उनके जो भी आलोचनात्मक मन्तव्य इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त हुए हैं उनसे सहमति या असहमति के लिए सिद्धान्त कोई ज्यादा स्थान नहीं रह जाता क्योंकि लेखिका का लक्ष्य इससे सर्वथा भिन्न है। इतना अवश्य है कि लेखिका के कुछ आग्रह अवश्य कहीं-कहीं पर क्षणिम हो गए हैं, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक भारतीय लेखक की समता में एक विदेशी लेखक को रखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कहीं-कहीं यहाँ वास्तव में दो ऐसे लेखक आये हैं जिनमें भाव या विचार साम्य अधिक है तो ऐसे भी बहुत से लेखक हैं जिनमें भावात्मक और वैचारिक समता के स्थान पर विषमता ही अधिक है। इसलिए यदि लेखिका केवल साम्य की दृष्टि से उन्हीं साहित्यकारों का समावेश इस कृति में करतीं जो वास्तव में समान हैं तथा शेष के स्थान पर विश्व साहित्य की विविध युगीन सामान्य प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण उपस्थित करतीं तो सम्भवतः इस प्रकार की शंका की सम्भावना नहीं रहती।

१   'साहित्य दर्शन', शचीरानी गुर्टू।

महत्व —

लेखक ने जो भिन्न भिन्न लेखों की तुलनात्मक विवेचना की है उसमें उन्होंने कालिदास और शेक्सपियर, तुलसी और मिल्टन, टालस्टाय और टैगोर महात्मा गांधी और रोम्या रोलां प्रेमचंद और गोर्की गेटे और प्रसाद, निराला और ब्राउनिंग, शेली और पंत, मैथिलीशरण गुप्त और राबर्ट बर्न्स रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आरनल्ड महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना रोसेटी, एन्टन चेखव और यशपाल अज्ञेय और इलियट, जैनेंद्र और मेरीडिथ, शरत्चन्द्र और दास्तायवस्की, रवीन्द्र पंत और कीट्स तथा हार्डी और प्रसाद आदि हैं। जैसा कि विषय से स्पष्ट है कि किसी भी लेखक के लिए उपर्युक्त साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन सम्पूर्णता से प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है भले ही उसका विश्व साहित्य से कितना ही अच्छा परिचय क्यों न हो। इस लिए लेखिका ने यथासम्भव मानवीयता के दृष्टिकोण से ही सभी साहित्यकारों का परिचय दिया है क्योंकि संसार में ये साहित्यकार चाहे जिस देश या जाति में पैदा हुए हों मूलतः वे मनुष्य थे और उनमें मनुष्यता थी।

यही कारण है कि पुस्तक में समीक्षा का जो रूप मिलता है उसमें विश्लेषणात्मकता कम है और हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति अधिक। परन्तु इस कथन का यह आशय नहीं है कि लेखिका ने समीक्ष्य साहित्यकारों के कलात्मक सौंदर्य के मूल तत्वों को नहीं पकड़ा है। उदाहरण के लिए महादेवी और क्रिस्टिना के विषय में वह लिखती हैं "क्रिस्टिना नियति के क्रूर थपेड़ों से मर्माहत हो वेदना अविश्वास अदृष्ट की आशंका में डूबी हुई विरह के स्वरों से गीत गाती है जिसमें हृदय की धड़कन और छटपटाहट आकुल प्राणों की कसक और आंतरिक आवेगों का संघात है। महादेवी के भावों में मीठी कचोट होते हुए भी सघन निरवता, अपूर्व व्यंजना बिखरती मधु भरी भाव प्रवणता है जो हृदय की गहराई में उतरती चलती है और जिसमें उठती गिरती विपुल तरंगमालिकाओं की सी अविराम धड़कन सुन पड़ती है। इन सब विषम बातों के बावजूद इन दोनों के ही काव्य विचार की हल्की झीनी धूमिलता से आच्छन्न हैं जो उत्तरोत्तर सघन होती जाती है और जिसके अतल में न जाने कितने अंतःस्वर अवाक् होकर उसके अन्तर के मूक हाहाकार में एकाकार होने के लिए छटपटा रहे हैं।"[1] —इस प्रकार से शचीरानी गुर्टू ने हिंदी में तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया और उसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता मिली। हिंदी के

1 साहित्य दर्शन", शचीरानी गुर्टू।

समीक्षकों की दृष्टि में व्यापकता आयी तथा विदेशी साहित्य और साहित्यकारों की उपलब्धियों की अवगति भी उनमें हुई ।

सम्भावनाएँ —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति ऐतिहासिक दृष्टिकोण से द्विवेदी युग से आरम्भ हुई । इसके क्षेत्र में जो क्रियाशीलता रही वह इस युग में प्राय किन्हीं दो साहित्यकारों की पारस्परिक श्रेष्ठता के प्रतिपादन तक सीमित थी । इस प्रकार के विवाद में शास्त्रीय रूप से देव और बिहारी की समीक्षा ही प्रमुखता लिये हुए थी । इन कवियों में से किसी एक के महत्त्व की घोषणा करते समय बहुधा समीक्षक वैयक्तिक आक्षेप करते हुए अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर भी आ जाते थे । परन्तु जब इस प्रकार के विवाद इस रूप में समाप्त हो गये, तब इस समीक्षा प्रवृत्ति की व्यापक स्तरीय सम्भावनाएँ सामने आयी । अनेक समीक्षकों ने आधुनिक युग में इस प्रवृत्ति को स्वीकारा और विश्व साहित्य के धरातल पर साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयत्न किया । परन्तु जिन समीक्षकों ने इस प्रवृत्ति के क्षेत्र में कार्य किया उन्होंने स्फुट रूप से ही इसको उठाया । वह उनके समीक्षा व्यक्तित्व का प्रधान रूप नहीं रहा । इसलिए उनकी चर्चा उनके विशिष्ट क्षेत्रों में करना ही अधिक संगत होगा ।

शास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

शास्त्रीय समीक्षा या 'क्लैसिकल क्रिटिसिज़्म' में प्राचीन साहित्यशास्त्रीय और परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है । विश्व में समीक्षा की विविध प्रवृत्तियों के जो रूप मिलते हैं प्राय इसी को उनमें सर्वाधिक प्राचीन कहा जा सकता है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि हम हिन्दी समीक्षा को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि संस्कृत साहित्य शास्त्र में मान्य सिद्धान्तों को हिन्दी रीति शास्त्र में अनुमोदित किया गया और उन्हीं के आधार पर समीक्षा कार्य हुआ । वर्तमान युगीन समीक्षकों का भी एक बड़ा वर्ग इसी दृष्टि का समर्थक है । इसलिए समीक्षा के इसी रूप को प्राचीनता सैद्धान्तिकता तथा विशुद्धता की दृष्टि से उच्च कोटि का मान्य किया जाता है ।

पूर्व परम्परा कविराजा मुरारिदान :—

आधुनिक हिन्दी में शास्त्रीय समीक्षा का आरम्भ रीतिकालीन साहित्यशास्त्र के अनुगमन पर हुआ था। आरम्भ में जो रचनाएँ सामने आयीं वे प्रायः उसी सैद्धान्तिक निरूपण की परम्परा का प्रसार करने वाली हैं। इनमें सर्वप्रथम कविराजा मुरारिदान लिखित "जसवन्तभूषण" नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। सम्वत् १९५० में रचित इस ग्रन्थ में रचयिता ने काव्य के स्वरूप शब्द शक्ति, गुण रीति तथा अलंकार आदि की विवेचना की है। इसमें लेखक ने लक्षण अलग न लिखकर अलंकारों के विवेचना करते हुए उन पर विचार किया है, क्योंकि उनके मतानुसार अलंकारों के नाम की व्युत्पत्ति की स्वयं ही लक्षण है।[१] उन्होंने लिखा है, "राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ निर्माण करने का कार्य आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रन्थ अनेक हैं। पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये कि जिससे विद्वानों को इस ग्रन्थ के अवलोकन की रुचि होवे और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे।"[२] इस कथन में इस ग्रन्थ की रचना के पीछे नवीन दृष्टि का आग्रह आभासित होता है।

प्रतापनारायण सिंह —

महाराजा प्रतापनारायण सिंह लिखित "रस कुसुमाकर" भी इसी परम्परा में आनेवाली कृति है। इसका विभाजन पन्द्रह कुसुमों में हुआ है। इनमें से पहले कुसुम में उद्देश्य दूसरे में स्थायी भाव वर्णन तीसरे में संचारी भाव चौथे में अनुभाव पाँचवे में हाव छठे में सखा सखी दूती वचन सातवें-आठवें में ऋतु वर्णन नवें में स्वकीया भेद दसवें में परकीया और सामान्य वर्णन ग्यारहवें में दस विधि नायिका वर्णन बारहवें में नायक भेद तेरहवें चौदहवें तथा पन्द्रहवें में विविध रसों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से रस के विविध अंगों की विवेचनात्मक पूर्णता इसकी प्रमुख विशेषता है।

कन्हैयालाल पोद्दार :—

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने "काव्य कल्पद्रुम" के अन्तर्गत प्रथम भाग "रस-मंजरी"

१ 'जसवन्तभूषण', कविराजा मुरारिदान, प्रस्तावना पृष्ठ १।

२ वही पृ० २ १।

तथा द्वितीय भाग के रूप में "अलंकार मंजरी" की रचना की। इनमें "रसमंजरी" में लेखक ने अपने दृष्टिकोण से रस का विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने काव्य का मूल भेदों को माना है। साहित्यशास्त्र की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'साहित्य शास्त्र उसे कहते हैं जिसके द्वारा काव्य निर्माण और रसानुभाव का एवं उसके स्वरूप दोष गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।'[1] इसी प्रकार ही "अलंकार मंजरी" में लेखक ने विविध अलंकारों का वर्गीकरण और व्याख्या प्रस्तुत की है। इस रचना में ६. शब्दालंकार सौ अर्थालंकार तथा चार संसृष्टि अलंकार वर्णित हुए हैं। पोद्दार जी के विचारों पर मम्मट, दंडी तथा भामह के सिद्धान्तों का प्रभाव कहीं-कहीं आभासित होता है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' —

श्री जगन्नाथ प्रसाद "भानु" के शास्त्रीय ग्रन्थों में "हिन्दी काव्यालंकार" "अलंकार प्रश्नोत्तरी', 'रस रत्नाकर" "नायिका भेद शंकावली" "छन्द प्रभाकर" तथा "काव्य प्रभाकर" आदि हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें लेखक ने काव्यांगों का सम्यक निरूपण प्रस्तुत किया है। लेखक ने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए इसमें लिखा है 'इस ग्रन्थ के द्वारा शुद्ध काव्य का पूर्ण ज्ञान हो यही इसका मुख्य हेतु है और इसके रचने की आवश्यकता विशेषतः इसलिये हुई कि सम्प्रति भाषा में काव्य में ऐसे बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं कि जिनके पढ़ने से काव्य सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही में ज्ञात हो सकें। वरन् एक को अध्ययन कर लेने पर दूसरे की आवश्यकता बनी ही रहती है तो भी मनोरथ सिद्ध नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है।'[2] लेखक ने अपने इस विचार के अनुसार इस ग्रन्थ को विषयगत सम्पूर्णता प्रदान की है और वास्तव में यह सम्यक ज्ञान का परिचय प्रस्तुत करता है।

भगवानदीन —

लाला भगवानदीन कृत "अलंकार मंजूषा" भी इसी परम्परा में आने वाला अलंकार विषयक ग्रन्थ है जिसमें विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से अलंकारों की

१ "रस मंजरी" श्री कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ २१

२ "काव्य प्रभाकर" श्री जगन्नाथ प्रसाद "भानु" भूमिका पृ० १

विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने ग्रन्थ की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने कुछ परीक्षाएँ प्रचलित की हैं जिनमें नवयुवक लड़के और नवयुवती कन्याएँ सम्मिलित होने लगी हैं। हिन्दी काव्य के कुछ अच्छे ग्रन्थ भी पाठ्य-पुस्तकों में रखे गये हैं। परन्तु अलंकार विषय समझे बिना काव्य को पूर्णतया समझ लेना दुस्तर ही है और यह विषय शिक्षक के समझाए बिना नहीं आ सकता। कोई शुद्ध अलंकार विषय का कोई ग्रन्थ,शिष्य को निःसंकोच भाव से पढ़ा नहीं सकता, यही कठिनता दूर करने के लिए हमने यह ग्रन्थ लिखा है।"[1] इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में उदाहरणों का चयन बहुत सतर्कतापूर्वक किया गया है। व्याख्या भी सरस भाषा और सुबोध शैली में प्रस्तुत की गयी है।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल' —

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस परम्परा में अपने ग्रन्थ 'अलंकार पीयूष' की रचना की है। यह ग्रन्थ डा० रसाल के अंग्रेजी प्रबन्ध का हिन्दी रूप है। इसमें लेखक ने अलंकार शास्त्र का सैद्धान्तिक निरूपण प्रस्तुत करने के साथ ही साथ संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में उसके विकास का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है, जिनमें पूर्वार्ध तथा उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत लेखक ने विषय का सम्यक विवेचन किया है। हिन्दी में शास्त्रीय और सैद्धान्तिक ग्रन्थों की जो परम्परा मिलती है उसमें डा० रसाल का यह ग्रन्थ विषय के वैज्ञानिक विवेचन और ऐतिहासिक परिचय की दृष्टि से सर्वप्रथम कहा जा सकता है।

सीताराम शास्त्री —

श्री सीताराम शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य सिद्धान्त' की रचना वामन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों के आधार पर सम्वत् १९८० में की। इसमें लेखक ने काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति, गुण दोष अलंकार, रस भाव स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का विवेचन किया है। यह ग्रन्थ रचना शैली की दृष्टि से नवीनता लिए हुए नहीं है और अभिव्यक्ति की दुरूहता भी इसमें विद्यमान है।

१ 'अलंकार मंजूषा', लाला भगवानदीन, वक्तव्य, पृ० १

अर्जुनदास केडिया —

आलंकारिक ग्रन्थों की परम्परा में श्री अर्जुनदास केडिया लिखित 'भारती भूषण' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक मूल अलंकार के विविध भेदों के उदाहरण आवश्यक सूचना सहित प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अलंकारों की विषय सूची भी प्रस्तुत की है, जो सूचनात्मक है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" —

पं० 'हरिऔध' लिखित 'रसकलस' नामक ग्रन्थ आधुनिक युग में लिखे गये रस विषयक ग्रन्थों में उल्लेखनीय स्थान रखता है। इसमें लेखक ने सभी रसों का वर्णन विस्तारपूर्वक उपस्थित किया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में आने वाले काव्यप्रकाश' साहित्य दर्पण' तथा 'रसगंगाधर' आदि ग्रन्थों से लेखक ने प्रभाव ग्रहण किया है। इसमें रस प्रसंग की उपयोगिता पर विचार करते हुए नायिका भेद के विषय में लिखा है 'नायिका भेद' के मूल में जो तत्व है, वास्तविक बात यह है कि वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक है। उसके भीतर स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं जो व्यापक और सर्व देशी हैं इसलिए उसकी अभिव्यक्ति विश्व भर में यथात् क्रम से यथा काल और यथावसर होती रही है। मेरा विचार है कि नाट्यशास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विभिवद्ध करके साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ायी है लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।'[1] इस प्रकार से इस ग्रन्थ का महत्व प्राचीन और नवीन दृष्टियों की संयुक्तता तथा उपयोगिता की दृष्टि से विशिष्ट है।

बिहारीलाल भट्ट —

भट्ट जी का विशाल ग्रन्थ साहित्य सागर' पन्द्रह तरंगों में विभक्त है जिनमें लेखक ने साहित्य काव्य शब्द वृत्ति ध्वनि भाव, अनुभाव विभाव रस, नायिका भेद दोष गुण अलंकार आदि की विस्तार से विवेचना की है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमे साहित्य शास्त्र के किसी भी अंग से सम्बन्धित कोई आवश्यक तत्व उपेक्षित नहीं किया गया है। अनेक विषय ऐसे हैं जिन पर लेखक ने नवीन सामग्री प्रस्तुत की है और प्राचीन सिद्धान्तों का अनुकरण नहीं किया है। जहाँ तक लेखक पर पूर्ववर्ती

१ 'रस कलस' पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', भूमिका' पृ० १९२।

ग्रन्थों के प्रभाव का सम्बन्ध है उसका आधार 'साहित्य दर्पण', 'भारती भूषण' तथा 'अलंकार मंजूषा' आदि अनेक ग्रन्थ रहे हैं।

मिश्रबन्धु —

ऊपर मिश्रबन्धुओं के समीक्षात्मक व्यक्तित्व की चर्चा भी की जा चुकी है। यहाँ उनके दृष्टिकोण की शास्त्रीयता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने 'मिश्रबंधु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थों में जिन कवियों की विस्तार से समीक्षा की है, उसका आधार परम्परा से मान्य शास्त्रीय सिद्धान्त ही थे। देव आदि कवियों का मूल्यांकन करते समय उन्होंने जो दृष्टिकोण रखा है संस्कृत साहित्य शास्त्र से प्रभावित रस वादी दृष्टिकोण ही है। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग की परख के शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर ही उन्होंने इन कवियों की भी परीक्षा की।

मिश्रबन्धुओं की समीक्षा पद्धति महावीरप्रसाद द्विवेदी के उत्तर कालीन समीक्षा की प्रौढ़ता और पूर्णता की सूचक है। उसमें आरम्भिक कालीन समीक्षा की अपूर्णताएं भी नहीं मिलतीं। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा कृतियाँ एक दृष्टिकोण से अपने विषय की सर्व प्रथम कृतियाँ कही जा सकती हैं। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा पद्धति मुख्यतः शास्त्रीय और ऐतिहासिक है। "मिश्रबन्धु विनोद" उनकी सर्वप्रमुख रचना है जो इस शैली का प्रतिनिधित्व भी करती है। मिश्र बन्धु के समय में ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का जो रूप मिलता था वह मुख्यतः साहित्य के गुणदोष निरूपण से सम्बन्ध रखता था। इसमें या तो गुणगान होता था या दोष दर्शन। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने लिखा है " कवियों की योग्यतानुसार लेखों में उनके गुण दोष दिखलाने का यथा साध्य प्रयत्न किया गया। वर्तमान समय में लेखकों की रचनाओं पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। उनके ग्रन्थों के नाम और मोटी रीति से दो एक अति प्रकट गुण दोष लिखने पर ही हमने सन्तोष किया।"

हिन्दी नवरत्न —

मिश्रबन्धुओं की दूसरी समीक्षात्मक कृति "हिन्दी नवरत्न" है। जैसा कि इस पुस्तक के नाम से स्पष्ट है इसमें हिन्दी के प्रसिद्ध नौ कवियों की विवेचना प्रस्तुत की गई है यद्यपि इसमें नौ से अधिक कवियों का समावेश है। हिन्दी कविता के विकास के प्रथम विकास युग अर्थात् वीर गाथाकाल के सर्व प्रसिद्ध कवि चन्द्रबरदाई से आरम्भ करके लेखकों ने परवर्ती महत्वपूर्ण कवियों का मूल्यांकन इसमें किया है। इस पुस्तक की

भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया। जिन कवियों को अध्ययन के लिये इसमें समाविष्ट किया गया है उनका विवेचन उनके साहित्य के भाषा, भाव और कलापक्षों के अतिरिक्त उनके वैचारिक निष्कर्षों पर भी आधारित है।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'हिन्दी नवरत्न' भी एक प्रकार का साहित्यिक इतिहास है जिसमें लेखकों ने हिन्दी के कुछ महान और प्रतिभावान कवियों को लेकर उनकी काव्य कला का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी में न केवल तुलनात्मक समीक्षा पद्धति से समीक्षा करने वाले समीक्षकों में भी मिश्रबन्धुओं का प्राथमिक स्थान है वरन् ऐतिहासिकता और शास्त्रीयता की दृष्टि से भी उनका महत्व है। इसमें तुलनात्मक या शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का कोई बहुत नवीन परिष्कृत और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं किया गया है परन्तु इसका श्रेय इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी के नये समीक्षा क्षेत्र में नवीन दिशाओं का संकेत हुआ और आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया।

साहित्य पारिजात —

सम्वत् १९९७ में "साहित्य पारिजात" के नाम से मिश्रबन्धुओं ने एक लक्षण ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसमें काव्य की व्याख्या के सम्बन्ध में "काव्य प्रकाश", "साहित्य दर्पण" "रस गंगाधर" आदि संस्कृत ग्रन्थों की परिभाषा का परीक्षण करते हुए नवीन व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए "भ्रान्त्यापन्हुति" के विषय में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है "भ्रान्त्यापन्हुति में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन झूठा ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।"[१] इसी प्रकार से अन्य भी अनेक स्थलों पर लक्षण तथा उदाहरण आदि में यह ग्रन्थ नवीनता लिये हुये है।

महत्व —

जहाँ तक मिश्रबन्धुओं के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है उन्हें शास्त्रीय समीक्षकों की परम्परा में रखा जा सकता है। उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था और उसकी सूक्ष्मताओं से उन्हें पूर्ण परिचय था। कहने का

१　साहित्यपारिजात' 'मिश्रबन्धु', पृ० ९०

आशय यह है कि व्यावहारिक समीक्षा करते समय उन्होंने उन साहित्यिक सिद्धान्तों और आदर्शों पर भी बराबर दृष्टि रखी। सम्भवतः मिश्रबन्धुओं के शास्त्रीय दृष्टिकोण का ही यह परिणाम हुआ है कि उन्होंने कबीर जैसे युग प्रवर्तक कवि के काव्य सौष्ठव पर भी सन्देहात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है क्योंकि जहाँ वे कबीर की वैचारिक उपलब्धियों से प्रभावित थे, वहाँ उनके काव्य की कलात्मक हीनता के विषय में भी उनका दृष्टिकोण निश्चित था।

इसी प्रकार से देव आदि कवियों के सम्बन्ध में भी उनके मन्तव्य शास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित हैं। वह तत्व काव्य सौष्ठव ही है, जिसके आधार पर मूल्यांकन करते हुए मिश्रबन्धुओं ने सूर को तुलसी से उच्चतर कवि बतलाया। जहाँ तक आधुनिक युग के हिन्दी काव्य का सम्बन्ध है, मिश्रबन्धु अपनी शास्त्रीयता के कारण ही उसे स्वीकृत मान्यता न दे सके। आधुनिक कविता में विषय, भाषा, छन्द और विचार के क्षेत्रों में उन्हें वह तथाकथित नवीनता मान्य नहीं थी, जिसका समावेश करने का दावा आधुनिक कविता के क्षेत्र में नए कवियों द्वारा किया गया। इस कथन का प्रमाण यह है कि उन्होंने आधुनिक युग के ब्रजभाषा में काव्य रचना वाले कवियों को अधिक सहानुभूति और समर्थन प्रदान किया है। उपर्युक्त कारण से यह बहुत सम्भव है कि कुछ लोग उन्हें भले ही रूढ़िवादी कहें पर हमारी सम्मति में शास्त्रीयता का अर्थ रूढ़िवादिता या परम्परानुगामिता नहीं है और मिश्रबन्धु जैसे शास्त्रीय समीक्षकों पर यह आरोप लगाना उनकी उपलब्धियों और महत्ता की उपेक्षा और अवज्ञा करना है।

श्यामसुन्दर दास :—

डा० श्यामसुन्दर दास की समीक्षा का क्षेत्र सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों तक विस्तीर्ण रहा है। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा में प्राचीन भारतीय साहित्य सिद्धान्तों को मान्यता देने के साथ ही साथ पाश्चात्य विचार धाराओं को भी सम्मिलित किया है। उन्होंने मुख्य रूप से देशी विदेशी समीक्षा सिद्धान्तों का पृथक् पृथक् रूप से विश्लेषण किया तथा उन्हें तथा सम्यक् ग्राह्य बनाने की चेष्टा की। इसलिए उनके समय से भारतीय साहित्य शास्त्र के अध्ययन और व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के साथ ही पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की ओर भी लोगों की रुचि बढ़ी। शुक्लोत्तर युग में पाश्चात्य समीक्षा का हिन्दी पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा है उसका एक कारण यह भी है कि डा० श्यामसुन्दर दास जैसे शास्त्रीय समीक्षक उसके लिये एक आधारभूमि निर्मित कर चुके थे।

भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया। जिन कवियों को अध्ययन के लिये इसमें समाविष्ट किया गया है उनका विवेचन उनके साहित्य के भाषा, भाव और कलापक्षों के अतिरिक्त उनके वैचारिक निष्कर्षों पर भी आधारित है।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'हिन्दी नवरत्न' भी एक प्रकार का साहित्यिक इतिहास है जिसमें लेखकों ने हिन्दी के कुछ महान और प्रतिभावान कवियों को लेकर उनकी काव्य कला का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी में न केवल तुलनात्मक समीक्षा पद्धति से समीक्षा करने वाले समीक्षकों में भी मिश्रबन्धुओं का प्राथमिक स्थान है वरन् ऐतिहासिकता और शास्त्रीयता की दृष्टि से भी उनका महत्व है। इसमें तुलनात्मक या शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का कोई बहुत नवीन परिष्कृत और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं किया गया है परन्तु इसका श्रेय इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी के नये समीक्षा क्षेत्र में नवीन विचारों का संकेत हुआ और आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया।

साहित्य पारिजात —

सम्वत् १९९७ में "साहित्य पारिजात" के नाम से मिश्रबन्धुओं ने एक लक्षण ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसमें काव्य की व्याख्या के सन्दर्भ में "काव्य प्रकाश", "साहित्य दर्पण" "रस गंगाधर" आदि संस्कृत ग्रन्थों की परिभाषा का परीक्षण करते हुए नवीन व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए "भ्रान्त्यापन्हुति" के विषय में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है "भ्रान्त्यापन्हुति में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन दूसरा ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।"[1] इसी प्रकार से अन्य भी अनेक स्थलों पर लक्षण तथा उदाहरण आदि में यह ग्रन्थ नवीनता लिये हुये है।

महत्व —

जहाँ तक मिश्रबन्धुओं के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है उन्हें शास्त्रीय समीक्षकों की परम्परा में रखा जा सकता है। उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था और उसकी सूक्ष्मताओं से उन्हें पूर्ण परिचय था। कहने का

१ साहित्यपारिजात' 'मिश्रबन्धु', पृ० ९०

कारण यह है कि व्यावहारिक समीक्षा करते समय उन्होंने इन साहित्यिक सिद्धान्तों और आदर्शों पर भी बराबर दृष्टि रखी। फलस्वरूप मिश्रबन्धुओं के सन्तुलित दृष्टिकोण का ही यह परिणाम हुआ है कि उन्होंने कबीर जैसे युग प्रवर्तक कवि के काव्य सौन्दर्य पर भी कलात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है क्योंकि जहाँ वे कबीर की वैयक्तिक अनुभूतियों से प्रभावित थे, वहीं उनके काव्य की कलात्मक हीनता के विषय में भी उनका दृष्टिकोण निश्चित था।

इसी प्रकार से देव आदि कवियों के सम्बन्ध में भी उनके सम्यक् सन्तुलित दृष्टिकोण पर आधारित हैं। यह उनका सम्यक् दृष्टिकोण ही है, जिसके आधार पर मूल्यांकन करते हुए मिश्रबन्धुओं ने सूर को तुलसी से उत्कृष्ट कवि बतलाया। जहाँ तक आधुनिक युग के हिन्दी काव्य का सम्बन्ध है, मिश्रबन्धु अपनी रूढ़िवादिता के कारण ही उसे समुचित मान्यता न दे सके। आधुनिक कविता में विषय, भाषा, छन्द और विचार के क्षेत्रों में उन्हें वह स्वाभाविक नवीनता मान्य नहीं थी, जिसका समावेश करने का श्रेय आधुनिक कविता के क्षेत्र में नए कवियों द्वारा किया गया। इस कथन का आशय यह है कि उन्होंने आधुनिक युग के प्रारम्भ में काव्य रचना करने वाले कवियों को अधिक सहानुभूति और समर्थन प्रदान किया है। उपर्युक्त कारण से यह बहुत सम्भव है कि कुछ लोग उन्हें भले ही रूढ़िवादी कहें पर हमारी सम्मति में आलोचना का कार्य अतीतोन्मुखी या परम्परानुमोदित नहीं है और मिश्रबन्धु जैसे सार्थक समीक्षकों पर यह आरोप लगाना उनकी उपलब्धियों और महत्ता की उपेक्षा और अवज्ञा करना है।

श्यामसुन्दर दास :—

डा० श्यामसुन्दर दास की समीक्षा का क्षेत्र सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों तक विस्तीर्ण रहा है। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा में प्राचीन भारतीय साहित्य सिद्धान्तों की व्याख्या देने के साथ ही साथ पाश्चात्य विचार धाराओं को भी प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने मुख्य रूप से देशी विदेशी समीक्षा सिद्धान्तों का पृथक् पृथक् रूप से विश्लेषण किया तथा उनमें सफल समन्वय स्थापन करने की चेष्टा की। इसलिए उनके समय में भारतीय साहित्य शास्त्र के अध्ययन और व्यावहारिक समीक्षा में रुचि के साथ ही पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की ओर भी लोगों की रुचि बढ़ी। शुक्लोत्तर युग में पाश्चात्य समीक्षा का हिन्दी पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा है उसका एक कारण यह भी है कि डा० श्यामसुन्दर दास जैसे शास्त्रीय समीक्षक उसके लिए एक आधारभूमि निर्मित कर चुके थे।

कृतियाँ :—

डा० श्यामसुन्दर दास की कृतियों में "राधाकृष्ण ग्रन्थावली", "हिन्दी निबन्ध माला "चन्द्रावती" अथवा "नासिकेतोपाख्यान" "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" "हिन्दी कोविद ग्रन्थमाला" (दो भाग) "रूपक रहस्य" "साहित्यालोचन" तथा "हिन्दी भाषा और साहित्य" आदि मुख्य हैं। जैसा कि इस पुस्तक की सूची से स्पष्ट है इसमें विषयों की विविधता है तथा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों समीक्षा प्रकारों का समावेश है।

दृष्टिकोण —

डा० श्यामसुन्दर दास ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का जो सैद्धान्तिक विवरण उपस्थित किया है, वह इनके "साहित्यालोचन" शीर्षक ग्रन्थ में व्यवस्थित रूप से मिलता है। इसमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण के विषय में स्वयं ही लिखा है कि "मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा है कि भारतीय तथा योरपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसके तत्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ, कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण दोष की परख करने और साथ ही ग्रन्थ निर्माण या काव्य रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूं कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।"[1]

कला का स्वरूप —

डा० श्यामसुन्दर दास ने कला के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे भावनात्मक अभिव्यक्ति माना है। उन्होंने प्रकृति को उसकी प्रेरणा सिद्ध करते हुए लिखा है कि "किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जो भावना जितनी तीव्रता के अथवा स्थायित्व के साथ उदय हो, यदि उतनी ही वास्तविकता और सच्चाई के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो तो वह

1 साहित्यालोचन' डा० श्यामसुन्दर दास भूमिका।

अभिव्यक्ति से स्रष्टा, श्रोता अथवा पाठक समाज की भी उससे ही तृप्ति हो सकती है। कला और प्रकृति के सम्बन्ध के विषय में डा० श्यामसुन्दर दास का मत है कि "प्रकृति की ओर मनुष्य निसर्गतः आकृष्ट होता रहता है, क्योंकि उससे उसकी वासनाओं की तृप्ति होती है। इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृति के उन चित्रों का अपने गुण के रस में सिक्त कर अभिव्यंजित करता है और वे भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट हो मानव हृदय को रसाप्लावित करते हैं।"[1] डा० श्यामसुन्दर के कला विषयक इन विचारों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि वह कला के विषय में उपयोगितावादी मत का समर्थन करते हैं और जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं।

काव्य —

जहाँ तक कविता का प्रश्न है डा० दास ने सामान्य रूप से भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से उस पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कहीं कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है जैसे उन्होंने बहुत न्यूनता से किन्हीं सिद्धान्तों का परीक्षण नहीं किया है। यों कविता के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण में प्राधान्य भारतीयता का ही है। उन्होंने यह मान्य किया है कि काव्य का जो आनन्द है वह एक विशिष्ट प्रकार का होते हुए भी आध्यात्मिकता से प्रत्येक प्रकार से असम्बद्ध है, क्योंकि वह एक लौकिक कोटि की वस्तु है और इसलिए नैतिकता से परे नहीं है। परन्तु काव्य के प्रयोजन की दृष्टि से यह आनन्दानुभूति ही एक वस्तु नहीं है और इसलिए यदि उसकी परिणति विश्व कल्याण की भावना में हो तो वह निश्चित ही मान्य होनी चाहिए। उन्होंने लिखा है "पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की झलक उस काव्य में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है, और काव्य के लिए यही मूल लोकहित है। काव्य तथा कला के लोकव्यापी रूपों को रचते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी व्यक्तिगत निर्धारित लोकहित को काव्य या कला का ध्येय नहीं मान सकते।"[2]

१. साहित्यालोचन" डा० श्यामसुन्दर दास भूमिका।
२. वही, पृ० ६ ।

काव्य और नीति —

काव्य और नीति के सम्बन्ध में भारतीय और विदेशी काव्य शास्त्रियों ने बहुधा विचार किया है। इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से दो प्रकार के मतों का प्रचार है। एक तो यह कि काव्य और नीति के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हैं जिन की उपेक्षा नहीं की जा सकती और दूसरा यह कि इन दोनों में कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है जो इनकी मर्यादा को किसी प्रकार से रेखाबद्ध करे। डा० दास का इस विषय में दृष्टिकोण बहुत उदार है और उन्होंने नीति धर्म और दर्शन का आधार लेकर उनका मान निर्धारण करने वालों का विरोध करते हुए लिखा है : "उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और दार्शनिक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास से इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझ कर धार्मिक विचार ही से उसकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदंड बन जाता है। ये कला समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते न उस कटु सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव व्यंजना उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"

समीक्षात्मक विचार —

डा० दास के समीक्षात्मक दृष्टिकोण के संबंध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि समन्वयवादी हैं। साहित्य में कलात्मकता के साथ ही साथ आचारात्मकता को भी उन्होंने समान रूप से मान्यता दी है यद्यपि उनके विचारों पर कहीं कहीं पाश्चात्य सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने भारतीय साहित्यिक सिद्धान्तों को अधिक मान्य नहीं किया है। डा० दास के विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं को जहाँ भी स्वीकार किया है, इस सीमा तक स्वीकार किया है कि उनमें मौलिकता कहीं भी नहीं रह गई है। यह आरोप यह सूचित करता है कि यद्यपि डा० साहब ने साहित्य के सभी अंगों उपांगों का सम्पूर्णता से विवेचन किया है पर उसमें मौलिक चिन्तन का पूर्ण अभाव है। इस विषय में इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि डा० दास ने स्वयं भी अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में यह स्वीकार किया है कि उनका कार्य विचारात्मक होने की अपेक्षा संकलनात्मक अधिक है।

व्यावहारिक समीक्षा —

डा० श्यामसुन्दर दास की सैद्धान्तिक समीक्षा तो उनके व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक है ही, उनकी व्यावहारिक समीक्षा भी युग की प्रवृत्तियों की दृष्टि से अपेक्षाकृत परिष्कार और नवीनता का आभास देती है। उदाहरण के लिए अपनी 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' नामक कृति में भारतेन्दु का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने लिखा है 'मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करना तथा कल्पना की वृद्धि और मनोवेगों का परिष्कार करना कविता के उपयोगी कार्य हैं। कुशल कवि लोग कल्पना की वृद्धि तथा मनोवेगों की परिष्कृति का कार्य प्रकृति के दो विभाग कर अर्थात् बाह्य प्रकृति और मानव प्रकृति द्वारा सिद्ध करते हैं। इनमें से कई महाकवि तो दोनों कार्यों में कुशल होते हैं, जैसे वाल्मीकि कालिदास भवभूति और तुलसीदास कोई प्रथम में और कोई द्वितीय में। बाबू हरिश्चन्द्र अधिकांश भाषा कवियों के समान इस तीसरे प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए-नए प्रभाव उत्पन्न किए पर उनके साधनों को परम्परानुसार ही रखा। मानव व्यापारों ही के अनेक अंशों को छांटकर इन्होंने मनोवेगों को उभाड़ने और ठीक करने का प्रयत्न किया और प्राकृतिक पदार्थों तथा व्यापारों की शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रख कर नहीं देखा, वरन् उसी के बनाए हुए घेरे में रखकर देखा।'[१]

महत्व :—

डा० श्यामसुन्दर दास का स्थान हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने न तो शास्त्रीय अनुगमन के प्रति ही पूर्ण आग्रह दिखाया और न नवीनता को ही पूर्ण रूप से ग्राह्य बताया। उन्होने इन दोनों का संतुलित समन्वय करने का समर्थन किया। उनकी लिखी हुई अनेक समीक्षा कृतियाँ इस कथन का प्रमाण हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि डाक्टर दास ने केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही अपने इस दृष्टिकोण का परिचय नहीं दिया है वरन् व्यावहारिक समीक्षा में भी इसी का आरोपण किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने संस्कृत समीक्षा शास्त्र में निर्धारित मुख्य समीक्षा प्रणालियों के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का भी व्यापक रूप से अध्ययन किया था।

१. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० ३५।

उन्होंने जहाँ एक ओर किसी विषय पर समीक्षा करते समय पूर्ण रूप से भारतीय शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार विवेचना की है वहाँ दूसरी ओर कहीं कहीं पश्चिमी सिद्धान्तों का भी आरोपण किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यापक दृष्टिकोण से समीक्षा करने की जो प्रवृत्ति वर्तमान समय में दिखलाई पड़ती है, उसके प्रवर्तन का श्रेय डा० दास जैसे विद्वानों को ही है। बहुत से स्थलों पर काव्य और उसके विविध तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विवादास्पद विषयों पर उन्होंने किसी प्रकार का वाद विवाद नहीं किया और न ही किसी मन्तव्य के खंडन या मंडन की चेष्टा की। उन्होंने यथा सम्भव संतुलित दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया और दूसरों को भी उसी का अनुगमन करने की प्रेरणा दी।

रामचन्द्र शुक्ल —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विकास में पं० रामचन्द्र शुक्ल का महत्व असाधारण है। उन्होंने अपने 'चिन्तामणि' (दो भाग) 'रस मीमांसा' 'जायसी ग्रन्थावली', 'भ्रमर गीत सार' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि ग्रन्थों में साहित्य शास्त्र की अनेक समस्याओं पर प्राचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में जहाँ भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की वहाँ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी एक आदर्श उपस्थित किया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि क्रियात्मक तथा समीक्षात्मक साहित्य दोनों के ही क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया परन्तु यह एक विचित्र तथ्य है कि क्रियात्मक क्षेत्र में उन्हें न तो अधिक सफलता ही मिली और न उन्हें समीक्षकों द्वारा ही कोई विशेष महत्व दिया गया। उन्होंने कहानियाँ लिखीं नाटक के क्षेत्र में भी रुचिमत्ता दिखाई तथा ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य की भी रचना की। यहाँ तक कि 'बुद्धचरित' नाम का एक प्रबन्ध काव्य भी लिखा परन्तु इनमें से किसी भी क्षेत्र में वह स्थायी रूप से न रह सके और अन्तत: एक महान् समीक्षक के रूप में ही उन्हें मान्यता मिली।

काव्य का स्वरूप —

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को जीवन और जगत की अभिव्यक्ति माना है। जीवन और जगत के अनेक रूप मनुष्य को एक प्रकार की तन्मयता की स्थिति में ला देते हैं। यह स्थिति मानव हृदय की मुक्तावस्था अथवा रस दशा होती है। इसी

की अनुभूति के प्रकाशन को काव्य कहते हैं। उन्होंने लिखा है "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[1]

गोस्वामी तुलसीदास के मूल्यांकन के सन्दर्भ में उन्होंने बताया है कि काव्य के अनुकूल तथा प्रकृत नामक दो रूप होते हैं। इनमें से कवि की भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रबन्ध का महत्त्व विशेष होता है। उनका विचार है कि जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाये जायेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न करते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना हो सकती है, जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अलग भावना से हटाकर, निज के योग क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है।"[2] इस प्रकार से शुक्ल जी काव्य के स्वरूप का निर्धारण भावनात्मक आलोक से करते हैं और उसे भावों की अभिव्यक्ति मानते हैं।

काव्य का उद्देश्य —

काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने बहुत व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसे उन्होंने शाश्वत कोटि का माना है क्योंकि यह लोक कल्याण का प्रचारक और जीवन के लिए स्फूर्तिदायक होता है। उन्होंने लिखा है कि काव्य या कवि कर्म के लक्ष्य को हम क्रम से तीन भागों में बाँट सकते हैं, १. शब्द विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, २. भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना, ३. नाना

१. 'चिन्तामणि' पं० रामचन्द्र शुक्ल, भाग १ पृ० १४९।
२. 'गोस्वामी तुलसीदास' पं० रामचन्द्र शुक्ल। पृ० ९९।

पदार्थों के साथ उसका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। मेरी समझ में काव्य का अन्तिम लक्ष्य तीसरा है। यह दूसरी बात है कि अपनी शक्ति के अनुसार कोई पहली सीढ़ी पर रह जाता है, कोई दूसरी ही तक पहुँच पाता है। श्रोता के सम्बन्ध में यदि हम पहले दो विभागों का ही विचार करते हैं तो कविता केवल आनन्द या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है।"[1]

काव्य के उद्देश्य के विषय में उन्होंने आत्मात्मक तादात्म्य से युक्त सन्देश को भी ध्यान में रखा है। उनका कथन है कि 'आजकल कवि के सन्देश (मैसेज) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदि कवि का आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की सन्देश है कि सब भूतों तक, सम्पूर्ण चराचर तक अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भाव रूप में रम जाओ हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से पहले पहल निकली उसमें यही सन्देश भरा था।"[2]

इस प्रकार काव्य को जीवन की प्रेरक एक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह मत प्रकट किया है कि उसका अंतिम उद्देश्य रसानुभूति है और उसका सम्बन्ध हमारे हृदय से है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने अन्य विषयों का काव्य से सीमा निर्धारण करते हुए यह निश्चय किया है कि धर्म्म के अन्य अंगों की अपेक्षा साहित्य किसी भी प्रकार से हीनतर नहीं है। जहाँ तक काव्य में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश का सम्बन्ध है उन्होंने यह प्रतिपादित किया है अन्ततः यह दोनों ही एक प्रकार की साधना का साधन करते हैं इसलिए इन दोनों में उद्देश्यगत भिन्नता नहीं है।

काव्य और कल्पना :—

काव्य में कल्पना तत्व के समावेश में शुक्ल जी की यह धारणा है कि वह निश्चित रूप से काव्य का एक आवश्यक तत्व है। परन्तु उन्होंने इन दोनों का संतुलन आवश्यक बताया है। उनका यह विचार है कि काव्य में कल्पना का समावेश उसी सीमा तक वांछनीय होना चाहिए जिस सीमा तक वह एक साधन के रूप में प्रतीत हो क्योंकि वह काव्य का एक आवश्यक तत्व है और उसके अभाव में काव्य में रसात्मकता की

१ 'रस मीमांसा', पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ८१।
२. 'काव्य में रहस्यवाद' पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६।

सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त कल्पना पाठक के लिए भी ग्राह्य होनी चाहिए। सच्ची कल्पना के विषय में शुक्ल जी ने लिखा है कि 'काव्य जगत् की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट छाँटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कल्पना कह सकते हैं। यों ही 'तिरपन्नी करने' बिना किसी भाव में मग्न हुए कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है या दिमागी कसरत सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग से उस भाव को सँभालने वाले या बढ़ाने वाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिए कुतूहल उत्पन्न करने के लिए जबरदस्ती पकड़ लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेरक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय प्रेरित हुए।'[1] इस प्रकार से शुक्ल जी ने कल्पना को काव्य में एक साधन माना है, जो उसकी प्रभाव पूर्णता में वृद्धि करता है।

काव्य और भाषा :—

काव्य की भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल का मत है कि वह सामान्य भाषा से भिन्न होती है। उन्होंने काव्य की भाषा की पहली विशेषता यह बताई है कि उसमें सजीवता होनी चाहिए, जिससे उसमें अभिव्यक्त भाव मूर्त रूप में हमारे सामने आ सकें। उसकी दूसरी विशेषता चित्रात्मकता है। शब्द चयन में अनुकूलता का ध्यान रखना भी कवि के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त काव्य भाषा में संगीतात्मकता तथा अर्थानुकूलता के गुण भी होना चाहिए। शुक्ल जी का विचार है कि 'नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताल पत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही, प्रसन्न चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।'[2]

१ भ्रमरगीत' पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २८।
२. 'चिन्तामणि' पं० रामचन्द्र शुक्ल, भाग १, पृष्ठ १७९–८०।

काव्य और अलंकार —

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार को आलोचना के लिए सहायक माना है। उनका विचार है कि वर्णन शैली अथवा कथन की पद्धति की विशेषताओं को ही अलंकार कहते हैं।[1] काव्य में अलंकार के समावेश के सम्बन्ध में उनका मत है कि 'कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।'[2] परन्तु अलंकार से काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि तभी होगी जब उसमें भावात्मक सौन्दर्य भी होगा। इसीलिए शुक्ल जी लिखते हैं कि जिस प्रकार कुरूपा स्त्री आभूषण बाँध कर सुन्दरी नहीं हो सकती उसी प्रकार से रमणीयता के अभाव में काव्य सजीव नहीं हो सकता।

रस —

रस सिद्धान्त के हिन्दी पोषकों में सबसे उल्लेखनीय नाम पं० रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होंने न केवल हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा में रस का विकास किया वरन् रस सिद्धान्त की नवीन मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से व्याख्या करके काव्य और साहित्य के एक व्यापक परीक्षण मानदंड के विशिष्ट रूप में विभिन्न रस दशाओं आदि की प्रासंगिक विवेचना करते हुए इसका सम्पूर्णता के साथ पुष्टीकरण भी किया है। शुक्ल जी रस को काव्य का सर्वस्व मानते थे। रस की अनुभूति के विषय में उन्होंने लिखा

१. 'चिन्तामणि', पं० रामचन्द्र शुक्ल, भाग १, पृष्ठ १८३।
२. वही, पृष्ठ १८२।

है कि 'पूर्ण रस की अनुभूति अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य दृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। वहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक विषय नहीं रह जाते मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है जहाँ हमारी भाव सत्ता का सामान्य भाव सत्ता में लय हो जाता है वहीं पुनीत रस भूमि है। आश्रय के साथ यह तादात्म्य आलम्बन का यह साधारणी करण जो स्थायी भावों में होता है, दूसरे भावों में चाहे वे स्वतन्त्र रूप में भी आये हों नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।'[१]

इस प्रकार पूर्ण रस बोध के लिए उन्होंने अभिव्यंजित भाव में लीनता की स्थिति को आवश्यक बताया है। इस लीनता की अवस्था को उन्होंने रस की प्रतीति की सबसे उत्कृष्ट स्थिति बताया है। उन्होंने एक अन्य स्थिति मध्यम प्रकार की बतायी है। जिसमें पाठक अथवा श्रोता स्वयं भावानुभव नहीं करता और उसे भावात्मक तादात्म्य भी नहीं होता। शुक्लजी ने रसानुभूति का विश्लेषण करते हुए कल्पना और भावुकता की भी व्याख्या की है और इन दोनों को ही कवि के लिए आवश्यक निर्देशित किया है। शुक्ल जी की समीक्षा में उनके रस विषयक दृष्टिकोण का बहुत अधिक महत्व है। प्राचीन भारतीय संस्कृत विचारकों के समान ही उन्होंने भी रसानुभूति को काव्य का प्रधान उद्देश्य स्वीकार किया। उन्होंने प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के रस सिद्धान्त को ग्राह्य करते हुए उसमें समीक्षा दर्शन के नवीनतर तत्वों का समावेश करके उसे युग के अनुकूल बनाया।

महत्व :—

पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी समीक्षा के इतिहास में असाधारण महत्व इस कारण है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय समीक्षात्मक सिद्धान्तों को आधुनिक चिन्तन से से संपृक्त करके उनका विकास किया तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रयोग किया। उनके दृष्टिकोण की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने समीक्षात्मक मानदंडों के लिए केवल प्राचीन सिद्धान्तों की ओर ही दृष्टि नहीं रखी वरन् उन्होंने महाकवियों की कृतियों में निहित मूल्यों का संचयन किया तथा उन्हीं को अपनी समीक्षा

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १०१।

का मान दंड बनाया। इस प्रकार से उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों के उस अंश को त्याग दिया जो रूढ़िवादिता का सूचक करता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने दूसरा कार्य यह किया कि प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण को आधुनिक चिन्तन तथा पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों से युक्त करके समन्वित रूप में प्रस्तुत किया।

गुलाबराय —

डॉ० गुलाबराय का स्थान भी आधुनिक हिन्दी समीक्षा की शास्त्रीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत उल्लेखनीय है। उनकी कृतियों में 'नवरस' 'सिद्धान्त और अध्ययन' 'काव्य के रूप' 'हिन्दी काव्य विमर्श' तथा हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि उल्लेखनीय है। इनमें उन्होंने विविध काव्य तत्वों तथा रूपों का सैद्धान्तिक विश्लेषण उपस्थित किया है।

काव्य —

डॉ० गुलाबराय ने काव्य की पूर्णता के लिए पाठक को भी कवि के समान ही आवश्यक माना है। कवि कथन की सार्थकता पाठक द्वारा उसके आत्मात्मक साम्य में ही है। इस दृष्टिकोण से काव्य की परिभाषा करते हुए डॉ० गुलाबराय ने लिखा है कि "काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की, कल्पना के ढाँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेय रूपा अभिव्यक्ति है।"[१] उन्होंने काव्य और साहित्य के विषय में लिखा है कि 'अपने संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रयनपत्र कहते हैं, वहाँ साहित्य म काव्य ही अभिप्रेत होता है। यही हाल अंग्रेजी शब्द 'लिट्रेचर' का है। व्यापक अर्थ में जितना अक्षरों (लैटर्स) का आयोजन है, वह सब लिट्रेचर है। 'लिट्रेचर' शब्द लैटर्स से ही बना है। संकुचित अर्थ में लिट्रेचर काव्य का पर्याय है किन्तु व्यापक अर्थ में काव्य में गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं। कविता शब्द यद्यपि पद्यात्मक काव्य में रूढ़ हो गया है तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ में भी प्रयोग होने लगता है...... ...कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है। किन्तु काव्य शब्द पूरे भाव प्रधान गद्य पद्यात्मक साहित्य का बोधक होता है।"[२]

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन डॉ० गुलाबराय पृष्ठ ३४।

२. वही पृष्ठ ३३।

काव्य और कला :—

काव्य और कला के सम्बन्ध पर विचार करते हुए डॉ० गुलाबराय ने भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं का भी परीक्षण किया है। उन्होंने बताया है कि '— —काव्य की आत्मा स्वरूप रस ही कलाओं को अनुप्राणित करता है। चौंसठ कलाओं में समस्या पूर्ति के अतिरिक्त काव्य से सम्बद्ध और भी कलाएँ, जैसे प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी) नाटकों का अभिनय करना, नाटकों का देखना-दिखाना, कहानियों का कहना-सुनना, अभिधान कोष, छन्द का ज्ञान प्रहेलिका आदि सब साहित्यिक क्रियाएँ कलाओं में परिगणित हैं। काव्य का जितना मनोरंजक पक्ष है, वह सब कलाओं में आ जाता है। हमारे यहाँ यह पक्ष उपविद्या रूप से स्वीकृत हुआ है। जिस प्रकार विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष तत्सम्बन्धी कलाओं में पाया जाता है उसी प्रकार काव्य का व्यावहारिक एवं मनोरंजक पक्ष कलाओं में आ जाता है। पाश्चात्य देशों में काव्य का संपूर्ण पक्ष कला के अन्तर्गत है। भारतीय परम्परा में उसका व्यावहारिक अर्थात् शिल्प सम्बन्धी पक्ष कलाओं में आता है। उसमें जो काव्य के रूप आते हैं, वे दिल बहलाव और समय काटने के साधन से हैं। काव्य की नीची श्रेणियाँ कला में अवश्य आ जाती हैं, किन्तु ऊँची और नीची श्रेणियों का नितान्त पार्थक्य भी नहीं हो सकता।'[1]

काव्य और कल्पना —

कवि के कार्य में कल्पना के प्रयोग की अनिवार्यता और स्वाभाविकता बताते हुए डॉ० गुलाबराय ने लिखा है 'कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं। कल्पना का अंग्रेजी पर्याय 'इमैजिनेशन' है। यह शब्द 'इमेज' या मानसिक चित्र से बना है। संस्कृत में कल्पना शब्द 'क्लृप्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सृष्टि करना। स्वर्ग के कल्पवृक्ष की भाँति कल्पना भी मनचाही परिस्थिति उपस्थित कर देती है। कल्पना द्वारा उपस्थित किये हुए चित्र भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के हो सकते हैं।'[2]

रस —

अपने 'नवरस' नामक ग्रंथ में डॉ० गुलाबराय ने रस की व्याख्या के सम्बन्ध में

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन' डा० गुलाबराय, पृष्ठ ५९।
२ वही, पृष्ठ १०७।

प्राचीन मतों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य करुण रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स अद्भुत शान्त तथा वात्सल्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस दोष तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक शास्त्रीय समीक्षकों द्वारा रस पर लिखी गयी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

सीताराम चतुर्वेदी —

पं० सीताराम चतुर्वेदी कृत 'समीक्षा शास्त्र' नामक बृहत् ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों, प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा वादों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस श्रेणी का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी कहीं भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —

लक्ष्मीनारायण सुधांशु लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९१ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४४ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक ने संस्कृत साहित्य शास्त्र सहृदयानुभूति का तत्व' अभिव्यंजना और कला' रसानुभूति अलंकार और प्रभाव प्रतीक और उपमान अमूर्त का मूर्त विधान तथा विशिष्ट अभिव्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रकृति आत्मभाव और काव्य विधान मन का योग और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति लय और छन्द, काव्य गीत का मर्म कला गीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्दर्शन आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजनावाद में वाच्यार्थ में काव्यत्व शीर्षक निबन्ध में सुधांशु जी ने लिखा है कि "काव्य का सौन्दर्य लक्षणा से अवश्य उठता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा बुद्धि को अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा की

माध्यार्थ के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य भले अवश्य होता है पर उसमें वह नहीं हो जाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।"[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी :—

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ शास्त्रीय समीक्षकों में शीर्षस्थ हैं। संस्कृत साहित्य के गहन परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का चिन्तन भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रसाद के रूप में यह पांडित्य प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार की रूढ़िवादिता नहीं दिखाई देती है। चूंकि द्विवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंगला साहित्य के गहन अध्ययन के साथ इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त विचारात्मक रचनाएं भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३४), सूर और उनका काव्य' (१९४४) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), कबीर' (१९४१) 'मध्यदेश में हिन्दी कविता' (१९५१), 'विचार और वितर्क' (१९४५), 'अशोक के फूल' (१९४८), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' 'कल्पलता' (१९५०), 'साहित्य का मर्म' (१९५०), साहित्य का साथी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९५२), 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९५२), 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (१९५२) 'मध्यकालीन धर्म साधना' (१९५२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसा कि उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है वे रचनाएं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें चिन्तन स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४६) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' है।

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृष्ठ १४२।

प्राचीन मतों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स अद्भुत शान्त तथा वात्सल्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस दोष तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक शास्त्रीय समीक्षकों द्वारा रस पर लिखी गयी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

सीताराम चतुर्वेदी :—

पं सीताराम चतुर्वेदी कृत 'समीक्षा शास्त्र' नामक बृहद् ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा वादों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस श्रेणी का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी कहीं भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —

लक्ष्मीनारायण सुधांशु लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९१ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक ने 'संस्कृत साहित्य शास्त्र सहजानुभूति का तत्व' अभिव्यंजना और कला' रसानुभूति अलंकार और प्रभाव प्रतीक और उपमान, अमूर्त का मूर्त विधान तथा विशिष्ट अभिव्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रवृत्ति आत्मभाव और काव्य विधान, मन का बोध और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति लय और छन्द, काव्य गीत का मर्म कला पीठ की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्दर्शन आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजनावाद में वाच्यार्थ में चमत्कार शीर्षक निबन्ध में सुधांशु जी ने लिखा है कि 'काव्य का सौन्दर्य लक्षणा से अवश्य उभरता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहृत तथा बुद्धि को अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा की

साम्यार्थ के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य बहुत सम्भव होता है पर उसमें वह नहीं हो पाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।"[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी —

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ शास्त्रीय समीक्षकों में अग्रगण्य हैं। संस्कृत साहित्य के गहन परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का चिन्तन भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रभाव के रूप में यह पांडित्य प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार की रूढ़िवादिता नहीं दिखाई देती है। चूँकि द्विवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंगला साहित्य के गहन अध्ययन के साथ इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त विचारात्मक रचनाएँ भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३६), 'सूर और उनका काव्य' (१९३८) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४२), 'लालदर्शन में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और वितर्क' (१९४५), 'अशोक के फूल' (१९४८), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'कल्पलता' (१९५०), 'साहित्य का मर्म' (१९५०), 'साहित्य का साथी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९५२), 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९५१), 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०) 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (१९५२) 'मध्यकालीन धर्म साधना' (१९५२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसा कि उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है ये रचनाएँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें चिन्तन स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४६) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' है।

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृष्ठ १४९।

प्राचीन मतों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य करुण रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स अद्भुत शान्त तथा वात्सल्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस दोष तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक शास्त्रीय समीक्षकों द्वारा रस पर लिखी गयी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

सीताराम चतुर्वेदी :—

पं० सीताराम चतुर्वेदी कृत 'समीक्षा शास्त्र' नामक बृहद् ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है, जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा वादों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस श्रेणी का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी कहीं भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —

लक्ष्मीनारायण सुधांशु लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४८ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक ने संस्कृत साहित्य शास्त्र सहृदयानुभूति का तत्व' अभिव्यंजना और कला' रसानुभूति अलंकार और प्रभाव प्रतीक और उपमान अमूर्त का मूर्त विधान तथा विशिष्ट अभिव्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रवृत्ति आत्मभाव और काव्य विधान, मन का ओज और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति लय और छन्द, ग्राम्य गीत का मर्म कला गीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्दर्शन आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजनावाद में वाच्यार्थ में काव्यत्व शीर्षक निबन्ध में सुधांशु जी ने लिखा है कि 'काव्य का सौन्दर्य लक्षणा से अवश्य बढ़ता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा बुद्धि को अग्राह्य हुआ करता है पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा को

वाच्यार्थ के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य पूरा अवश्य होता है पर उसमें वह नहीं हो जाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी :—

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ शास्त्रीय समीक्षकों में शीर्षस्थ हैं। संस्कृत साहित्य के गहन परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का चिन्तन भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रसाद के रूप में यह पांडित्य प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार की रूढ़िवादिता नहीं दिखाई देती है। चूंकि द्विवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंगला साहित्य के गहन अध्ययन के साथ इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त क्रियात्मक रचनाएं भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३६), 'सूर और उनका काव्य' (१९४४) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४१), 'नवदर्शन में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और वितर्क' (१९४५), 'अशोक के फूल' (१९४८), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'कल्पलता' (१९५०), 'साहित्य का मर्म' (१९५०), साहित्य का साथी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९५२) 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९५२), 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (१९५२) 'मध्यकालीन धर्म साधना' (१९५२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसा कि उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है ये रचनाएँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें चिन्तन स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४६) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' है।

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृष्ठ १४२।

प्राचीन मतों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स अद्भुत शान्त तथा वात्सल्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस दोष तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक शास्त्रीय समीक्षकों द्वारा रस पर लिखी गयी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

सीताराम चतुर्वेदी —

पं० सीताराम चतुर्वेदी कृत 'समीक्षा शास्त्र' नामक बृहद् ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा वादों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस कोटि का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी कहीं भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —

लक्ष्मीनारायण सुधांशु लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक ने संस्कृत साहित्य शास्त्र सहृदयानुभूति का तत्व' अभिव्यंजना और कला' रसानुभूति अलंकार और प्रभाव प्रतीक और उपमान अमूर्त का मूर्त विधान तथा विशिष्ट अभिव्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रवृत्ति आत्मभाव और काव्य विधान मन का बोध और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति लय और छन्द, काव्य गीत का मर्म, कला गीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्दर्शन आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजनावाद में वाच्यार्थ में काव्यत्व शीर्षक निबन्ध में सुधांशु जी ने लिखा है कि 'काव्य का सौन्दर्य लक्षणा [illegible] अवश्य पड़ता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा बुद्धि को अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा के

माध्यार्य के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य भले अवश्य होता है पर उसमें वह नहीं हो पाता । आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है ।"[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी —

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ शास्त्रीय समीक्षकों में शीर्षस्थ हैं। संस्कृत साहित्य के गहन परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का चिन्तन भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रसाद के रूप में यह पांडित्य प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार की रूढ़िवादिता नहीं दिखाई देती है। चूंकि द्विवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंगला साहित्य के गहन अध्ययन के साथ इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त क्रियात्मक रचनाएँ भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३६), 'सूर और उनका काव्य' (१९४४), 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४१), 'मध्यदेश में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और वितर्क' (१९४५), 'अशोक के फूल' (१९४८), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' 'कल्पलता' (१९५०), 'साहित्य का मर्म' (१९५०), 'साहित्य का साथी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९५२), 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९५२) 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (१९५२) 'मध्यकालीन धर्म साधना' (१९५२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसा कि उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है वे रचनाएँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से समन्वित हैं। इनमें से कु छ पुस्तकें चिन्तन स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४६) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' है।

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृष्ठ १४२ ।

इस प्रकार से द्विवेदी जी का समीक्षा क्षेत्र और वैचारिक परिधि बहुत विस्तृत है। आधुनिक युग के अन्य समीक्षकों में बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार से समीक्षा क्षेत्र में और क्रियात्मक रचना के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया हो। द्विवेदी जी का युग वह युग है जब हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक क्रियाशीलता लक्षित हो रही थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल समीक्षा के क्षेत्र में उच्च स्तरीय आदर्श प्रस्तुत कर चुके थे। कविता के क्षेत्र में छायावाद अपने विकास के उच्चतम बिन्दु पर था और उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द बहुत प्रसिद्ध थे। प्रगतिवादी विचारधारा का आरम्भ हो रहा था और प्रगतिशील लेखक छायावादी कविता का विरोध करते हुए प्रगतिशीलता के तत्वों के साहित्य में समावेश पर बल दे रहे थे। द्विवेदी जी की प्रारम्भिक समीक्षा कृतियाँ जब प्रकाशित हुईं तब हिन्दी साहित्य में उपर्युक्त स्थिति ही थी। द्विवेदी जी की प्रारम्भिक रचनाओं की ओर स्वभावतः लोगों का ध्यान गया क्योंकि वैचारिक वाद विवाद से परे उन्होंने स्वस्थ और गम्भीर साहित्य चिन्तन की परम्परा का आरम्भ किया था।

द्विवेदी जी मुख्यतः शास्त्रीय समीक्षक हैं। उनकी प्रारम्भिक समीक्षा कृतियाँ एक प्रकार की शोध रचनाएँ कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें उन्होंने जिस समीक्षा पद्धति का प्रयोग किया है वह गवेषणात्मक है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि 'सूर साहित्य' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' मध्यकालीन धर्म साधना' आदि पुस्तकों में द्विवेदी जी की गवेषणात्मक शैली बहुत सहज रूप में मिलती है। शोध के आवश्यक तत्वों का उनके इन कृतियों में सफलतापूर्वक समावेश हुआ है। यह कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदी जी की समीक्षा में गवेषणा वृत्ति सहज रूप से विद्यमान है, इसलिए कभी-कभी ऐसा आभासित होता है कि उसमें शोध और समीक्षा का मिश्रित रूप विद्यमान है। द्विवेदी जी की कुछ पुस्तकें उनके वैचारिक और वैयक्तिक कोटि के निबन्धों का संग्रह हैं। इन संग्रहों का स्वतंत्र महत्व तो है ही परन्तु इसके अतिरिक्त एक और दृष्टि से इनका महत्व है। और वह यह कि इन निबन्धों से द्विवेदी जी के साहित्य और समीक्षा विषयक दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है। द्विवेदी जी ने साहित्य के सन्दर्भ में विचार करते हुए प्रासंगिक रूप में जो वक्तव्य दिये हैं वे उनके दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण में सहायक हैं। उनसे पता चलता है कि द्विवेदी जी मानवतावादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनकी प्रायः सभी समीक्षा कृतियों में इसी कारण से मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता दिखाई देती है।

द्विवेदी जी की कुछ पुस्तकें विषय की दृष्टि से सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार की पुस्तकों में उन्होंने साहित्यशास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन किया है। इस प्रकार की कृतियों में साहित्यशास्त्र के प्राचीन सिद्धान्तों को सरल और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है यद्यपि इस प्रकार की पुस्तकों में मौलिक विचारों और नवीन सिद्धान्तों का अभाव नहीं है परन्तु ये पुस्तकें हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही अधिक उपयोगी हैं। 'साहित्य का साथी' जैसी पुस्तकों की गणना उसी कोटि में की जाएगी। वास्तव में इस प्रकार की पुस्तकों का महत्व शास्त्रीय दृष्टि से कम और विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से अधिक होता है। सामयिक चिन्तन और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की समकालीन समस्याओं की दृष्टि से द्विवेदी जी की 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक कृति उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा के वर्तमान स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भिन्न-भिन्न समस्याओं पर चिन्तन किया है और उन पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यही नहीं साहित्यकार के दायित्व और क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले कुछ निबंध भी इस पुस्तक में दिये गये हैं। उन्हें देखने से यह पता चलता है कि द्विवेदी जी एक साहित्यकार के कार्य को कितना गम्भीर और कितना उत्तरदायित्वपूर्ण समझते हैं।

जहाँ तक वैयक्तिक तथा अन्य प्रकार के निबन्धों का सम्बन्ध है 'अशोक के फूल' तथा 'विचार और वितर्क' आदि कृतियाँ द्विवेदी जी की निबन्ध शैली का समग्रता से परिचय देने में समर्थ हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है द्विवेदी जी के विविध विषयों पर लिखे गये निबन्धों से उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। उन्होंने किसी भी विषय पर लिखते समय साहित्यकार के दायित्व पर सदैव दृष्टि रखी है। मानव कल्याण की भावना उनसे व्यंजित होती है। इसीलिये द्विवेदी जी का यह विचार है कि साहित्य का विकास मानव समाज का विकास है। इसलिये उसका प्रमुख दायित्व भी मानव समाज में मनुष्य के प्रति ही है और इस दायित्व का निर्वाह साहित्यकार का प्राथमिक कर्तव्य है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र :

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र शास्त्रीय समीक्षकों की परम्परा में आते हैं। उनकी समीक्षा शैली पर पूर्ववर्ती समीक्षकों का विशेष रूप से लाला भगवानदीन तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मिश्र जी की कृतियों में अनेक

ऐसी हैं जो प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने विस्तृत भूमिकाएँ लिख कर उन्हें प्रकाशित किया है। 'भूषण ग्रन्थावली' 'कवितावली' 'सुदामा चरित्र' और 'हमीर हठ' आदि पुस्तकें इसी प्रकार की हैं। जहाँ तक स्वतन्त्र समीक्षात्मक कृतियों का सम्बन्ध है 'बिहारी की वाग्विभूति' 'वाङ्मय विमर्श', सम्वत् १९९९, 'बिहारी' सं० २००७, 'समसामयिक साहित्य' सं० २००८, 'भूषण' आदि हैं। इन ग्रन्थों में मिश्र जी ने शास्त्रीय दृष्टिकोण से समीक्षा विषयों और कवियों की आलोचना की है। इनमें से बहुत सी पुस्तकें विश्वविद्यालय की कक्षाओं के साहित्यिक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भी लिखी गयी हैं। इस प्रकार की कृतियों में '[illegible] दीपिका' और 'हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक सम्पादित ग्रन्थों में दी गयी भूमिकाओं का सम्बन्ध है, उनमें उच्चकोटि की गवेषणात्मक वृत्ति का परिचय मिलता है। कुछ भूमिकाओं में हस्तलिखित खोज तत्व हिन्दी खोज के लिए दिशा निर्दिष्ट करने वाले सूत्र सिद्ध हुए।

सम्भावनायें —

उपर्युक्त समीक्षकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान भी शास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं परन्तु अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों के क्षेत्र में महत्तर उपलब्धियों के कारण उन्हीं के सन्दर्भ में उनकी चर्चा की जायगी। यहाँ इस प्रवृत्ति की भावी सम्भावनाओं के सम्बन्ध में यह संकेत करना अनुचित न होगा कि वर्तमान काल में इसके अन्तर्गत न केवल शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का ही कार्य हो रहा है, वरन् इसके साथ ही साथ भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रीय प्रवृत्तियों सिद्धान्तों का भी विविध रूपों में संयोजन हो रहा है, जो इस प्रवृत्ति की व्यापकता और प्रसार का सूचक है।

छायावादी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत जिन विशिष्ट प्रवृत्तियों का प्रचलन हुआ उनमें से छायावादी भी एक है। आधुनिक कविता के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी

के प्रथम अनुर्पात म "छायावाद" के नाम से एक नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इसके अन्तर्गत कतिपय नवीन शैलियों में लिखी गयी कविता की रचना की जाती थी। यह काव्य कलीय आन्दोलन द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्तियों क विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में जन्म था। आरम्भ में इसका रूप बहुत विवादास्पद रहा तथा इसके स्वरूप का निश्चित रूप स निर्धारण नहीं हो पाया परन्तु धीरे धीरे यह सुनियोजित हुआ और उसन वैचारिक मान्यता प्राप्त की। इस समय तक कतिपय पाश्चात्य काव्य शैलियों का भी इस पर प्रभाव पड़ा और उसने भी इसके स्वरूप निर्धारण म योग दिया था। छायावादी आन्दोलन के प्रेरक और अनुगमन कर्ता कुछ प्रमुख कवियों तथा विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गई वैचारिक समीक्षा रचनाएँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखी जाती हैं। यहाँ पर प्रमुख छायावादी विचारकों की समीक्षा प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जयशंकर 'प्रसाद' —

प्रसाद का स्थान हिन्दी कविता के क्षेत्र में आधुनिक छायावादी आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप म मान्य है। उनकी समीक्षा के स्वरूप की परिचायक उनकी "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" नामक कृति है जिसमें उनके वैचारिक निबन्ध संग्रहीत हैं। इन निबन्धों में प्रसाद जी न काव्य और कला रहस्यवाद रस नाटकों में रस का प्रयोग नाटकों का आरम्भ रंगमंच, आरम्भिक पाठ्य काव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद आदि विषयों पर विचार किया है।

काव्य और कला —

प्रसाद ने काव्य को संगीत कला की भाँति ही अमूर्त कला के अन्तर्गत माना है व दोनों कलाएं भावात्मक हैं और परस्पर साम्य रखती हैं परन्तु इन दोनों काव्य कला का आपेक्षिक महत्व अधिक है उन्होंने लिखा है कि "काव्य कला को अमूर्त मानने म जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्व उसकी परम्परा के कारण है। यों तो साहित्य कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त भी मानी जा सकती है, क्योंकि साहित्य कलाओं अपनी वार्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्तिमती है। वर्णमालाओं की विशद् कल्पना तन्त्र शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गयी है। "अ" से आरम्भ होकर 'ह' तक क ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुमूर्तियाँ हैं, जितन ज्ञान हैं, अहं क आत्मा के हैं। ये सब वर्णमाला के भीतर स ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के

सम्बन्ध में अनेक प्राचीन वेदों की आरम्भिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि यह वास्तव में चित्र लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङ्मय भिन्न भिन्न वर्ग की वस्तुएं हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त और अमूर्त के भेद से साहित्य कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।[1] प्रसाद जी ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूतिमाना है। और उसी की व्यापकता मान्य की है।

रस —

रस तत्व को 'प्रसाद" जी ने काव्य का आभ्यन्तरिक तत्व माना है। ऐतिहासिक दृष्टि कोण से उन्होंने रस के स्वरूप विषयक विविध मन्तव्यों का विचार कर लेते हुए उसका विवेचन किया है। नाटकों में रस के प्रयोग पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टि कोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम सा ही मानता आया। भारतीय रसवाद में मिलन सुख की सृष्टि मुख्य है। इस में लोक मंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अभेद सहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है।—""

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला" —

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की गणना हिन्दी के प्रमुख आधुनिक कवियों और विचारकों में की जाती है। आधुनिक हिन्दी कविता की छायावाद प्रवृत्ति के चार प्रमुख स्तम्भो से उन्हें एक माना जाता है। यों वह आधुनिक हिन्दी कविता प्रवर्तक कवियों मे भी है। आधुनिक हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बीज उनकी उस कविता में विद्यमान है जो सन् १९२५ और

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' श्री जयशंकर'प्रसाद' पृ० ३२-३३

१९१० के बीच लिखी गयी थी। "निराला" की कविता से हिन्दी की इन नयी कविता धाराओं ने मार्ग ग्रहण किये। "निराला" को आधुनिक हिन्दी कवियों में भाषा भाव छन्द अभिव्यंजना और प्रतीकों में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय है। साथ ही अब यह भी स्वीकार किया जाता है कि निराला के प्रयोग मुक्त छन्दों के क्षेत्र में "नयी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखते हैं। इस मान्यता का आधार 'निराला का मुक्त छन्द का बहुत सफल कवि होना है। उनकी कविताओं में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो छन्द की नवीनता की दृष्टि से विशिष्ट हैं। निराला की तथा कथित छायावादी अथवा रहस्यवादी कविताएं कोमल और मधुर भावनाओं की प्रधानता लिये होने के साथ ही साथ आध्यात्म के प्रभाव से भी रहित नहीं हैं। "निराला' की आस्था भावना उनकी 'परिमल' 'अनामिका' तथा 'तुलसीदास' आदि कृतियों में मिलती है। यों नये प्रयोगों की दृष्टि से उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'अर्चना हैं जिसके गीत भाव, छन्द और ध्वनि के क्षेत्रों मे प्रयोग की दृष्टि से पर्याप्त सफल हैं। ध्वन्य भी उनकी इस रचना का विशिष्ट गुण है। 'अर्चना' निराला के काव्य में एक नयी कड़ी का सृजन करती है। इसके बहुत से गीत नव गीतों के अन्तर्गत भी रखे जा सकते हैं। परन्तु इसमें कुछ गीत ऐसे भी हैं जो कवि के निराशावादी दृष्टि कोण के परिचायक हैं।

'निराला' के काव्य विकास के उत्तर काल में यथार्थवादिता का उन पर विशेष प्रभाव प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण से उनकी 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक रचना विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसका प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ था। 'निराला' की इस काल की रचनाओं में यथार्थ का नग्न रूप सामने आता है। उनकी ये रचनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि वह छायावाद युग की विद्रोह भावना ही थी। जो पुरानी परम्पराओं की सीमाएं तोड़कर नये रूपों को ग्रहण करना चाहती थी। लेकिन 'निराला' की ये रचनाएं यथार्थ पर व्यंग्य के रूप में लिखी गयी थीं उनसे समझौता न कर सकी थी। इस काल में लिखी गयी 'निराला' की रचनाएं मानवतावाद के भी कुछ तत्व लिये हुए हैं। उनकी अनेक कविताओं में मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। परन्तु 'निराला' के परवर्ती कवि उनकी कविता के जिस गुण से विशेष रूप से

१ 'आधुनिक साहित्य' प्रतापनारायण टंडन पृ० ११७।

प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त 'निराला' में 'निराला' में एक समीक्षात्मक जागरूकता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिभा' तथा 'चाबुक' आदि कृतियों में उन्होंने अपने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनात्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिभा शीर्षक निबन्ध संग्रह में "निराला" ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण शब्द छन्द अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है पूरे अंगों की तरह शाल की सुन्दरी की आखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता पीनता में तरंग सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न भिन्न वर्णों की बनी वाणी मे घुल कर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न अंकुर से न डाल से न पौधे से, जड़ से लेकर, तना डाल पल्लव और फूल के रंग रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण और जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य कला आवश्यक अशोभन पण सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर ढाके रहती है। तने डाल, पत्ते और फूल के रूपों के भेद और उनके चढ़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन धारा है इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूल रूप में समझ में आ जाता है। एक केन्द्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य विषय की असंख्य कलाएं हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है।"[1] इसी प्रकार से काव्य को जनता को प्रभावित करनेवाली एक शक्ति के रूप मे उन्होंने मान्यता दी है। उनके विचार से 'कवियों के हृदय निर्गत कविता रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है प्रतिकूल विचारो का बल घटा देती है। जनता

१ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ० २१२।

प्राय: वही सम्मति सब मानते हैं जो कवि से प्राप्त होती है।[1] निराला ने काव्य में उपदेशात्मकता का विरोध करते हुए उपदेश को कवि की कमजोरी बताया है।[2]

काव्य और छन्द :—

ऊपर कहा जा चुका है कि 'निराला' को सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में छन्दों के नये प्रयोग करने का श्रेय है। उन्होंने मुक्त छन्द के विषय में विचार करते हुए लिखा है 'हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये एक वर्ण वृत्त में। 'जुही की कली' की वर्ण वृत्त वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खंड में इस तरह की रचनाएं हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूं। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएं हैं परिमल के दूसरे खंड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। मात्रा स्वाभाविक होने के कारण ये गाई जा सकती हैं। पर संगीत अंग्रेजी ढंग का है। इस गीत को मैं 'मुक्त गीत' कहता हूं।[3] काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की आवश्यकता के विषय में उनका विचार है कि भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होता है हिन्दी में समझदार होंगे तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होंगे। मैं फिर दो बार जानकार हैं। प्रमाण मैं इतने दे चुका हूँ इतना बार कह चुका हूं कि और आवश्यकता उनकी साहित्यिकता पर ही शंका होगी। मैंने पढ़ने और गाने दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्ण वृत्त में है दूसरा मात्रावृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द आ नहीं सकता।[4] यही नहीं 'निराला' जी ने काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की स्वाभाविकता भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है 'अब मैं अपने काव्य के वर्णाधार लिखता हूं। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूं कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप सौन्दर्य पर ध्यान

१ 'माधुरी', अगस्त १९२१, पृ० ४९।
२ 'प्रबन्ध प्रतिमा', श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २८४।
३ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २ ९।
४ वही, पृ० २७०।

प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिमा के अतिरिक्त 'निराला' में 'निराला' में एक समीक्षात्मक जागरूकता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिभा' तथा 'चाबुक' आदि कृतियों में उन्होंने अपने सद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनात्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिमा शीर्षक निबन्ध संग्रह मे निराला' ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण शब्द छन्द, अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है पूरे अंगो की तरह खास की सुन्दरी की आंखों की पहचान की तरह वह की क्षीणता पीनता मे तरंग सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न भिन्न वर्णों की अनी वाणी मे फूल कर क्रमश: मन्द मधुरतर होकर क्षीण होती हुई जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से न डाल से न पौधे से जड़ से लेकर, तना डाल पल्लव और फूल के रग रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण, और जिस तरह फूलो की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाव को ढके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य कला आवश्यक असोभन वध सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है। तने डाल पत्ते और फूल के रंगों के भेद और उनके चढ़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन धारा है इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूल रूप में समझ में आ जाता है। एक केन्द्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य विषय की असंख्य कलाएं हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है।'[1] इसी प्रकार स काव्य को जनता को प्रभावित करनेवाली एक शक्ति के रूप मे उन्होंने मान्यता दी है। उनके विचार से कवियों के हृदय निर्गत कविता रूपी उद्‌गार मे इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खीच लेता है। कवि की सुनाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता

1 'प्रबन्ध प्रतिमा', श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ २१२।

प्रायः वही सम्मति सब मानती है जो कवि से प्राप्त होती है।[1] निराला ने काव्य में उपदेशात्मकता का विरोध करते हुए उपदेश को कवि की कमजोरी बताया है।[2]

काव्य और छन्द —

ऊपर कहा जा चुका है कि 'निराला' को सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में छन्दों के नव प्रयोग करने का श्रेय है। उन्होंने मुक्त छन्द के विषय में विचार करते हुए लिखा है "हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये एक वर्ण वृत्त में। 'जुही की कली' की वर्ण वृत्त वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खंड में इस तरह की रचनाएं हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूं। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएं हैं परिमल के दूसरे खंड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं पर अन्त्यानुप्रास है। मात्रा स्वाभाविक होने के कारण ये गाई जा सकती हैं। पर संगीत अपनी ढंग का है। इस गीत को मैं 'मुक्त गीत' कहता हूं।"[3] काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की आवश्यकता के विषय में उनका विचार है कि — "भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा भाव और छन्द तीनों स्वतंत्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होगा है हिन्दी के समझदार होंगे तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होंगे। न देकर दो चार जानकार हैं। प्रमाण में इतने दे चुका हूँ इतनी बार कह चुका हूं कि और आवश्यकता उनकी साहित्यिकता पर ही शंका होगी। मैंने पढ़ने और गाने दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्ण वृत्त में है, दूसरा मात्रावृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द आ नहीं सकता।"[4] यही नहीं 'निराला' जी ने काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की स्वाभाविकता भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है 'अब मैं अपने काव्य के वर्णाधार लिखता हूं। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूं कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप सौन्दर्य पर ध्यान

१ 'माधुरी', अगस्त १९२३, पृ० ४९।
२ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २८४।
३ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २९९।
४ वही पृ० २७०।

प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त 'निराला' में निराला' में एक समीक्षात्मक जागरूकता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिमा' तथा चाबुक' आदि कृतियों में उन्होंने अपने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना त्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिभा शीर्षक निबन्ध संग्रह में 'निराला' ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण शब्द छन्द, अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है पूरे अंगों की तरह साज की सुन्दरी की आखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता पीनता मे तरंग सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न भिन्न वर्णों की बनी साड़ी म झूल कर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर क्षीण होती हुई जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न अंकुर से न डाल से, न पौधे से जड़ से लेकर, तना डाल पल्लव और फूल के रंग रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण और जिस तरह फूलो की सुगन्ध पेड़ क वृक्ष समस्त भाग का ढके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ निष्ठुरता छिपती हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य कला आवश्यक अशोभन वस्तु सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है। तने डाल पत्ते और फूल के रंगों के भेद और उनके चढ़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन धारा है, इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूल रूप में समझ में आ जाता है। एक केन्द्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य विषय की असंख्य कलाएं हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है।'[१] इसी प्रकार से काव्य को जनता को प्रभावित करनेवाली एक शक्ति के रूप मे उन्होंने मान्यता दी है। उनके विचार से 'कवियों के हृदय निर्झर कविता रूपी उद्गार मे इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त मे पैठ या बैठ जाती है प्रतिकूल विचारो का बल घटा देती है। जनता

१ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २१२।

का स्पन्दन भरने के लिए उसमें प्राणों की मधुर उष्णता तथा जीवन के रूपरंग संवारने के लिए आनन्द का स्पर्श तथा सौन्दर्य का परिधान अनिवार्य है।"[1]

भाषा :—

आधुनिक युग के अनेक साहित्य चिन्तकों की भाँति पन्त जी ने भी काव्य की भाषा के स्वरूप पर विविध दृष्टियों से विचार किया है। उन्होंने ब्रजभाषा काव्य की उपलब्धियों की तुलना में खड़ी बोली को हीन स्थिति में बताया है। परन्तु उनका निश्चित विश्वास है कि जिस गति से उसकी उन्नति हो रही है वह असन्तोषप्रद नहीं है। गत तीन दशाब्दियों में इसके स्वरूप का जो बहुक्षेत्रीय विकास है और उसकी विविधरूपी सम्भावनाएँ सामने आयी हैं, वे भी आशाजनक हैं। उन्होंने लिखा है "खड़ी बोली भारत की स्वर्णाशा है, उसकी बाल कला में भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। यह हमारे भविष्याकाश की स्वर्णप्रभा है जिसके अस्पष्ट ज्योतिपुंज में, न जाने कितने भास्वरमान सूर्य शशि असंख्य ग्रह उपग्रह अनन्त नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य लोक अन्तर्हित हैं। यह समस्त भारत का हृत्कम्पन है देश की शिरोधमनियों में नव जीवन संचारिणी संजीवनी है यह हमारे भगीरथ प्रयत्नों से अर्जित भारत के भाग्य विधाता की वरदान स्वरूप विश्व कवि के हृत्तंत्री से निःसृत अमृत स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कर्णकुहरों में प्रवेश कर उसे जगा दिया जिसकी विशाल धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्णमान आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये धर्म और ज्ञान की निर्मल पालों को फहराता हुआ अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिक कला चरित्रोज्ज्वल कथा तथा नीति शासन की विपुल रत्नराशियों से सुसज्जित नाना बन्धनों की तरंगों को काटता हिमविहंगम की तरह क्षिप्रवेग से बढ़ता हुआ संसार के विशाल सागर संगम की ओर अग्रसर हो रहा है।"[2] इस प्रकार उसकी सम्भावनाओं के प्रति आस्थावत्ता प्रकट करते हुए पन्त जी ने भाषा को भावात्मक चित्र और ध्वनिमय स्वरूप मानते हुए उसकी परिवर्तनशीलता भी स्वीकार की है।

छायावाद —

पन्त जी ने छायावाद के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके असामयिक अन्त

१ "शिल्प और दर्शन" श्री सुमित्रानन्दन पन्त पृ० २४० ।
२ " वही पृ० १० ।

रखा है बल्कि कहना चाहिए ऐसा स्वभावत हुआ नहीं तो मुक्त छन्द न लिखा जा सकता वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती ।"[1]

सुमित्रानन्दन पन्त —

छायावादी समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत पन्तजी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उन्होंने अपनी 'वीणा' 'पल्लव' 'ग्रन्थि' 'गुंजन' 'युगान्त' 'युगवाणी', 'ग्राम्या' 'स्वर्ण' 'स्वर्ण' 'स्वर्णधूलि' 'मधुज्वाल' 'उत्तरा' 'युगपथ' 'पल्लविनी' 'आधुनिक कवि पन्त तथा अतिमा' आदि काव्य कृतियों में से अनेक में भूमिका आदि के रूप में अपनी वैचारिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया है । पन्त के काव्य विकास के साथ ही साथ उनकी चिन्तन धारा में भी प्रगति होती रही है तथा उनकी जीवन दृष्टि युग दर्शन के अनुसार परिवर्तित होती रही है ।

काव्य —

पन्त ने अपने काव्य "रश्मिबन्ध' की भूमिका में लिखा है कि एक कवि या लेखक अपने युग से तो प्रभावित होता ही है, साथ ही वह अपने युग को भी प्रभावित करता है । उनके विचार से काव्य या साहित्य मानव चेतना का वाहक होता है । उन्होंने एक स्थल पर कहा है "मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओतप्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव चेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को बाहर भीतर से संस्कृत सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों ।"[2] इसी प्रकार से काव्य के स्वरूप के विषय में उनका विचार है कि "यदि हम काव्य अथवा कला की संक्षिप्त परिभाषा बताना चाहें तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि काव्य सत्यं शिवं सुन्दरम् की अभिव्यक्ति है । काव्य का सत्य सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है । दूसरे शब्दों में कविता की आत्मा सौन्दर्य के पंखों में उड़कर ही सत्य के असीम छोर छूती है । सौन्दर्य विहीन सत्य शुष्क दर्शन हो सकता है तथा आनन्दहीन शिवं नैतिक साधना अथवा आचार मात्र हो सकता है, पर काव्य नहीं । सत्य के अस्थिपंजर में हृदय

१ 'प्रबन्ध प्रतिमा' पृ० २७६ ।
२ "रश्मिबन्ध" श्री सुमित्रानन्दन पन्त भूमिका, पृ ८ ।
३ 'युगपथ" श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २०४ ।

शून्यता उत्पन्न करता है।" आधुनिक युग में साहित्यकार के दायित्वों के सम्बन्ध में भी अनेक दृष्टियों से मत प्रकट किये गये हैं। राज्याश्रय तथा आजीविका के हेतु साहित्य सृजन आदि पर भी गम्भीर विचार विनिमय हुआ है। परन्तु महादेवी ने इस प्रकार के दृष्टिकोण से साहित्य या काव्य की सृजन वृत्ति को त्याज्य घोषित किया है। उनका विचार है कि "यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जावे तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्ति क्षितिज मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।

आधुनिक युग के अनेक आलोचकों ने महादेवी की कविता पर दुरूह बौद्धिकता के समावेश का दोष लगाया है। इस सम्बन्ध में महादेवी ने लिखा है "काव्य न बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार पद्धति। वह तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। इसी प्रकार से युग जीवन के साथ परिवर्तित होते हुए यथार्थ के रूपों को परम्परागत दृष्टि से समन्वय का अनुमोदन करते हुए महादेवी ने लिखा है कि यदि हम पहले मिली सौन्दर्य दृष्टि और आज की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें जिसमें सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें। और जिसकी सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण प्रतिष्ठा कर सकें। तो जीवन का सामंजस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे।"

छायावाद –

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक हिन्दी कविता में छायावादी आन्दोलन के सब से अन्यतम कवयित्री के रूप में विख्यात हैं। आधुनिक युग के अनेक विचारकों की भाँति उन्होंने भी छायावादी आन्दोलन को प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने अपने आधुनिक कवि भाग १" संग्रह में लिखा है "छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका, परन्तु उसकी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।"२ छायावादी कविता के दृष्टिकोण को

१ 'सचवा' श्रीमती महादेवी वर्मा पृ० ११९।
२ वही पृ० ११५।

के कारणों पर विचार किया है। उनकी धारणा है कि "छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्य बोध को आशा आकांक्षाओं का वैभव जो सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूंजीवाद युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क में नहीं आ सकी थी।"[१] उनके विचार में छायावाद के अन्त का एक कारण यह भी था कि "उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"[२] साथ ही उनका विचार है कि छायावादी कविता में आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति का भी अभाव था। इसमें बौद्धिकता का प्रभाव और समावेश ही अधिक रहा। यदि वह युग जीवन की कठोर वास्तविकताओं से विमुख न होता तो दीर्घजीवी हो सकता था। पन्त जी के इन विचारों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि उनमें छाया-वाद के यथार्थ स्वरूप के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। छायावाद के पोषक की इच्छा से अन्य साहित्यकारों ने जो संकुचित वैचारिकता का परिचय इस प्रकार के वक्तव्यों में दिया पन्त जी की धारणा में उसका अभाव है और इसलिए वह उसके वास्तविक महत्व को सीमित करने में असमर्थ हैं।

महादेवी वर्मा :—

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भों में श्रीमती महादेवी वर्मा की गणना भी उनकी वैचारिक उपलब्धियों के महत्व के कारण की जाती है। महादेवी जी ने "आधुनिक कवि भाग १" "सान्ध्य गीत" "पथ के साथी" "अतीत के चलचित्र" "स्मृति की रेखाएँ", "दीपशिखा" तथा "यामा" आदि कृतियों में जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे युग जीवन तथा साहित्य आदि के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। यहाँ पर उनके कुछ विचारों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

काव्य —

महादेवी ने साहित्य अथवा काव्य का उद्देश्य "समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव स्वभाव में उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनु

१ "आधुनिक" श्री सुमित्रानन्दन पन्त पृ० ४४ ४५।
२ "रश्मिबन्ध", भूमिका पृ० ११।

रूक्षता उत्पन्न करता है।" आधुनिक युग में साहित्यकार के दायित्वों के सम्बन्ध म भी अनेक दृष्टियों से मत प्रकट किये गये हैं। राज्याश्रय तथा आजीविका के हेतु साहित्य सृजन आदि पर भी गम्भीर विचार विनिमय हुआ है। परन्तु महादेवी ने इस प्रकार के दृष्टिकोण से साहित्य या काव्य की सृजन वृत्ति को त्याज्य घोषित किया है। उनका विचार है कि "यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि स स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जावे तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्ति निश्चित मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।

आधुनिक युग के अनेक आलोचकों ने महादेवी की कविता पर दुरूह बौद्धिकता के समावेश का दोष लगाया है। इस सम्बन्ध में महादेवी ने लिखा है "काव्य म बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार पद्धति। वह तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अत कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।" इसी प्रकार से युग जीवन के साथ परिवर्तित होते हुए यथार्थ के रूपों को परम्परागत दृष्टि स समन्वय का अनुमोदन करते हुए महादेवी ने लिखा है कि "यदि हम पहले मिली सौन्दर्य दृष्टि और आज की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें। और पिछली सूक्ष्म चेतना को व्यापक मानवता में प्राण प्रतिष्ठा कर सकें। तो जीवन का सामंजस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे।"[१]

छायावाद –

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक हिन्दी कविता मे छायावादी आन्दोलन के एक म अन्यतम कवियित्री के रूप में विख्यात हैं। आधुनिक युग के अनेक विचारकों की भाँति उन्होंने भी छायावादी आन्दोलन को प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने अपने 'आधुनिक कवि भाग १' संग्रह में लिखा है "छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अत स्थूल को उसी रूप म स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका, परन्तु उसकी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।"[२] छायावादी कविता के दृष्टिकोण का

१ 'सान्ध्य' श्रीमती महादेवी वर्मा, पृ० ११९।
२ वही पृ० ११५।

स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि ये दोनों ही विराट रूप समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रंगमय भावाकाश दे डालता है।"[1]

महादेवी के काव्य में आध्यात्मिक तत्व भी अधिकता से मिलता है। उनमे अन्तर्जगत की भावनाओ के सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत प्रतीत होते हैं। इस विषय में उनका विचार है कि "कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य शील शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न नदी की परोक्ष रूप भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्व बन्धुता मानव धर्म आदि के ऊंचे भावर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व नहीं रहता। इस कथन से अध्यात्म का बलात् लोकसंग्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में भी सफल है परन्तु इस रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों से ही तो सम्भव हो सकेगी।"[2] इसी प्रकार से छायावाद के अन्त के विषय में कारण निर्देश करते हुए श्रीमती वर्मा ने लिखा है कि "छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"[3]

शान्तिप्रिय द्विवेदी :—

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा शैली में अन्य छायावादी विचारकों की

१ 'दीपशिखा', श्रीमती महादेवी वर्मा पृ० १७।
२ "आधुनिक कवि" श्रीमती महादेवी वर्मा भाग १, पृ० १७ १८।
३ वही पृ० १२।

भाँति भावनात्मकता की अभिव्यक्ति दिखायी देती है। उनका समीक्षात्मक चिन्तन प्रायः समकालीन काव्य प्रवृत्तियों से ही अधिक सम्बद्ध है। द्विवेदी जी की समीक्षात्मक कृतियों में "कवि और काव्य" "युग और साहित्य" "साहित्यिकी" "ज्योतिविहग" तथा "हमारे साहित्य निर्माता" आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी का स्थान छायावादी युगीन कवियों में भी उल्लेखनीय है। सबसे पहले एक कवि के रूप में ही उन्होंने काव्य रचना आरम्भ की थी। यही कारण है कि उनकी कृतियों में समीक्षात्मक चिन्तन के साथ कवि सुलभ भावनाओं का भी अभाव नहीं है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के विचार से "कविता हमारी भावनाओं का सबसे मधुर रूप है। संसार के कोलाहल से दूर, हृदय के एकान्त में, जब हम अपने आपको अधिक पहचानने लगते हैं, उस समय हम अधिक सरल हो उठते हैं और तब कुछ ऐसे भावमय उद्गार हमारे अन्तर्तम से स्वयमेव निकल पड़ते हैं जिनकी स्वरलहरी में संसार का सम्पूर्ण वैषम्य बह जाता है एवं हमारे तन मन, प्राण एक असह्य भार से मुक्ति पाकर हल्के हो जाते हैं हममें नई स्फूर्ति, नई ज्योति आ जाती है।

गंगाप्रसाद पाँडेय –

श्री गंगाप्रसाद पाँडेय का नाम भी छायावादी वैचारिक परम्परा के अन्तर्गत ही उल्लेखनीय है। उन्होंने छायावादी काव्य प्रवृत्ति के विषय में लिखा है "विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण में अपने सर्वव्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य धारा ने किया है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि पाँडेय जी के मत के अनुसार छायावाद एक प्रतिक्रियात्मक काव्यधारा है। उन्होंने छायावादी अन्य चिन्तकों की भाँति उसकी सामान्य विशेषताओं को स्वीकार किया है। उनकी व्यावहारिक समीक्षा में दृष्टिकोण की व्यापकता की विशेषता विद्यमान है। इसीलिए कहीं-कहीं तुलनात्मक दृष्टि से भी उन्होंने साहित्यकारों का महत्व आँका है। उदाहरण के लिए "प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में गाँधी का दर्शन

१ "छायावाद", श्री गंगाप्रसाद पाँडेय पृ० १४०।

स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि छायावाद का कवि न प्रकृति
मनु या निरपेक्ष मानता है, न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही
में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। ...
के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य कोष खोल देती है और प्र...
के लिए जीवन अपना रंगमय मायाकाश दे डालता है।"

महादेवी के काव्य में आध्यात्मिक तत्व भी अधिकता ...
अन्तर्जगत की भावनाओं के सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत प्रतीत हो...
उनका विचार है कि "कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचि...
निर्मम व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल व्यक्त, प्र...
है यदि केवल यही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य ...
की उसी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ अनेक अव्यक्त तत्व
अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न नहीं की
छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्व ...
के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत
अध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व
में अध्यात्म का बलात् लोकलब्धी रूप देने का या उसकी ऐका...
करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐका...
परन्तु इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही
इसी प्रकार से छायावाद के अन्त के विषय में कारण निर्देश
लिखा है कि "छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या व...
देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य
दिया था इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लि...

शान्तिप्रिय द्विवेदी :—

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा शैली में ...

१ 'दीपशिखा', श्रीमती महादेवी वर्मा पृ० १७।
२ "आधुनिक कवि" श्रीमती महादेवी वर्मा आ...
३ वही पृ० २२।

अधिकांश वैचारिक आन्दोलनों के विषय में कहा जाता है प्रगतिवादी विचारधारा को भी एकांगिता के दोष से युक्त कहा गया। इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा का निर्धारण मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार हुआ है, जो मूलतः समाज के वर्ग संघर्ष के आर्थिक कारणों के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित है। मार्क्सवादी जीवन दर्शन या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्तों की साहित्यिक परिणति को भी प्रगतिवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद मूलतः राजनैतिक वाद है, परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह वाद अपने साहित्यिक रूप में भी तीव्रता से विकसित हुआ।

प्रारम्भ –

ऊपर कहा गया है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद का स्वरूप निर्धारण उसके राजनैतिक दर्शन के आधार पर हुआ। एक साहित्यिक वाद के रूप में इसका आरम्भ सन् १९३० के लगभग से माना जाता है। यह समय छायावाद का परवर्ती काल कहा जा सकता है। यह प्रभाव मूलतः पाश्चात्य मार्क्सवादी जीवन दर्शन से ग्रहण किया गया। छायावादी विचारधारा को प्रगतिवादी विचारकों ने पलायनवादी कह कर उसका विरोध किया। आरम्भ में इस वाद को भी अन्य सभी नवीन वादों की भाँति पर्याप्त समर्थन मिला परन्तु बाद में यह भी उतना अधिक प्रचलित न रहा, क्योंकि इसे व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोध सहन करना पड़ा। परन्तु यह विचारधारा छायावाद की भाँति केवल काव्य चिंतन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही वरन् गद्य साहित्य के सभी अंगों तक इसका प्रसार हुआ। जहाँ एक ओर इसे अनेक कवियों का समर्थन मिला वहाँ दूसरी ओर गद्यकारों का भी। यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिये जाने वाले प्रमुख समीक्षकों के विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

राहुल सांकृत्यायन –

राहुल सांकृत्यायन ने विभिन्न विषयों पर हिन्दी में सौ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें से "हिन्दी काव्य धारा", "दक्खिनी काव्य धारा" और "साहित्य निबन्धावली" के अतिरिक्त अन्य बहुत सी कृतियों में उनकी समीक्षात्मक भूमिकाएं आदि उपलब्ध हैं जो उनके समीक्षात्मक विचारों का परिचय देने समर्थ हैं। प्रगतिवादी समीक्षकों में राहुल जी का उल्लेखनीय स्थान है। उन्होंने १९४७ में प्रगतिवाद के पक्ष में एक भाषण दिया था और इसमें उसके यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा था "प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का अर्थ है प्रगति के सब रास्ते

दिया तो इलाचन्द्र ने मनोविज्ञान का। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने मध्ययुग की भावुकता में आधुनिकता की पालिश चढ़ाई तो भगवतीचरण वर्मा ने उसमें वासना की चमक ला दी। निराला और जैनेन्द्र ने भारतीय दर्शन को व्यावहारिकता दी तो पन्त ने स्नेह की स्पष्टता। वृन्दावनलाल वर्मा का इतिहास और साहित्य का समन्वय अपने ढंग का अकेला है जैसे प्रसाद के नाटकों का। "अंचल" के साथ अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित क्रान्ति की भावना ने भी साहित्य में अपने मन्तव्य का प्रकाशन पाया है। यशपाल इसके अगुआ हैं किन्तु क्रान्ति की अपेक्षा यौवन की उष्णता के वे अधिक निकट हैं।

महत्व और सम्भावनाएँ —

इस प्रकार से हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में छायावादी समीक्षा प्रवृत्ति के उपर्युक्त रूपों के परिचय से यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत प्रायः उन्हीं विचारकों की गणना की जाती है जो रचनात्मक क्षेत्र में क्रियाशील रहे थे। इसलिए यह समीक्षा प्रवृत्ति एक प्रकार के अभिव्यक्तिगत स्पष्टीकरण के वक्तव्यों के रूप में भी मिलती है जिसमें साहित्य अथवा काव्य के स्वरूप पर इस विशिष्ट काव्य शैली के सन्दर्भ में विचार किया गया है। छायावाद के जो कवि प्रमुख स्तम्भों के रूप में मान्य हैं उनके अतिरिक्त भी एक बड़ी संख्या ऐसे साहित्यकारों की है जिनका इस आन्दोलन के विकास में योग है। मुख्यतः इनका विषय क्षेत्र समकालीन काव्य की अभिव्यक्ति शैली के ही विविध पक्षों तक सीमित रहा। परन्तु जिस प्रकार से आधुनिक काव्य के इतिहास में छायावादी आन्दोलन का ऐतिहासिक महत्व है यद्यपि उसकी सम्भावनाएँ सन्दिग्ध हैं उसी प्रकार से छायावाद की वैचारिक और समीक्षात्मक उपलब्धियाँ भी असन्दिग्ध हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

आधुनिक युग की विचारधाराओं में प्रगतिवादी विचारधारा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके स्वरूप-निर्देशन की हिन्दी साहित्य में अनेक विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन मूलतः विदेशी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी में आरम्भ हुआ और यथार्थवादी प्रवृत्ति से संयुक्त होकर इसका विकास हुआ। परन्तु जैसा कि

अधिकांश वैचारिक मान्यताओं के विषय में कहा जाता है, प्रगतिवादी विचारधारा को भी एकांगिता के दोष से युक्त कहा गया। इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा का निर्धारण मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार हुआ है जो मूलतः समाज के वर्ग संघर्ष के आर्थिक कारणों के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित है। मार्क्सवादी जीवन दर्शन या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्तों की साहित्यिक परिणति को भी प्रगतिवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद मूलतः राजनैतिक वाद है परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह वाद अपने साहित्यिक रूप में भी तीव्रता से विकसित हुआ।

प्रारम्भ —

ऊपर कहा गया है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद का स्वरूप निर्धारण उसके राजनैतिक दर्शन के आधार पर हुआ। एक साहित्यिक वाद के रूप में इसका आरम्भ सन् १९३० के लगभग से माना जाता है। यह समय छायावाद का परवर्ती काल कहा जा सकता है। यह प्रभाव मूलतः पाश्चात्य मार्क्सवादी जीवन दर्शन से ग्रहण किया गया। छायावादी विचारधारा को प्रगतिवादी विचारकों ने पलायनवादी कह कर उसका विरोध किया। आरम्भ में इस वाद को भी अन्य सभी नवीन वादों की भाँति पर्याप्त समर्थन हुआ परन्तु बाद में यह भी उतना अधिक प्रचलित न रहा क्योंकि इस व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोध सहन करना पड़ा। परन्तु यह विचारधारा छायावाद की भाँति केवल काव्य चिंतन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही वरन् यह साहित्य के सभी अंगों तक इसका प्रसार हुआ। जहाँ एक ओर इसे अनेक कवियों का समर्थन मिला वहाँ दूसरी ओर गद्यकारों का भी। यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत गिने जाने वाले प्रमुख समीक्षकों के विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

राहुल सांकृत्यायन —

राहुल सांकृत्यायन ने विभिन्न विषयों पर हिन्दी में सौ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें से "हिन्दी काव्य धारा", "दक्खिनी काव्य धारा" और "साहित्य निबन्धावली" के अतिरिक्त अन्य बहुत सी कृतियों में उनकी समीक्षात्मक भूमिकायें आदि उपलब्ध हैं जो उनके समीक्षात्मक विचारों का परिचय देने में समर्थ हैं। प्रगतिवादी समीक्षकों में राहुल जी का उल्लेखनीय स्थान है। उन्होंने १९४७ में प्रगतिवाद के पक्ष में एक भाषण दिया था और उसमें उसके यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा था "प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रोड़ रास्ते

को खोलना उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतन्त्रता का नहीं परतन्त्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम रोम में बीध गई है प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गई है वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं कर सकता। वह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण मे बाधक रूढ़ियों को हटा कर सुविधा प्रदान करता है। वह रूढ़िवाद और कूपमंडूकता दोनों का विरोधी है। हमारे लिये देश और काल दोनों के लिये विस्तृत दृष्टि रखना सबसे अधिक आवश्यक है।

प्रगतिवाद की एकांगिता —

ऊपर कहा गया है कि प्रगतिवाद पर एकांगिता का दोषारोपण किया जाता है। राहुल जी ने प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य की एकांगी प्रवृत्ति के विषय में लिखा था "साहित्यकार की बहुधा एकांगी प्रकृति होती है। समालोचक उसके सामने तस्वीर का दूसरा पहलू रखकर साहित्यकार की कमी को दूर कर सकता है। आज का साहित्यकार अपनी रचनाओं में एक पक्ष पर प्रहार करते हुए बहुत अति में चला जाता है और उसे उसक कोई गुण नही दिखाई देते दूसरा साहित्यकार दूसरे पक्ष की ओर जाता है। इस तरह दोनों ही वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं। समालोचक ही उनके इस अतिचार को दिखलाते हुए वास्तविकता के पास ला सकता है।"

राहुल जी की विचारधारा पर राजनीतिकता की छाप अधिक है। उनकी औपन्यासिक कृतियों में भी उनके इस प्रकार के विचारों का स्पष्ट रूप से अभिव्यक्तीकरण हुआ है। उनके 'जीने के लिये' नामक उपन्यास का एक पात्र वैयक्तिक स्तर पर सशस्त्र क्रान्ति की निरर्थकता के विषय मे कहता है—"मेरे दिल में बाल जीवन से ही देश सेवा की कितनी उमंगें हैं। तुम यह भी जानते हो कि देश की स्वतंत्रता के लिए मेरा चित्त कितना उत्तेजित हो जाता है। और यदि इनके छुपके बम और पिस्तौल चलाने पर मुझे विश्वास होता तो मैं कबका उसमें लग गया होता।"[१] इसी प्रकार से एक स्थान पर सामाजिक एकता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है "सभी वर्गों की एकता को मैं अपना समझता हूँ लेकिन यह सम्भव नहीं। राजा महाराजा और

१　'जीने के लिये' महापंडित राहुल सांकृत्यायन पृ० ४९।

धनियों का स्वार्थ वह नहीं है जो कि साधारण जनता का। रेम्ब्रेंट के सामने चाहे महाराज सटक जाते हों लेकिन अपनी प्रजा की इज्जत धन और प्राण के साथ वे खेल सकते हैं।"[1] इस प्रकार से राहुल जी ने अपनी विविध विषयक कृतियों में प्रगतिवादी विचारधारा का जो अभिव्यक्तीकरण किया है उसका सम्बन्ध साहित्य आदि के स्वरूप की अपेक्षा समाज और राजनीति की समस्याओं से अधिक है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त —

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिवादी आन्दोलन के समर्थक इसके आरम्भिक काल से ही रहे हैं। उनके विचारों का परिचय उनके स्फुट निबन्धों से मिल जाता है जो 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि' तथा, नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि' आदि कृतियों में संगृहीत हैं। साहित्य और समीक्षा के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'सभी प्रगतिवादी आलोचक' एक मत हैं कि साहित्य का तत्व सजीव और विकासोन्मुख होना चाहिए। क्या सजीव और विकासोन्मुख है इसकी वैज्ञानिक कसौटियाँ हैं और उन पर साहित्य कसा जा सकता है। उदाहरण के लिए आज हमारे देश की भयानक आर्थिक कठिनाइयों का हल शासन व्यवस्था के पास नहीं है, इसका निराकरण नया जनवादी भारत ही कर सकता है। परन्तु, इस समाज व्यवस्था का समर्थक कोई लेखक वैज्ञानिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। आज वही लेखक प्रगतिशील है, जो इस बर्बर समाज व्यवस्था पर निर्मम प्रहार करता है जैसा अगणित लेखक कर रहे हैं।"[2]

इस प्रकार से गुप्त जी ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि साहित्य की रचना करने वाला व्यक्ति कभी भी समाज के स्वस्थ विकास के ह्रासात्मक कारणों की ओर से विमुख नहीं रह सकता। उनका विचार है कि यदि हमारे समाज में किसी प्रकार का वर्गगत अथवा अन्तर्वर्ग संघर्ष है, तो उसका अभिव्यक्तीकरण साहित्य में भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि *संघर्ष तो जीवन की अनिवार्यता है, मानव मात्र की* स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उनकी निम्नलिखित कला की व्याख्या भी इसी विचार का

१ 'जीने के लिये' श्री राहुल सांकृत्यायन पृ० २७६।
२ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० ३६

सूचक करती है मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है और प्रकृति की विराट् शक्तियों के विरोधी मूल में अपने में नया बल अनुभव करता है। इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है। इस प्रकार काव्य, संगीत चित्रकला आदि का जन्म होता है। भारत के कृषि प्रधान आर्यों ने अपने अनुभव को वेदों की ऋचाओं में बन्दी बनाया दूर अमरीका के "रेड इण्डियन्स' ने अपने आखेट जीवन के चित्र अपनी गुफाओं की दीवारों पर बनाए, किन्तु उनकी मूल प्रेरणा एक ही थी स्थूल जीवन से संघर्ष का अनुभूति रंजित वर्णन।"[1] कला और साहित्य की यह धारणा गुप्त जी के इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती है कि जीवन के स्वरूप में परिवर्तन और विकास का मूल तत्व संघर्ष है और चूंकि साहित्य में मनुष्य का जीवन प्रतिबिम्बित होता है, अतः उसमें इस संघर्ष का भी चित्रण होना चाहिए।

डा० रामविलास शर्मा —

डा० रामविलास शर्मा का नाम प्रगतिवादी समीक्षकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रगतिवादी विचारधारा को आधुनिक युग की सर्वाधिक विचारधारा की आधुनिक युग की सर्वाधिक प्रचलित "प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ" की भूमिका में प्रगतिशीलता तथा प्रगतिवादिता के विषय में लिखा है। प्रगतिवाद अलग है प्रगतिशील साहित्य कोई और चीज है। इस तरह का सूक्ष्म भेद किया गया है। जैसे छायावादी कवि की रचनाएं छायावाद से भिन्न नहीं हैं वैसे ही प्रगतिशील लेखकों की रचनाएं प्रगतिवाद से भिन्न नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का। एक आलोचक का विचार है कि मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। लेकिन बीसवीं सदी के भरत मुनि या अरस्तू के अभाव में वह सौन्दर्य शास्त्र अभी रचा नहीं जा सका। इस तरह प्रगतिवाद एक भविष्य की वस्तु ठहरती है जो किसी भावी सौन्दर्य शास्त्री के जन्म पर अवलम्बित है। ऐसे प्रगतिवाद की चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है उस नई विचार धारा और साहित्य की चर्चा करना जिसे लोग प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहते हैं और जिसका प्रसार लगभग

१ 'नया साहित्य : एक दृष्टि' श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त पृ० ९।

सन् १० के बाद हिन्दी साहित्य और हिन्दुस्तानी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ हा।"[1]

डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। समाज में प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्व होते हैं उनसे कोई भी लेखक तटस्थ नहीं रह सकता। उनका विचार है कि वास्तव में जो लोग कहते हैं कि साहित्य स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते हैं कि साहित्य प्रतिक्रिया वादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का वाचक है। कोई भी घटना प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होगा। इसलिए निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है। .. न केवल कलाकार का सामाजिक अनुभव निरपेक्ष नहीं है, उसकी सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक सम्बन्धों से परे नहीं है। किसी भी समाज विशेष के मनुष्य की सौन्दर्य मूलक प्रवृत्ति उसके समूचे ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती है।"[2]

डा० रामविलास शर्मा ने नवीनता का अर्थ अनिवार्य रूप में पुरातनता का विरोध करना नहीं माना है। उन्होंने लिखा है 'नये साहित्य और विशेषकर नई समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुरानी परम्परा का उल्लेख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेन्दु को जबरदस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हो। परिचित होने के साथ साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण भी करना चाहिये--मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज हित या अहित से परे मान कर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं उनके लिए बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समान रूप से वंदनीय हैं और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मेरी दृष्टि में समाज के हित और अहित को नहीं भूल जाना चाहिए यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए

१ 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', डॉ० रामविलास शर्मा, भूमिका, पृ० ८०।
२ वही पृ० १२।

भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की समझ ही माननी चाहिये कि वे दरबारों में आनन्दपूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे।१

ऊपर कहा गया है कि प्रगतिवाद मार्क्सवादी राजनैतिक विचारधारा की साहित्यिक परिणति है। डा० रामविलास शर्मा ने इस विषय पर अपने एक निबन्ध मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन में लिखा है "समाज को समझने और बदलने तथा शोषणहीन समाज व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है। यह व्यवस्था हवा में नहीं बनती प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्वपूर्ण योग भी उसमें होता है। इन पुराने उपकरणों को बनाने में विभिन्न वर्गों का योग हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि शासक वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है वे सभी शोषणमुक्त वर्ग के लिये अनुपयोगी हों। उदाहरण के लिये समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम के अनुसार न कि अपनी आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक मिलता है। मार्क्स और लेनिन ने इसे पूंजीवादी नियम बताया है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण शोषण मुक्त मानव भी इस पूंजीवादी नियम से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता। यदि आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवादी नियम को तुरन्त ठुकराया नहीं जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र में तो और भी सँभलकर कदम रखना आवश्यक होता है।" २

इस प्रकार से डा० रामविलास शर्मा के विचारों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उनके दृष्टिकोण में प्रगतिवादी आन्दोलन के लिये यह मान्यता है कि यह एक व्यापक जीवन दर्शन है। प्रगतिवाद का अर्थ अनिवार्य रूप से किसी संकुचित वाद से ही नहीं लेना चाहिए क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही प्रगतिशील है तथा चूँकि मानव जीवन ही साहित्य में अपने विविध रूपों में प्रतिबिंबित होता है, अतः साहित्य को भी स्वभावतः प्रगतिशील होना चाहिए। हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का जन्म एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में हुआ। उसमें लेखकों और पाठकों को इस आवश्यकता को उसने

१ 'संस्कृति और साहित्य', रामविलास शर्मा, भूमिका।
२ आलोचना ११, पृ० १८।

जीवन से निकटता ही उसकी शक्ति है और उसकी सम्भावनाओं में संदेह नहीं किया जा सकता।

शिवदान सिंह चौहान:—

श्री शिवदान सिंह चौहान ने एक व्यापक विचारक के रूप में प्रगतिवादी साहित्य के विविध पक्षों पर विचार किया है। उनके विचार से युगीन यथार्थ का प्रतिबिम्ब साहित्य का एक अनिवार्य तत्व है और उसी की विश्वसनीयता उसके परीक्षण की कसौटी है। उन्होंने लिखा है "साहित्य और कला वस्तु जिन्हों तथा मानव चरित्रों की माया में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती हैं। ~ उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अभिवा यं विचार सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तु निष्ठा से अपने युग जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।"[1]

श्री शिवदान सिंह चौहान ने कला और साहित्य के क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है और उनकी रचनात्मक सम्भावनाओं के संकेत खोजे हैं। इस क्षेत्र में व्यावहारिक समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "इसलिये राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमें राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप से विकास कर सकें अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएं जो कला सर्जन में प्रेरक बने बाधक नहीं। (२) विश्व की कला साहित्य और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है सीखकर ऐसी कृतियों का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिये गये हैं उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के

१ 'आलोचना' ४, सम्पादकीय।

यथार्थ रूप में अनुभव करते हुए अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील साहित्य युग की माँग को पूरा करनेवाला साहित्य है अतः यथार्थ चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सकें। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं और साथ ही अन्य देशों की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक दूसरे को अधिक निकट लाने में योग दे सकेंगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं। ?

प्रयोग की कसौटी —

प्रगतिवाद के परवर्ती साहित्यिक आन्दोलन प्रयोगवाद के स्वरूप और आवश्यकता के साथ ही साथ चौहान जी ने उसकी उपलब्धियों आँकने का प्रयत्न को अपनी विचारात्मक रचनाओं में किया है। "इसी प्रकार नये प्रयोग क्या जीवित सत्य को अभिव्यक्त देते हैं इसके लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिये कि जीवन के किसी अनुभव की पुनः सृष्टि करने में यह कितने सक्षम हैं बल्कि यह कि अनुभव की मानवीय वस्तु कैसी है उस कला में किस प्रकार का अनुभव व्यक्त हुआ है। अर्थात् अपने समय के समग्र सामाजिक जीवन की अपेक्षा वह अनुभव कितना सारवान् और सगत है उसमें व्यक्त भावनाएँ और विचार कितने मानवीय हैं किस प्रकार के मनुष्यों को कला में प्रविष्ट किया गया है। और अन्त में हमें देखना चाहिये कि नये प्रयोग जीवन का जो आकलन करते हैं वह कैसा है अर्थात् समाज के भीतर मानव सम्बन्धों के बारे में लेखक या कलाकार का दृष्टिकोण क्या है। ये कतिपय कसौटियाँ हैं जिन पर किसी भी नये प्रयोग को परखना आवश्यक है। इन प्रश्नों को बिना उठाये केवल प्रयोग को आत्यान्तिक महत्व देना, चूँकि प्रयोग निरन्तर होते जाते हैं परम्परा से ही विच्छेद करना नहीं है, बल्कि पाठकों से भी विच्छेद कर लेना है और प्रयोगों को भी निरर्थक बना देना है।[1]

प्रगति और प्रचार —

प्रगतिवाद पर एक और आरोप यह लगाया जाता है कि उसमें प्रचारवादिता

१ 'आलोचना' ९, सम्पादकीय पृ० ८।
२ 'आलोचना' २, सम्पादकीय पृ० ५।

का आधिपत्य है। चौहान जी ने साहित्य में इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति का विरोध किया है। उन्होंने कहा है 'हमें प्रचार की चीजें नहीं लिखनी हैं, साहित्य लिखना है क्या। इस साहित्यिक प्रवंचना में पड़कर हम अपने कर्त्तव्य को भुला सकते हैं? साहित्यकार की विशेषता यही है कि उसके अनुभूत की अभिव्यक्ति कलात्मक होती है — फिर हमारे मन में प्रचार और साहित्य का प्रश्न उठकर द्वन्द्व क्यों मचाता है? और जब हम अपनी लेखनी के अस्त्र से लड़ने की घोषणा करते हैं तो क्या हमारा आशय अपनी रचनात्मक शक्ति और कला नैपुण्य से नहीं होता।'[1] चौहान जी के विचार से प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी के साहित्यकारों को नयी दृष्टि दी है और उन्हें अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक बनाया है।[2]

श्री शिवदान सिंह चौहान के विचार से प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है, जो पूँजीवाद के अंतिम काल में उत्पन्न होती है। उन्होंने उसे साहित्यिक क्षेत्र में एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण के रूप में मान्य किया है जो नयी चेतना के जागरण की की प्रतीक है।[3] उनका विचार है कि यथार्थवादी एक कलाकार स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील ही होता है। वह युग जीवन के निरन्तर परिवर्तित होते हुए रूपों की प्रत्यक्ष अवगति रखता तथा उनके अनुसार अपने साहित्य को नवीन रूप प्रदान करता है। इसलिए उसकी कला की एक आवश्यक शर्त उसकी यथार्थगत विश्वसनीयता है और यही उसके साहित्य की प्रगतिशीलता की सबसे बड़ी कसौटी है।[4]

मन्मथनाथ गुप्त —

श्री मन्मथनाथ गुप्त के वैचारिक निबन्ध 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। इन निबन्धों में वे युग में लेखक ने प्रगतिवादी विचारधारा से सम्बन्धित कुछ ज्वलन्त समस्याओं पर विचार किया है। उन्होंने प्रगतिशीलता के विरुद्ध प्रस्तुत किये गये तर्कों का खंडन करते हुए उसके यथार्थ मूल्यांकन पर बल दिया

१ 'साहित्य की परख' श्री शिवदानसिंह चौहान, पृ० १४ ।
२. 'आलोचना' १ सम्पादकीय, पृ० १ ।
३ 'प्रगतिवाद', श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० १ ।
४ 'हंस', जनवरी-फरवरी, पृ० २४५ ।

है। उनका विचार है कि प्रगतिशीलता की परख राजनैतिक दलबंदी से पृथक होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रगतिशीलता की परख साहित्य को साम्यवादी अथवा *किसी अन्य राजनैतिक दल के एकाधिकार से मुक्त बताया है।* गुप्त जी के विचार से प्रगति का अर्थ है विकास। उन्होंने लिखा है 'यह स्पष्ट है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होगी। प्रगति में प्रयास तो अन्तर्निहित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होगा तो वह समाज प्रगति नहीं करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहिये जड़ रहेंगे और समाज स्थितिशील होकर रहेगा। वह समाज विनष्ट हो जायगा। इतिहास में ऐसे कई समाज विनष्ट हो गए, दूसरों ने उन पर अधिकार कर लिया उनको अपने में जज्ब *कर लिया। इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास में* विचारधारा एक बहुत बड़ी चीज है और साहित्य कला आदि विचारधारा में ही आ जाते हैं। विचारधारा क्रान्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है इसलिए साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का वाहन हो सकता है। स्वाभाविक रूप से वह साहित्य जो समाज को आगे की ओर ले जाने में मदद देता है प्रगतिशील है। जो साहित्य को पीछे ढकेलता है वह प्रतिक्रियावादी है।'[1]

प्रगतिवाद की अनिवार्यता :—

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने प्रगतिवाद को देश भाषा के लिए एक अनिवार्यता बताते हुए उसे आशावाद का प्रचारक कहा है। उनका विचार है कि साहित्य के विकास की सम्भावनाएं प्रगतिवादी विचारधारा में ही निहित हैं। अन्य संकुचित और अनिश्चित विचारधाराएं अन्ततः साहित्य को ह्रासोन्मुखी बनाती हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारे नए स्वतंत्र देश में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों में आशा उत्पन्न कर के नए संग्रामों के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश में कुछ भी हो, हमारे *यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुए मुस्तैदी के साथ समाज रचना* में भाग लेना पड़ेगा। प्रगतिशील मतवाद का केवल इतना ही कहना। हम अश्लीलता पलायनवाद रहस्यवाद छायावाद में पड़कर अपनी कर्मशक्ति को विघटित नहीं होने दे सकते।'[2]

१ 'प्रगतिवाद की रूपरेखा', श्री मन्मथनाथ गुप्त पृ॰ ९।
२ वही पृ॰ १०।

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य —

कलाकार की स्वतंत्रता पर विचार करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बताया है कि 'कला' शब्द बहुत व्यापक है। उसमें चित्र कला संगीत साहित्य आदि सभी कुछ आ जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक तो सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। जहाँ तक सृजन का प्रश्न है, वह इस विषय में पूर्णरूपेण स्वतंत्र है, परन्तु उसका सामाजिक पक्ष भी नगण्य है। उनके विचार से यदि ... दावा किया जाय कि कलाकार सृजन करके मुक्त हो गया तो यह बिलकुल गलत है। कहानी या कविता केवल लिखने में ही कोई रस नहीं होता, यदि उसका कोई पाठक समाज, भले ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो, न होता। इसी प्रकार चित्र आदि के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इस आशा से होती है, कि किसी आगामी काल में उस साधना के परिपक्व फल को दर्शक पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा हो सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही दौरान में मर जाँय और उनकी कृतियों को कभी दूसरों के सामने आने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र में भी यह मानना पड़ेगा कि पृष्ठभूमि में उन सम्भव दर्शक, पाठक श्रोताओं की बात कलाकार को अनुप्राणित करती है।[१]" इस प्रकार से गुप्त जी के मतानुसार एक कलाकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता वहीं तक अनुमोदनीय है जहाँ तक वह जनता के विरुद्ध न जाय। यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करना चाहे तब उसे इसकी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अन्ततः वह जनता का ही एक अंग है और कला के रूप में जनता की सेवा का व्रत लिये हुए है।

अतीत का ज्ञान —

अतीत के विषय में व्यापक जानकारी को श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बहुत ही आवश्यक बताया है, क्योंकि जाने बिना कोई कभी भी अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। परन्तु इसके साथ ही साथ इसी सत्य के एक दूसरे पक्ष की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। उनका विचार है कि जहाँ अतीत का ज्ञान उपयोगी हो सकता है, वहीं उसका अंधानुकरण भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है "इसीलिए मेरा यह वक्तव्य है

१ "प्रगतिवाद की रूपरेखा", श्री मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ ८६ ।

है। उनका विचार है कि प्रगतिशीलता की परख राजनैतिक दलबंदी से पृथक होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रगतिशीलता की परख साहित्य को साम्यवादी अथवा किसी अन्य राजनैतिक दल के सत्वाधिकार से मुक्त बताया है। गुप्त जी के विचार से प्रगति का अर्थ है विकास। उन्होंने लिखा है 'यह स्पष्ट है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होगी। प्रगति में प्रयास तो अन्तर्निहित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होगा तो वह समाज प्रगति नहीं करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहिये रुक रहेंगे और समाज स्थितिशील होकर रहेगा। वह समाज विनष्ट हो जायगा। इतिहास में ऐसे कई समाज विनष्ट हो गए, दूसरों ने उन पर अधिकार कर लिया उनको अपने में लय कर लिया। इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास में विचारधारा एक बहुत बड़ी चीज है और साहित्य कला आदि विचारधारा में ही आ जाते हैं। विचारधारा क्रान्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है इसलिए साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का अस्त्र हो सकता है। स्वाभाविक रूप से वह साहित्य जो समाज को आगे की ओर से जाने में मदद देता है प्रगतिशील है। जो साहित्य को पीछे ढकेलता है वह प्रतिक्रियावादी है।'[१]

प्रगतिवाद की अनिवार्यता :—

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने प्रगतिवाद को देश भाषा के लिए एक अनिवार्यता बताते हुए उसे आशावाद का प्रचारक कहा है। उनका विचार है कि साहित्य के विकास की सम्भावनाएं प्रगतिवादी विचारधारा में ही निहित हैं। अन्य संकुचित और अनिश्चित विचारधाराएं अन्ततः साहित्य को ह्रासोन्मुखी बनाती हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारे नए स्वतंत्र देश में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों में आशा उत्पन्न कर के नए संग्रामों के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश में कुछ भी हो हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुए मुस्तैदी के साथ समाज रचना में भाग लेना पड़ेगा। प्रगतिशील मतवाद का केवल इतना ही कहना। हम अश्लीलता पलायनवाद रहस्यवाद छायावाद में पड़कर अपनी कर्मशक्ति को विघटित नहीं होने दे सकते।'[२]

१ 'प्रगतिवाद की रूपरेखा', श्री मन्मथनाथ गुप्त पृ० ६।
२ 'वही पृ० १०।

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य —

कलाकार की स्वतंत्रता पर विचार करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बताया है कि 'कला' शब्द बहुत व्यापक है। उसमें चित्र कला, संगीत साहित्य आदि सभी कुछ आ जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक तो सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। जहाँ तक सृजन का प्रश्न है, वह इस विषय में पूर्णरूपेण स्वतंत्र है, परन्तु उसका सामाजिक पक्ष भी नगण्य है। उनके विचार से यदि [illegible] दावा किया जाय कि कलाकार सृजन करके मुक्त हो गया तो यह बिलकुल गलत है। कहानी या कविता केवल लिखने में ही कोई रस नहीं होता, यदि उसका कोई पाठक समाज, भले ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो न होता। इसी प्रकार चित्र आदि के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इस आशा से होती है कि किसी आगामी काल में उस साधना के परिपक्व फल को दर्शक पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा हो सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही दौरान में मर जांय और उनकी कृतियों को कभी दूसरों के सामने आने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र में भी यह मानना पड़ेगा कि पृष्ठभूमि में उन सम्भव दर्शक, पाठक, श्रोताओं की बात कलाकार को अनुप्राणित करती है।[१]" इस प्रकार से गुप्त जी के मतानुसार एक कलाकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता वहीं तक अनुमोदनीय है जहाँ तक वह जनता के विरुद्ध न जाय। यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करना चाहे तब उसे इसकी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अन्ततः वह जनता का ही एक अंग है और कला के रूप में जनता की सेवा का व्रत लिये हुए है।

अतीत का ज्ञान —

अतीत के विषय में व्यापक जानकारी को श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बहुत ही आवश्यक बताया है क्योंकि जाने बिना कोई कभी भी अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। परन्तु इसके साथ ही साथ इसी सत्य के एक दूसरे पक्ष की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। उनका विचार है कि जहाँ अतीत का ज्ञान उपयोगी हो सकता है, वहाँ उसका अंधानुकरण भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है "इसीलिए मेरा यह वक्तव्य है

१ "प्रगतिवाद की रूपरेखा", श्री मन्मथनाथ गुप्त, गुप्त पृ० ८६।

कि अतीत को हम आदर्श के रूप में नहीं रख सकते। अन्वेषणों से तो यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक देश में जो ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति हुई, उसके पीछे भी वीर पूजा की भावना थी। हमारे देश में जहाँ राम कृष्ण बुद्ध आदि ऐतिहासिक व्यक्ति अवतार के रूप में मान लिए गए, इस धारणा को बहुत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। कच्छ मच्छ, वराह आदि अवतार पशु प्रतीक पूजा के ही रूप हैं। कई बार दो–दो चार चार कबीलों के देवता एक हो गए हैं एक मुह का ले लिया गया तो दूसरे का धड़ या अन्य अंग। इसी प्रकार के गणेश आदि देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस सम्बन्ध में जो गवेषणाएँ हुई हैं उनसे यह पता चलता है कि प्रत्येक जाति में वीर पूजा का या वीर का सूक्ष्मीकरण होकर ईश्वर की उत्पत्ति हुई। वेदों के आर्यवाद में ईश्वरवादी हुए हैं। पहले सोपान में वे बहुदेव देवी थे। १

प्रगतिवादी दृष्टि —

श्री मन्मथनाथ गुप्त की धारणा है कि प्रगतिवाद के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार के भ्रामक मतों का प्रचार है, उसका कारण यह है कि लोगों को उसके विषय में पर्याप्त यथार्थ ज्ञान नहीं है। उनके विचार से प्रगतिवादी विचारधारा की मुख्य विशेषता यह है कि वह साहित्य को समाज की कसौटी पर ही कसता है। उन्होंने लिखा है "प्रगतिवाद प्राथमिक रूप से और मुख्यतः एक सामाजिक बल्कि समाज सम्बन्धी मतवाद है। मैंने मतवाद शब्द का प्रयोग किया इससे यह न समझा जाय कि इस क्षेत्र में मैं किसी दूसरे मत की गुंजाइश मानता हूँ। प्रगतिवाद अर्थात् समाज की प्रगति हो रही है और उसमें हम हाथ बटा सकते हैं यह मत एक मत एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह है, और उसमें मतभेद का कोई स्थान नहीं है। यह स्मरण रहे कि प्रगतिवादी सिद्धान्त का आविष्कार तो बाद को हुआ पर यह बराबर समाज में लागू था। यह बात उसी प्रकार की है, कि न्यूटन के पहले भी गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त लागू था। इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी मतवाद की स्थापना के पहले प्रगतिशील साहित्य मौजूद था।"२

इसी सम्बन्ध में प्रगतिवादी समीक्षा पर भी विचार किया है। उनका विचार है

१ "प्रगतिवाद की रूपरेखा" श्री मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ३०२।

२ वही, पृ० २४८-४९।

कि "यद्यपि प्रगतिवादी आलोचना किसी रचना के सामाजिक पक्ष से ही मुख्यतः सरोकार रखती है, फिर भी प्रगतिवादी लेखक भाषा आदि के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में मोटे तौर पर एक ऐसा दृष्टिकोण है जो प्रगतिवादी कहला सकता है। प्रगतिवाद का आवेदन क्रान्तिकारी जनता के प्रति है, इस कारण प्रगतिवादी साहित्य की भाषा और शैली जनता की मनपसन्द होनी चाहिए। हमारे देश में कई बार भाषा को उस समय के प्रगतिशील विचारों के दबाव के कारण बदलना पड़ा और फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई तो फिर भाषा बदली। संस्कृत से बुद्धि ने पाली प्राकृत को अपनाया, फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई, तो फिर संस्कृत चली। स्वयं हिन्दी की उत्पत्ति अपेक्षाकृत प्रगतिशील प्रवृत्तियों के कारण हुई।"[1]

डा० रांगेय राघव —

डा० रांगेय राघव के प्रगतिशील चिन्तन विषयक निबन्ध उनकी "प्रगतिशील साहित्य के मानदंड" शीर्षक कृति में संगृहीत हैं। इसमें उनका दृष्टिकोण अतीत और वर्तमान की व्याख्या करना रहा है। उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्रगतिवाद के विरोधियों के समान ही उसके समर्थकों की भी कड़ी आलोचना की है। डा० रांगेय राघव की धारणा है कि प्रगतिशील साहित्य शोषण का विरोध करता है। यह शोषण आर्थिक न होकर विविध रूपात्मक है। उदाहरण के लिए जब मानसिक शोषण होता है और मनुष्य को अपनी बुद्धि को बेचना पड़ता है तब कला का ह्रास होता है। मनुष्य के जीवन के इतिहास से यह सिद्ध हो जाता है कि शोषण किसी न किसी रूप में सदैव जीवित रहा है समाज की व्यवस्था में परिवर्तन के साथ यद्यपि इस शोषण के रूप परिवर्तित होते रहे हैं परन्तु शोषण की भावना अवश्य रही है।

जहाँ तक प्रगतिशील विचार धारा साहित्य का सम्बन्ध है वह प्रत्येक रूप में शोषण का विरोध करती है। उनके विचार से "आज प्रगतिशील साहित्य उस अवस्था को शीघ्रतम लाना चाहता है जो शोषण का दौर समाप्त करने में सहायक हो। क्रान्ति का मतलब मजदूरों का उत्थान मात्र नहीं है। पहले भौतिक परिवर्तन की कड़ें जमानी पड़ती हैं। एक विशेष अवस्था में जब समाज के विभिन्न वर्ग अपनी क्रान्तिकारी शक्तियों को काम में लगा चुकते हैं तब मजदूर वर्ग आगे आता है। तब मजदूर वर्ग का आगे

1 'प्रगतिवाद की रूपरेखा', मन्मथनाथ गुप्त पृ० ११२।

जाता है। आज मजदूर क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक और वर्तमान पक्ष है। किन्तु प्रगतिशील साहित्य इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका ध्येय जन कल्याण के और मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला को जन्म देना है। वह व्यंग्य और प्रहारों में समाप्त नहीं हो जाता वह स्वयं नया निर्माण है। १

डॉ० रांगेय राघव ने प्रगतिशीलता की भावना के जन्म और विकास का विवरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि प्रगतिशीलता प्राय प्रत्येक युग में साहित्य का स्वाभाविक तत्व होकर विद्यमान रहती है। 'महान् लेखक प्राय' ही अपने भीतर प्रगति तत्व धारण करता है। प्रगति जनकल्याण है, कितनी अधिक कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता में मानदंड कर सकते हैं। प्रगति संसार में सदैव रही है जीवन में भी किन्तु जब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनैतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसी के आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष रूप से रख कर उसकी आलोचना करते हैं।२

रामेश्वर शर्मा —

राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य शीर्षक निबन्ध संग्रह में श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रगतिवादी विचारधारा के स्वरूप विश्लेषण से सम्बन्धित कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने प्रगतिवाद को हिन्दी साहित्य की जीवित और प्रेरणाप्रद शक्ति माना है जिसने एक नयी भूमि का निर्माण किया है। प्रगतिवाद पर लगाये गये कुछ आपेक्षों का निराकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि "प्रगतिवाद के प्रारम्भ से कुछ सामान्य आधार थे। एक तो यह कि वह युग की सामयिक परिस्थितियों को काव्य में प्रतिबिम्ब करता है, जनता की विकासशील परम्परा में साहित्य अपना भी योग देता है साथ ही प्रगतिवाद साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी सामाजिक उपयोगिता में विश्वास रखता है। दकियानूसी आलोचकों के मतानुसार इसी कारण उनका स्थान साहित्य की श्रेष्ठतम (कुंठा जन्यता) से गिर जाता है और आनन्द

१ 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', डॉ रांगेय राघव पृ० ६, ७।

२ वही, भूमिका।

की शुद्धि उपलब्धि उससे नहीं होती। इसी प्रकार के आक्षेप हैं जो आज तक के दकियानूसी आलोचक प्रगतिवाद पर लगाते आये हैं और उसका विरोध करते रहे हैं।"[1]

श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रगतिवादी आंदोलन को पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप बलपूर्वक लाया हुआ वाद नहीं स्वीकार किया है। उनके विचार से वह भारत की ही अपनी विचारधारा है। जब परिस्थितियों ने उसके जन्म को अनिवार्य बना दिया तब युगानुरूप चिन्तन के रूप में उसका विकास हुआ। उन्होंने इस धारणा का भी विरोध किया है कि प्रगतिशील विचारधारा में साहित्य या काव्य में कलात्मक तत्वों की उपेक्षा की जाती है या वह उनसे रहित होता है। इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी विचारधारा के पोषकों पर राजनैतिक दबाव का भी उन्होंने विरोध किया है। उन्होंने उसे चिन्तन का एक स्वतंत्र रूप मानते हुए लिखा है 'आज प्रगतिवादी धारा साहित्य की एक जीवन्त धारा के रूप में वर्तमान है। उसकी अपनी साहित्यिक मान्यताएं हैं। और उनके अनुकूल उसने साहित्य की नई विधाओं को जन्म दिया है। काव्य उपन्यास नाटक कहानी निबन्ध और आलोचना के अतिरिक्त स्केच और रिपोर्ताज लिखने की कला का प्रवर्तन प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत ही हुआ। एक पाठक के नाते हम भारती से अपेक्षा करते थे कि वे प्रगतिशील साहित्य की धारा के हिन्दी में हुए उद्गम तथा विकास को बतलाते। उसमें मुखरित हुई प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते। संक्रान्तिकाल की अन्य साहित्यिक धाराओं के बीच उसे रखकर मूल्यांकन करते और फिर अपने निष्कर्ष निकालते। प्रगतिवाद के सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या प्रगति के स्वरूप का विवेचन एवं प्रगतिवादी आलोचना तथा साहित्य के साथ सम्बद्ध जो मौलिक समस्याएं हैं उनका विश्लेषण करते तथा जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में नए ढंग से विचार उपस्थित करते।'"[2]

१ "राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य", श्री रामेश्वर शर्मा, पृ० २१७।
२ "राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य", श्री रामेश्वर शर्मा

महत्व और सम्भावनाएँ —

हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा के रूप पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि प्राय: सन् १९३६ से उसका आन्दोलन एक संयोजित रूप में आरम्भ हुआ। इसने तत्कालीन छायावादी विचारधारा से संघर्ष कर उसका विरोध किया परन्तु इसे शीघ्र ही व्यक्तिवादी विचारधारा से भी संघर्ष करना पड़ा। काव्य या साहित्य के विषय में छायावादी अथवा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से प्रगतिवाद का मौलिक रूप में मतभेद है। यह समाज के प्रति साहित्य का गम्भीर दायित्व मानता है। परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्रगतिवाद के स्वरूप के विकास में भी अन्य विचारधाराओं की भाँति पर्याप्त मतभेद रहा और वाद विवाद हुआ।

कुछ विचारकों ने इसे एक स्वतंत्र वाद मानने का विरोध किया और प्रगतिशीलता को साहित्य का अनिवार्य और स्वाभाविक तत्व बताया। कुछ लोगों ने इसे राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित सिद्ध करते हुए इसमें इसी पक्ष की प्रधानता सिद्ध की। प्रगतिवादी विचारकों में पारस्परिक विचार वैभिन्नय भी रहा और उनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की। प्रगतिवादी विचारधारा साहित्य में मानव समाज के यथार्थ प्रतिबिम्ब पर बहुत बल देती है और उसकी अपेक्षा का कट्टर विरोध करती है। समष्टिवादिता के समक्ष व्यक्तिवादिता को यह कोई स्थान नहीं देती। इस प्रकार से वर्तमान युग में कुछ प्रमुख विचारधाराओं में प्रगतिवाद का भी स्थान है, जो अपने प्रचार के लिए संघर्षशील है।

व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

व्यक्तिवादी विचारधारा सामाजिकता की विरोधिनी न होते हुए भी साहित्य में युगानुकूल प्रयोगों का समर्थन करती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में इसे काव्य के क्षेत्र में प्रयोगवादी आन्दोलन के पर्याय के रूप में समझा गया तथा गद्य साहित्य के विविध अंगों के क्षेत्र में भी इसका समावेश हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों की भाँति व्यक्तिवादी विचारधारा के भी अधिकांश समर्थकों ने इसके स्वरूप के विश्लेषण के विविध प्रयत्न किये तथा साहित्य में प्रयोगशीलता की भावना की

स्वाभाविकता का स्पष्टीकरण किया। इस दृष्टिकोण से समीक्षा की व्यक्तिवादी प्रणाली स्थूल रूप से यथार्थवादी अथवा प्रगतिवादी प्रणाली की विरोधी प्रवृत्ति कही जा सकती है।

इस समीक्षा पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि एक क्रियात्मक साहित्यकार सदैव उन्हीं अनुभूतियों को अपने साहित्य में प्रश्रय दे जिनका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से है। इसके विचारकों की यह धारणा है कि अनुभूति के दूसरे प्रकार भी हैं, जिनका अनिवार्यतः सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु वे किसी भी प्रकार से उसकी अपेक्षा कम महत्वपूर्ण भी नहीं हैं। इसलिए सदैव यथार्थवादी कसौटी को ही सर्वमान्य करना इस प्रवृत्ति के विचारकों के मतानुसार उचित नहीं है। भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ भी असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो सकती हैं। उनका युग की सामाजिक यथार्थता को विवृत करना आवश्यक नहीं है। बहुत से महान् साहित्यकारों की कृतियों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण अधिक नहीं है परन्तु फिर भी वे सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाली किसी भी महान् कृति से हीन नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुभूति का प्रकार अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता वरन् उसकी सत्यता और व्यापकता महत्तर होती है।

आरम्भ —

हिन्दी में व्यक्तिवादी अथवा प्रयोगवादी समीक्षात्मक विचारधारा का आरम्भ यों तो बहुत समय पूर्व से मिलता है, परन्तु एक संगठित अथवा सुनियोजित प्रवृत्ति के रूप में इसका आरम्भ सन् १९२० के लगभग से माना जा सकता है। इस समय तक आधुनिक हिन्दी साहित्य विशेष रूप से हिन्दी कविता के क्षेत्र में छायावाद तथा प्रगतिवादी विचारधाराएँ प्रवर्तित हो चुकी थीं तथा विविध रूपों में उनका विकास भी हो रहा था। व्यक्तिवादी आन्दोलन मूलतः प्रगतिवाद के विरोध में हुआ। आरम्भ में यह काव्य और चिन्तन के क्षेत्र में ही रहा परन्तु बाद में गद्य साहित्यकारों द्वारा भी इसे प्रश्रय मिला। यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख विचारकों की विचारधारा का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' :—

'अज्ञेय' के समीक्षा साहित्य में 'त्रिशंकु' नाम के निबन्ध संग्रह के अतिरिक्त अनेक भूमिकाएँ तथा स्फुट रचनाएँ आदि हैं। हिन्दी के समीक्षकों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय देने वाले यह सर्वप्रमुख चिन्तक हैं। पाश्चात्य साहित्य और कला की नवीनतम

विचारधाराओं और आन्दोलनों की अवगति ने इनके दृष्टिकोण को समयानुकूल बनाया और उसके विकास को आधार दिया है। एक साहित्यकार की रचनात्मकता के प्रकार पर विचार करते हुए "अज्ञेय" जी ने लिखा है "यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आन्तरिक मांग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और बुभुक्षा की भावनाएँ जगाई हैं उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है तो उसकी रचनाएं महान् साहित्य बन सकेंगी।— यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय घबराहट और पलायन की भावना जगाई है तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी।"१

अनुभूति की व्यापकता —

"अज्ञेय" जी ने काव्य का स्वरूप और लक्ष्य स्पष्ट करते हुए जो विचार प्रकट किये हैं उसमें भी अनुभूति की व्यापकता पर बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि "काव्य रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक करने का प्रयत्न है अपने ही भावों के निव्यक्तीकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म निवेदन है और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है सर्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।२ इससे स्पष्ट है कि कोरी वैयक्तिकता काव्य अथवा साहित्य में कोई अर्थ नहीं रखती। क्योंकि उनके विचार से "कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है और निस्सन्देह उसका समाज के प्रति भी दायित्व है, किन्तु जो व्यक्ति और समाज का पचड़ा खड़ा करते हैं वे बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति इतर दायित्व के अतिरिक्त कलाकार कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है।"३

साहित्य में प्रयोगात्मकता —

अज्ञेय जी ने प्रयोगवादी विचारधारा को एक "वाद" के रूप में मानने का

१ "त्रिशंकु" "अज्ञेय" पृष्ठ १०११।
२ "चिन्ता", श्री अज्ञेय, भूमिका पृष्ठ ६।
३ "वारत्वार्थी" श्री अज्ञेय भूमिका, पृ० २।

विरोध किया है। उन्होंने इस नवीन विचारधारा को किसी भी प्रकार के राजनैतिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन से प्रभावित भी नहीं माना है। उन्होंने साहित्य या काव्य में प्रयोगशीलता को स्वाभाविक बताते हुए लिखा है "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें "प्रयोगवादी" कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें "कवितावादी" कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म सत्य के अन्वेषी कवि को अन्वेषण के प्रयोग रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता, उसकी शक्ति और उसकी सीमा को पहचाने और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता।"१

नीति तत्व —

नीति तत्व का समीक्षात्मक विचारधारा में अज्ञेय जी ने बहुत अधिक महत्व बताया है। उन्होंने मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ इसके संयुक्त परिणाम नैतिक ह्रास को अस्वीकार किया है। उनके विचार से सामान्य लोग जिसे नैतिक ह्रास कहते हैं, यथार्थ में वह नैतिक बोध की परिपक्वता है। उनके विचार से "नैतिक मूल्य यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य हैं तो अलग-अलग और अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव हो या कम से कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्चकोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य बोध, कम से कम इतिहास में प्रायः साथ चलते हैं। क्यों? इसलिए कि दोनों बोध मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनो के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की विशेषकर उस विवेकशील

१ "दूसरा सप्तक", सं० "अज्ञेय", भूमिका", पृ० २।

मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है।"१

प्रयोग की कसौटी —

अज्ञेय जी के विचार से प्रयोग एक साधन मात्र है। स्वयं अपने में इष्ट नहीं है। उसकी सार्थकता और मान्यता इस कारण भी है, क्योंकि इसके द्वारा एक कवि अपने सत्य को भलीभाँति जानकर अभिव्यक्त भी कर सकता है। प्रयोगशीलता का सम्बन्ध इस प्रकार से साहित्य अथवा काव्य के वस्तु तथा शिल्प दोनों पक्षों से होता है, इस लिए सफल प्रयोगों की आशाजनक सम्भावनाएँ इन दोनों ही क्षेत्रों में विद्यमान रहती हैं। इस दृष्टि से प्रयोगवाद को एक 'वाद' का संकुचित आवरण दे कर उसके स्वरूप और महत्व को घटाना अथवा उसका विरोध करना दुराग्रह का सूचक होगा। इसके अतिरिक्त प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में सर्वत्र से होते रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रयोग साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। इसलिए साहित्य के विकास की सम्भावनाओं का प्रयोग ही आधार होता है। परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया कि प्रयोग अपने आपमें कोई इष्ट नहीं वरन् एक साधन मात्र है इसलिए प्रयोगों का भी महत्व उनके द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में है। जो प्रयोग जितनी बड़ी उपलब्धि की परिणति का सृजन करता है वह उतना ही महत्तर है।

गिरिजाकुमार माथुर —

श्री गिरिजाकुमार माथुर ने भी अपने स्फुट निबन्धों अथवा भूमिकाओं में साहित्य और काव्य विषयक अपने दृष्टिकोण और मान्यताओं को स्पष्ट किया है। श्री माथुर के विचार से नई कविता उस काव्यधारा को कहना उचित है जो प्राचीन काव्य की प्रतिक्रिया स्वरूप आरम्भ हुई है। उन्होंने नयी कविता से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ज्वलन्त प्रश्नों पर विचार किया है। साहित्यिक विचारधारा और राजनीतिक की प्रवृत्ति के विषय में उनका विचार है कि "साहित्य और राजनीति में इसी कारण अन्तर है क्योंकि जहाँ राजनीति पक्षधर मात्र ही होती है और अपने दल अथवा सम्प्रदाय के संकुचित स्वार्थों आधार विचारों अनुशासन नियमों और मतवादों की

१　"आलोचना" ९, पृ० ११२ ।

बाह्य प्रतिष्ठा में उलझी रहती है, वहाँ साहित्य राजनीति की सीमाओं से परे उनके बुनियादी सिद्धान्तों तक जाता है और उनके मंगल तत्वों पर ही अपनी दृष्टि रखता है। ऐसे विभिन्न मौलिक तत्वों को लेकर वह एक गहरी और व्यापक मानवीयता की पीठिका पर उनका समन्वय करता है। राजनीति से उसका इतना ही सम्बन्ध है। वह तत्कालीन राजनैतिक विचार दर्शन से प्रभावित अवश्य होता है, पर प्रभावित होकर, उसका साम्प्रदायिक अनुयायी बनकर नहीं रह जाता। वह उससे आगे बढ़कर भिन्न राजनैतिक अन्तर्विरोधों में समाधान ढूंढ़ता है और ऐसे मानवीय उत्तर प्रस्तुत करता है जो मात्र राजनीति या धर्मनीति नहीं दे सकती। इस प्रकार जब साहित्य की भूमि आधारभूत मानवीय मूल्यों की है तब वह किसी एक प्रवृत्ति या पक्ष विशेष तक सीमित होकर उसमें समाकर नहीं रह सकता। उसके लिए इन सभी प्रवृत्तियों और पक्षों के वे तत्व ग्राह्य होते हैं, जिनका रास्ता मानवीयता, सामाजिक न्याय और जीवन भविष्य आस्था से होकर जाता है।"[1]

साहित्य या काव्य की उपलब्धि की कसौटी कौन से मानव मूल्य होंगे इस पर विचार करते हुए श्री गिरिजाकुमार माथुर ने बताया है कि आधुनिक युग में मानवता-वादी विचारधारा के अनेक रूप सामने आते दिखाई दे रहे हैं। इसके पीछे जो दृष्टि कोण है, वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो परन्तु वह ऐतिहासिक विकास की भूमिका में उसका परीक्षण नहीं करता। उनका विचार है कि इसी की पृष्ठभूमि पर मानवता के नवीन विकास की सम्भावनाएं सामने आयेंगी। इसी सन्दर्भ में उन्होंने नयी कविता की एकांगिता की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने लिखा है "उसकी विभिन्न विचारगत शैलियों ने जीवन को केवल एक ही सीमित और कट्टर दृष्टिकोण से देखा है। एक दृष्टिकोण ने दूसरे को सिद्धान्त विरोधी कहकर दूसरे प्रकार के श्रेष्ठ तत्वों को या तो स्वीकार ही नहीं किया या उनको समाज विमुख कहकर अछूत की तरह दूर रहने दिया है। कविता की विचार वस्तु में इसलिए हमें अक्सर उलझाव विभ्रम, अर्थहीनता, विशृंखल, भटकती तर्क विचार पद्धति कुण्ठाग्रस्त नियतिवादी पीड़ा द्विविधा गतिरोध, भय तथा अनास्था देखने को मिलती है। इस वैचारिक विभ्रम के कारण इन बहुत से नए कवियों को यह समझ में नहीं आता कि कौन सा जीवन दर्शन उपयुक्त है, कौन सा रास्ता उनका है। जब कवि के विचार जगत में यह गम्भीर उलझाव और कुहासा है

१ "युगचेतना", मार्च १९५५, पृ० ६६।

तो उसकी अभिव्यंजना के जो उपकरण हैं अर्थात् भाषा प्रतीक उपमान, छंद अपने अस्वाभाविक अन्दे, कंठित और रूप व्यक्तित्व विहीन होंगे।"[1] इस प्रकार से श्री गिरिजाकुमार माथुर ने नयी कविता की उपलब्धियों की सम्भावनाओं के विषय में तो आशा प्रकट की है परन्तु उनके विचार से यह तभी सम्भव होगा, जब उसकी वर्तमान गति का उचित नियंत्रण होगा।

डा० धर्मवीर भारती —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० धर्मवीर भारती का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने आधुनिक युग में साहित्यकार के गम्भीर दायित्वों और साहित्य की नयी मर्यादा पर विचार करते हुए इस समस्या के विविध पक्षों पर चिन्तन किया है। उन्होंने साहित्य में प्रगतिशीलता का विरोध नहीं किया है। उन्होंने लिखा है "मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो प्रगति के नाम से ही घबराते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि मानवजाति सृष्टि के आरम्भ से आज तक परिस्थितियों से लड़ती रही है और अपने रक्त से अपने आँसुओं से अपने पसीने से, समय के पृष्ठों पर सत्य का इतिहास लिखती रही है। उसने हर युग में नये नये प्रयोग किये हैं। लेकिन जब कभी हम प्रयोग को सत्य से अधिक महत्व देने लगते हैं उसी वक्त हमारी प्रगति रुक जाती है। मार्क्सवाद भी मानव सभ्यता का एक बहुत बड़ा प्रयोग रहा है। लेकिन वह प्रयोग ही रहा साधनात्मक प्रयोग रहा किन्तु समाधान नहीं बन पाया। मार्क्सवाद में कमियाँ थीं। रूस ने उन कमियों को ढूंढ निकाला और उनका परिहार करने की कोशिश की। लेकिन फिर भी रूस की संस्कृति उतनी वैभवशाली नहीं जितनी हमारी संस्कृति रही है अतः अब भी रूसी साहित्य वह स्थायी और सफल जीवन दर्शन नहीं खोज पाया है जिसकी खोज का सौभाग्य शायद भारतीय साहित्य को मिलनेवाला है क्योंकि हमारे पास अग्निशिखा सा देदीप्यमान संदेश है और अब हम उसकी ज्योति विकीर्ण करने के लिए स्वतंत्र हैं।"[1]

साहित्यिक चिन्तकों के लिए डा० धर्मवीर भारती ने मुख्यतः संक्रमण के इस युग में नवीन मर्यादा के प्रति आस्थावान रहने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है।

१ वही पृ० ६७।

उनके विचार से "साहित्य की इस नई मर्यादा का उदय इतिहास के धूल भरे पन्नों में खोजने वाली एक विस्मृत कथा बनेगा या नव निर्माण की प्रगति की, विकास की भूमिका यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रश्न सम्प्रदायों और मतवादों का नहीं है बल्कि मानवीय मूल्य मर्यादा उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है। हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें चाहें तो साहस का वरण करके अपनी वाणी इस नई मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहाँ तक स्थायी रहेगा यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम उसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं। १,,

लक्ष्मीकान्त वर्मा —

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का नाम भी उस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वर्मा जी ने अपनी पुस्तक "नयी कविता के प्रतिमान" में आधुनिक हिन्दी काव्य की उपलब्धियों और सम्भावनाओं पर विचार किया है। अपने स्फुट निबन्धों में भी उन्होंने नयी कविता के विविध पक्षों पर चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि आधुनिक हिन्दी की नयी कविता के विषय में अनेक आलोचकों द्वारा जिस प्रकार के वक्तव्य प्रस्तुत किये जाते हैं उनसे इस के विषय में भ्रम की वृद्धि होती है। साहित्य में प्रयोग की सार्थकता पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोग पूर्वाग्रहों से अधिक अनुभूति और रागात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई बिना कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता, क्योंकि रागात्मक बोध में व्यक्तित्व की ऊँचाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी उपदेशक, कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अच्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध व्यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतवाद से। इसीलिए प्रयोग उस चरम सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है वह स्वयं पूर्ति नहीं है। वह मात्र विस्त

१ 'प्रगतिवाद एक समीक्षा', डा॰ धर्मवीर भारती भूमिका पृ॰ २३।

सज्जा भी नहीं है, वह देश काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है इसमें युग का ध्येय लक्षित हुआ है।" १

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने प्रगतिवादी विचारधारा को राजनैतिकता से आगृहीत और प्रभावित बताया है, जबकि प्रयोग को उसकी अनिवार्यता के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके विचार से 'प्रगतिवादी और प्रयोग में संघर्ष है "सामूहिक मानव' और व्यक्ति मानव' का। 'सत्तावादी मतवाद" का और "सगुण सचेत मानव प्रतिमा का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता को अपना ही नहीं सकती और 'समूह' अधिनायकवाद फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतंत्र सचेत मानववाद को व्यापक आस्था स्पष्ट करती है। "समूह" व्यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बंधी हुई सीमा से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की संकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है, न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता अथवा नया प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है उसकी कविता की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक मनुष्य परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण दीपता चलता है। प्रगतिवाद समूह की प्रसारित ध्वनि होने के नाते आत्महीन विवेक रहित समूह सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मान्यता के विरोध में ही जन्म ले सकता है। किन्तु वह व्यापकता के प्रति आस्थावान है क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा कर सकता है अपने स्वातन्त्र्य को अर्थ दे सकता है। २

महत्त्व तथा सम्भावनाएं —

हिन्दी में व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति के विकास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि यह प्रयोगवादी आन्दोलन के साथ संयुक्त रही है। इसलिए इसे मुख्य रूप

१ "आलोचना" ११ पृ० ३७।
२ "आलोचना", १७ पृ० १८-१९।

से मात्र उन्हीं साहित्यकारों का समर्थन और सहयोग प्राप्त रहा जिन्होंने रचनात्मक क्षेत्र में इस विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की थी। इसलिए आरम्भ में उसे जो मान्यता मिली और इसका विकास हुआ, उसका सम्बन्ध रचनात्मक क्षेत्र में हो रहे आन्दोलन से भी है। यह प्रवृत्ति वैयक्तिक अनुभूतियों की साहित्य अथवा काव्य में अनुमोदिनी रही है। इसलिए इसने प्रगतिवादी विचारधारा का विरोध किया। परन्तु इस विचारधारा की ही भाँति इसके भी बहुत से प्रेरक सूत्र पाश्चात्य आन्दोलनों के प्रभाव के फलस्वरूप आये। वर्तमान युग में इस विचारधारा का स्थान प्रमुख चिन्तन पद्धतियों में अवश्य है, परन्तु अब इसकी एकांगिता की भावना धीरे धीरे लुप्त हो रही है। इस कारण नवीन रूप में इसके विकास की सम्भावनाएं आशाप्रद हो सकती हैं।

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप :—

मनोविश्लेषणात्मक तत्वों का समावेश हिन्दी समीक्षा के लिए अपेक्षाकृत नवीन वस्तु है। इसी कारण इस समीक्षा पद्धति के प्रवर्तक तथा अनुवर्तक समीक्षक मुख्यतः वर्तमान युग में ही मिलते हैं। आधुनिक युग में यूरोपीय मनोविश्लेषणवादी आन्दोलनों को जो व्यापक ख्याति मिली तथा उनका जो सर्वदेशीय प्रचार हुआ उन्हीं के फलस्वरूप हिन्दी समीक्षा पर भी उनका विशद रूप से प्रभाव पड़ा तथा विविध समीक्षकों ने मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से समीक्षा के क्षेत्र में कार्य किया। यूरोप में फ्रायड, एडलर तथा युंग ने मनोविश्लेषण शास्त्र की नवीन व्याख्या करने के साथ साथ उस पर आधारित नवीनतर सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण तथा प्रवर्तन किया। फ्रायड् मानव के समस्त कार्य कलाप में काम भावना को मूल प्रेरणा के रूप में आधारित मानता है। इसीलिए मनुष्य के उपचेतन में ये भावनाएं दमित रूप में स्थिर रहती हैं, क्योंकि विविध नैतिक तथा धार्मिक अवरोध इनकी पूर्ति में बाधक होते हैं। व्यावहारिक रूप से पूर्ण न हो पाने के कारण ये भावनाएं कुंठाग्रस्त होती जाती हैं। तथा इनकी अतृप्ति ही उनकी विविध अनुभूतियों तथा प्रतिक्रियाओं की उत्तरदायी होती है। इस कारण काममय भावनाओं का अभिव्यंजन साहित्य में सर्वथा स्वाभाविक होता है और इनके सम्यक् मूल्यांकन के लिए मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से उनका परीक्षण आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी जितनी विधायें हैं और

जितने साहित्यिक माध्यम हैं उन सबसे भी आधुनिक युग में मनोविश्लेषणात्मकता का समावेश अत्यधिक बहुलता के साथ हुआ है। रचनात्मक साहित्यकार भी इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य सर्जन की दिशा में अग्रसर होते हैं। काव्य की अपेक्षा गद्य की विधाओं के क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। उपन्यास कहानी और नाटक आदि में विशेष रूप से इसका समावेश मिलता है। इसी कारण हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति का आरम्भ स्वाभाविक क्रम से हुआ है तथा इसे प्रशस्ति भी मिली है।

आरम्भ —

हिन्दी समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का आरम्भ अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों की अपेक्षा विलम्ब से हुआ। पाश्चात्य देशों में मनोविश्लेषण शास्त्र का व्यापक रूप से प्रसार हुआ तथा उसी से इसकी प्रेरणा हिन्दी में भी आयी। यह प्रभाव साहित्य के किसी एक अंग तक सीमित न रहकर गद्य और पद्य के सभी रूपों में व्याप्त हुआ। हिन्दी साहित्य के अनेक कवियों कथाकारों तथा समीक्षकों ने उसको स्वीकारा और इसके विकास में योगदान दिया। हिन्दी के समीक्षकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल श्री जैनेन्द्र कुमार डा० नगेन्द्र श्री 'अज्ञेय' डा० देवराज श्री इलाचन्द्र जोशी आदि ने इसके विकास में विशेष रूप से योग दिया। परन्तु यहाँ पर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत केवल केवल उन्हीं विचारकों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्होंने प्रमुख रूप से इसी क्षेत्र में कार्य किया। जिन समीक्षकों का उल्लेख अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों के अन्तर्गत किया गया है उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है यद्यपि उनकी विचारधारा में भी कहीं कहीं मनोविश्लेषणात्मक से से युक्त दृष्टि लक्षित होती है।

जैनेन्द्र कुमार —

हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक चिन्तकों में जैनेन्द्र कुमार का विशिष्ट स्थान है। उनकी विचारात्मक तथा समीक्षात्मक कृतियाँ इस क्षेत्र में उनके दृष्टिकोण की परिचायक हैं। अपने उपन्यास 'सुनीता' की प्रस्तावना में उन्होंने अपने दृष्टिकोण की परोक्षता के विषय में लिखा है "... पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत होजाता है।

उन्हें सामने करके मैं ओट में ही आता हूँ सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें पर सृष्टि स्रष्टा को ही व्यक्त करती है और यह स्वक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है स्रष्टा कहाँ खता है?... ...पर सिरजनहार के समान निस्पृह मैं कहाँ ? यद्यपि इस पुस्तक के नाना त्रों में ही बोल पड़ा हूँ तो भी पाठक के हृदय को छीना पाने की इच्छा की मैं एक ही ती है । पुस्तक में रखे हुए मुझको पाठक जैसे चाहें समझें। किसी पात्र में उपस्थित नहीं हूँ और हर एक पात्र हर दूसरे से भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बातें हैं। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है क्योंकि मेरी कहाँ है तो उनकी है।"[1]

वैयक्तिकता का आग्रह —

श्री जैनेन्द्र ने गांधीवादी विचारधारा से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है, यद्यपि उन्होंने उसके स्वरूप की जो व्याख्या की है वह वैयक्तिकता से ही आपूरित है। उन्होंने जीवन की विशुद्ध मानवीय वृत्तियों को स्वीकार किया है। किसी भी प्रकार की दूषितता अथवा संकुचितता उनके विचार से उसे कलुषित करती है। इसी कारण से उनकी विचारात्मक रचनाओं में आध्यात्मिकता की प्रधानता हो गयी है। उनका विचार है कि "माना होगा कि "पालिटिक्स", जहाँ उसका रंग मन तक पहुँचा हुआ हो स्पष्ट ही विकृत और रुग्ण कर्म है। वह मानवता को बहका सकता है, बहका नहीं सकता बना सकता है, उबरा नहीं सकता।"[2]

सर्वोदय —

जैनेन्द्र कुमार जी ने सर्वोदय की जो व्याख्या की है, वह भी आध्यात्मिकता की प्रधानता लिए हुए है। आधुनिक युग में जीवन के सद् विकास का माध्यम उन्होंने इसी विचार धारा को मान्य किया है। जैनेन्द्र के विचार से "सर्वोदय" का मतलब जैनेन्द्र जी यों समझते हैं "असल में सर्वोदय का काम सबको अपनी अपनी आत्मा इस तरह सर्वात्मा की तरफ अभिमुख कर देना है।" "आप देखेंगे कि इस तरह

१ 'सुनीता' श्री जैनेन्द्र कुमार प्रस्तावना पृ० १ ।
२ "आलोचना" १७ पृ० २० ।

सर्वोदय गिरा मारा अभी नहीं आया है। उसके पास समग्र दृष्टि है और वह जब कि राष्ट्र और उनकी राष्ट्रीयता, जिनको उनकी अपनी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा थामे हुए है, भंग नहीं करना चाहता, तब परस्पर सामंजस्य लाने का मार्ग उनके आगे अवश्य खोल देता है। उधर हम सबका चाहते हैं। पश्चिम की तुलना में पूरब का और द्विज की अपेक्षा में आस्त्यज का जो पिछड़े हुए समझे जाते हैं इससे सर्वोदय आयगा तो उसे अनिवार्य पूर्वोदय और अन्त्योदय के आरम्भ से उसे करना पड़ेगा।"१

पंचशील —

जैनेन्द्र की विचारात्मक रचनाओं में कहीं कहीं समाज और जीवन के सन्दर्भ में राजनैतिक संगठनों और विचारधाराओं पर भी विचार किया गया है। उनके उपन्यास भी कभी कभी इसी तत्व से बोझिल दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जैनेन्द्र ने इसे वर्तमान समय की गम्भीरता बताया है। अपने नवीनतम उपन्यास 'जयवर्धन' में उन्होंने लिखा है 'जयवर्धन पाठक के पास आ तो रहा है पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा। राजनीति ने दुनिया को संकट में डाल दिया है। उसका कहना है, राज का वह रूप हो, नहीं तो दूसरे में पड़ना होगा जैसे और जाव न हो, यों तनाव फैलता है और युद्ध अनिवार्य होता जाता है। पंचशील की बात है पर शस्त्रास्त्र निर्माण के साथ उसका प्रकट अनमोल नहीं दीखता फिर वह रोग के निदान में भी नहीं उतरता। जो हो और बातों के साथ मेरे मन वह संकट भी छाया रहा है।"२

व्यक्ति का उन्नयन —

जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति के उन्नयन पर आदर्शवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका विचार है कि साहित्य पर ही यह दायित्व रहता है और इसी से उसके निर्वाह की अपेक्षा की जाती है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है 'मनुष्य की

१ 'पूर्वोदय' श्री जैनेन्द्र कुमार।
२ वही।

निकृष्टता में उसे कचोटना नहीं है अपनी उत्कृष्टता की श्रद्धा मनुष्य में जगा देना है। अपने विकारों से व्यक्ति पराजित है तो इसीलिये कि अपनी निर्विकारता की निष्ठा उसमें मूर्च्छित हो गई है। व्यक्ति में अपनी ही सम्भावनाओं को जाग्रत करना है। नहीं है वह दुष्ट नहीं है, निकृष्ट नहीं है क्षुण्ण। वह उज्ज्वल आत्म खंड है। विकारों को अपने में मूल बैठा है। उन्हीं की याद दिला कर उसकी दृष्टि को सीमित कर दिया जा सकेगा। इस असत् में से उसे उबारने के लिये उसमें से विराटता का स्वप्न जगाना होगा। वह क्षुद्र नहीं है हीन नहीं है। बीभत्स और असुन्दर नहीं है। वह निर्मल है, समर्थ और आकाश की भाँति महान् है।"

रचनात्मक जीवन दृष्टि —

जैनेन्द्र जी के विचार से एक दार्शनिक तथा रचनात्मक साहित्यकार की जीवन दृष्टि में पारस्परिक भेद होता है। उदाहरण के लिए एक उपन्यासकार अपने पात्रों में इतना खोता है कि उसके अपने अहं का लोप हो जाता है। ऊपर जैनेन्द्र के उपन्यास "सुनीता" से जो उद्धरण प्रस्तुत किया गया है, उससे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। उपन्यासकार की रचनात्मक जीवन दृष्टि के विषय में जैनेन्द्र जी ने लिखा है, "दार्शनिक मीमांसक है। वह व्यष्टि को लांघ सकता है। व्यवहार की ओर से आँख मींच सकता है। कर्म जगत में क्या हो रहा इससे विमुख रहकर उसी के अंतिम कारण के अनुसंधान में वह व्यस्त हो सकता है। सहानुभूति से उसे प्रयोजन नहीं। उसे तटस्थता चाहिए। पर उपन्यासकार का काम उससे कठिन है। तटस्थता तो उसे चाहिए ही पर सहानुभूति भी उसे कम नहीं चाहिये और समष्टि को समझने के लिये व्यष्टि को अनसमझा वह नहीं छोड़ सकता। व्यवहार से दूर जाकर कहीं आत्म सिद्धान्त पाने की उसे छूट नहीं। उसे व्यक्त और यथार्थ जीवन में अव्यक्त आत्म सूत्र घटित हुआ देखना है। उसे कार्य कारण की शृंखला को खोज निकालना है जो एक ओर इस कर्म क्रम से भरे संसार को तो दूसरी ओर ध्रुव चिन्मय ईश तत्त्व को थामती और समन्वित रखती है।"

इलाचन्द्र जोशी :—

हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों में भी इलाचन्द्र जोशी का नाम भी उल्लेखनीय है। क्रियात्मक साहित्य के अतिरिक्त उनकी समीक्षा कृतियाँ भी मनोविश्ले षणात्मकता के तत्वों से युक्त हैं। इस दृष्टिकोण से उनके वैचारिक निबन्ध संग्रहों में 'साहित्य सर्जना' 'विश्लेषण' 'विवेचना', "साहित्य चिन्तन" तथा "देखा परखा" आदि

के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप के प्रमुख मनोविश्लेषणशास्त्रियों की कृतियों के गम्भीर अध्ययन तथा हिन्दी में रचनात्मक तथा समीक्षात्मक साहित्य में उनके सिद्धान्तों के समावेश की दृष्टि से जोशी जी का स्थान हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पद्धति के पोषकों में बहुत ऊँचा है।

युग भावना तथा आडम्बर की प्रवृत्ति —

साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में व्याप्त फैशन अथवा आडम्बर की प्रवृत्ति का जोशी जी ने विरोध किया है। उनका विचार है कि 'सभी प्रकार के फैशन चाहे वे सामाजिक हों चाहे राजनीतिक चाहे साहित्यिक धूमकेतु के आडम्बर के साथ अकस्मात् के जाते हैं जिए और कुछ समय के लिए एक तूफान सा मचाकर धूमकेतुओं के समान ही लुप्त हो जाते हैं। जो कवि अथवा लेखक अपने युग के फैशन को पूर्ण रूप से अपना कर उसे एक सुन्दर पालिश किया हुआ रूप देने में विशेष सफलता प्राप्त कर लेता है उसे उसके युग के गड्डलिका प्रवाहपंथी आलोचक गण द्वारा अमरत्व का पद छीनकर किसी दूसरे ऐसे लेखक को मिल जाता है, जो अपने युग की 'प्रगति' में सबका मुखिया बनने के कला कौशल में दूसरों के कान काटता है। पर शीघ्र ही उसका समय भी आता है क्योंकि उसके युग के साहित्यिक फैशन की अवधि पूरी होने में अधिक देर नहीं लग सकती और फैशन के अन्त के साथ ही दुरुपथी आलोचकों द्वारा प्रदत्त अमरासन से उसे भी च्युत होने को बाध्य होना पड़ता है।'[१]

युगीन भावनाओं की अस्थिरता के विषय में जोशी जी का विचार है कि 'युग भावनाएँ फैशनों की तरह ही क्षणस्थायी और अस्थिर होती हैं। प्रधानतः दो श्रेणी के व्यक्ति उन्हें अपनाने के लिए विशेष रूप से उत्सुक रहते हैं। एक तो वे जिनका उद्देश्य राजनीतिक अथवा कोई अपना सामाजिक स्वार्थ सिद्ध करना रहता है, और दूसरे वे जो गतानुगतिक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर भेड़ों के समान उस गड्डलिका प्रवाह के साथ चलने में ही अपनी कुशल देखते हैं। जिनमें उस प्रवाह से अलग रह कर अपनी स्वतन्त्र बुद्धि द्वारा चलने की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है। इस दूसरी श्रेणी के भेड़पंथ व्यक्ति जानते हैं कि युग के प्रबल प्रवाह से चाहे वह कैसा ही अस्थायी क्यों न हो

१　'विवेचना' श्री इलाचन्द्र जोशी, पृ० १९।

असमर्थ रहने से वे कदापि आत्मरक्षा नहीं कर सकते इसलिए वे अपनी पूर्ण शक्ति अपने परिचालकों के स्वर में स्वर मिलाने में लगा देते हैं बल्कि कभी कभी मदलोभी भृत्यों के से लालची वेश उनसे भी ऊँची आवाज में चिल्लाकर युग धर्म के नारे लगाने लगते हैं।"[1]

छायावाद की उपलब्धि —

हिन्दी काव्य के क्षेत्र में जो छायावादी नामक आन्दोलन हुआ उसके विषय में इलाचन्द्र जोशी के मन्तव्य महत्वपूर्ण समझे जाते रहे हैं। छायावाद को उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में हुई चार क्रान्तियों में अन्यतम माना है।[2] उनका विचार है कि "इस युग ने एक बड़े लम्बे अरसे के बाद ऐसी कविता को जन्म दिया जिसे वास्तविक अर्थ में कविता कहा जा सकता है। इस युग में कवियों का रुद्ध अन्तरावेग मुक्त रूप से वैचित्र्य पूर्ण सुन्दर छन्दों तालों और लयों में फूट पड़ा।"[3] जोशी जी ने "कामायनी" को छायावादी कविता की सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में मान्य किया है। उनका कथन है कि "छायावादी युग के एक प्रधान कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति को मैं अपवाद स्वरूप मानता हूँ। वह कृति है प्रसादजी की "कामायनी"। यदि "कामायनी छायावादी कविता की "कटेगरी" में आ सकती है तो यह मानना ही पड़ेगा कि छायावाद ने कम से कम एक ऐसी चीज हमें दी है जो संसार की किसी भी भाषा के साहित्य के लिए गौरव स्वरूप समझी जा सकती है। इस काव्य में न अन्य छायावादी कृतियों की नपुंसकता पाई जाती है न कोरा पुष्पवाद। न इसमें हमारे आत्मप्रेमी "नार्सिसिस्ट' छायावादी कवियों की पिलपिली अथवा फैशनेबुल वेदना की बाढ़ पाई जाती है न कविता कला के साथ कौतुक क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति। इसके शक्तिशाली कवि ने शाश्वत जीवन की गहराई में डूबकर समग्र विपुल तथा विराट् का पर्दा हमारी आँखों से हटाने का महान् प्रयत्न किया है और जीवन के केन्द्र में प्रवाहित होने वाली मूल वेदना की चिरकल्लोलिनी धारा के अप्रतिहत वेग से हमें परिचित कराया है।"[4]

१ "विवेचना" श्री इलाचन्द्र जोशी पृ० १८–१९।
२ वही पृ० १८।
३ वही पृ० १८।
४ वही पृ० २१।

साहित्य और वैयक्तिक कुंठा —

जोशी जी के विचार से प्राचीन युगीन भारतीय साहित्य में वैयक्तिक कुंठा को कभी भी उतना महत्व नहीं दिया गया जितना आज दिया जा रहा है। उनकी धारणा है कि समाज की बाह्य परिस्थितियाँ ही वैयक्तिक कुंठा को जन्म देती हैं। वे ही उसके विकास अथवा ह्रास का कारण होती हैं। जोशी जी के विचार से "वैयक्तिक कुंठा की प्रतिक्रिया मोटे तौर पर दो रूपों में होती है। एक तो यह कि कुंठित व्यक्ति जीवन से हारकर भीतर के और बाहर के संघर्ष से कतराकर इस हद तक जड़ बन जाय कि उस स्थिति से उभरने की कोई प्रवृत्ति ही उसमें शेष न रहे। दूसरा यह कि कुंठित भावनाएं विद्रोह का रूप धारण कर लें। यह विद्रोह भी दो रूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है। एक तो भीतर की और बाहर की परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट विद्रोह और कुंठित मनःस्थिति से उभरने और ऊपर उठने का सक्रिय प्रयत्न दूसरा आत्म विद्रोह जो विद्रोह का विकृततम रूप है। कहना न होगा कि इनमें जड़ता अथवा पलायन वादी प्रतिक्रिया निकृष्ट है। आत्म विद्रोह का क्रम इसके बाद आता है सक्रिय और सचेष्ट विद्रोह वाली प्रतिक्रिया ही इन तीनों में स्वस्थ स्वाभाविक और सर्वोत्तम है। यही विद्रोह जीवन को गति देता है जड़ से जड़ परिस्थितियों में विस्फोट पैदा करता है और विकृतियों को धोकर जीवन में निरन्तर परिष्कार लाता रहता है।"[1]

मनोविज्ञान की ऐकान्तिकता :—

आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान के तत्वों पर विचार करते हुए जोशी जी ने बताया है कि उसमें उनका समावेश विविध रूपों में हुआ है। उन्होंने स्वयं अपनी औपन्यासिक कृतियों के सन्दर्भ में विचार करते हुए कहा है कि "मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज में पुरुष की की बौद्धिकता ज्यों ज्यों बढ़ती चली जा रही है त्यों त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है

१ 'देखा परखा', पृ० ६५ ।

और उस नोबलाइट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म विनाश के पहले अपने आस पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। चूंकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार बाह्य जगत् में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत पात्रों का विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है।" १

मनोविश्लेषणवाद —

जोशी जी का विचार है कि हिन्दी के वर्तमान साहित्य में मनोविश्लेषण के विषय में जिन धारणाओं का प्रचार है, वे बहुत भ्रामक हैं। उनके विचार से मनोविश्लेषण अपने आप में कोई वाद नहीं है। वह भी एक शैली ही है जिसका प्रयोग विविध साहित्यकार विभिन्न रूपों में करते हैं। उनका विचार है कि साहित्य में इस शैली का प्रयोग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से भी किया गया है तथा इसके विपरीत भी। बौद्धिकता के सन्दर्भ में इस की मान्यताओं का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है "जनवादी दृष्टिकोण को अपनाने में जिस सबसे बड़ी बाधा का सामना आज हमारे मध्यवर्गीय बौद्धिक समाज को करना पड़ रहा है वह यही अहंवादी संस्कार है और यह चेतना के स्तर प्रति स्तर में जमा संस्कार सहज में उखड़ने वाली चीज नहीं है। ऊपरी आघातों का कोई भी प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता बल्कि इस प्रकार बाहर से आने वाले आघातों से यह संस्कार अपने को अवचेतना की ओर अधिक गहराई में छिपाकर आत्मरक्षा करता है। उसके निराकरण का एक मात्र उपाय है सूक्ष्म मनोविश्लेषण के अंतः प्रवेशक अस्त्र का प्रयोग। अतएव जो मनोविश्लेषिक कलाकार इस प्रकार के उपायों द्वारा जनवादी मनोभावना के लिए जमीन तैयार करते हैं उनका कार्य क्या दूसरे प्रगतिशील कलाकारों से कुछ कम महत्वपूर्ण है ? उन्हें प्रतिक्रियावादी करार देना वास्तविकता के प्रति आंख मूंद लेना है।"२ उन्होंने मनोविश्लेषणवाद को अंतर्जगत के क्षेत्र में उसी सीमा तक प्रगतिशील बताया है, जिस सीमा तक मार्क्सवाद बहिर्जगत में।३

१ 'विश्लेषण' श्री इलाचन्द्र जोशी पृ० ८८–८९।
२ 'साहित्य चिन्तन', पृ० ५७।
३ वही पृ० ५८।

महत्व तथा सम्भावनाएं :—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक ऐसे मार्गों का उल्लेख भी हो सकता है जो मुख्य रूप से भिन्न समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण से उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों का प्रभाव और समावेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मनुष्य के अन्तर्मन के विश्लेषक तत्वों की अवगति के साथ ही साथ उस पर विविध क्षेत्रीय प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा उसके परिणामों की बहुरूपता जहाँ मनोविश्लेषण के सैद्धान्तिक निदर्शन की दृष्टि से महत्व रखती है, वहाँ रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसका मूल्य होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि क्रियात्मक साहित्य के विविध रूपों के क्षेत्र में मनोविश्लेषण वाद का प्रभाव बढ़ रहा है अतः स्वाभाविक रूप में ही समीक्षा के क्षेत्र में भी उसकी सम्भावनाएं स्पष्ट हो रही हैं।

शोधपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं उनमें से एक शोधपरक भी है। बीसवीं शताब्दी में भारत के विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध कार्य के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मूल्यांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी बृहत् प्रबन्धों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निर्धारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रणालियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। अब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र शैली ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

आरम्भ —

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसका आरम्भ विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा "तुलसीदास का धर्मदर्शन" अथवा 'थियालोजी आफ तुलसीदास' शीर्षक प्रबन्ध पर श्री जे॰ एन॰ कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिविनिटी' की उपाधि प्रदान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा॰ बाबूराम सक्सेना को 'अवधी का विकास' अथवा 'इवोल्यूशन आफ अवधी' शीर्षक प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी॰ लिट॰ की उपाधि सन् १९३१ में प्रदान की गयी थी। इसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का आरम्भ मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

वर्गीकरण —

हिन्दी में शोध ग्रन्थों का लेखन जिस तीव्र गति से हुआ है, उसका प्रकाशन उस गति से नहीं हो सका है। नवीन प्रबन्धों को छोड़कर पहले लिखे गये अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। इसलिए शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय सम्यक् रूप से नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए यहाँ हिन्दी में किये गये शोध कार्य को कुछ शीर्षकों में विभाजित करके उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में अन्य विषयों के अनुसार भी प्रबन्ध रचना हुई है परन्तु उनमें अनुनियत अध्ययन की प्रधानता है। इस कारण उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि उपलब्ध विवरण के आधार पर विषय विभाजन करते समय अनेक ऐसी शोध कृतियों के नाम भी यहाँ आ गये हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति —

हिन्दी में जो साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है, उसका विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनका सम्बन्ध विविध कवियों के स्वतंत्र अध्ययन से है। दूसरे वर्ग के अंतर्गत हिन्दी काव्य के विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्बन्धित कृतियों को लिया जा सकता

महत्व तथा सम्भावनाएं :—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक ऐसे मार्गों का उल्लेख भी हो सकता है जो मुख्य रूप से भिन्न समीक्षा प्रवृत्त के अन्तर्गत महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण से उनकी चर्चा यहां नहीं की गयी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों का प्रभाव और समावेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मनुष्य के अन्तर्मन के विश्लेषक तत्वों की अवगति के साथ ही साथ उस पर विविध क्षेत्रीय प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा उसके परिणामों की बहुरूपता जहाँ मनोविश्लेषण के सैद्धान्तिक निदर्शन की दृष्टि से महत्व रखती है, वहीं रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसका मूल्य होता है। इसके अतिरिक्त चूंकि क्रियात्मक साहित्य के विविध रूपों के क्षेत्र में मनोविश्लेषण वाद का प्रभाव बढ़ रहा है, अतः स्वाभाविक रूप में ही समीक्षा के क्षेत्र में भी उसकी सम्भावनाएं स्पष्ट हो रही हैं।

शोधपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं उनमें से एक शोधपरक भी है। बीसवीं शताब्दी में भारत में विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध कार्य के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मूल्यांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी वृहद् प्रबन्धों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निर्धारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रणालियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। अब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र शैली ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

आरम्भ —

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसका आरम्भ विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा "तुलसीदास का धर्मदर्शन" अथवा 'थियालोजी आफ तुलसीदास' शीर्षक प्रबन्ध पर श्री जे० एन० कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिविनिटी' की उपाधि प्रदान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा० बाबूराम सक्सेना को 'अवधी का विकास' अथवा 'ईवोल्यूशन आफ अवधी' शोर्षक प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि सन् १९३१ में प्रदान की गयी थी। उसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का आरम्भ मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

वर्गीकरण —

हिन्दी में शोध ग्रन्थों का लेखन जिस तीव्र गति से हुआ है, उसका प्रकाशन उस गति से नहीं हो सका है। नवीन प्रबन्धों को छोड़कर पहले लिखे गये अनेक महत्पूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। इसलिए शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय सम्यक रूप से नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए यहाँ हिन्दी में किये गये शोध कार्य को कुछ शीर्षकों में विभाजित करके उसका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में अन्य विषयों के अनुसार भी प्रबन्ध रचना हुई है परन्तु उनमें प्रवृत्तिगत अध्ययन की प्रधानता है। इस कारण उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि उपलब्ध विवरण के आधार पर विषय विभाजन करते समय अनेक ऐसी शोध कृतियों के नाम भी यहाँ आ गये हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्तिः—

हिन्दी में जो साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है, उसका विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनका सम्बन्ध विविध कवियों के स्वतंत्र अध्ययन से है। दूसरे वर्ग के अंतर्गत हिन्दी काव्य के विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्बन्धित कृतियों को लिया जा सकता

है तथा तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन कृतियों की गणना की जा सकती है जिनका सम्बन्ध साहित्य शास्त्र के सैद्धान्तिक अध्ययन से है। प्रवृत्तिपरक अध्ययन प्राय आधुनिक युगीन साहित्य समीक्षा से ही सम्बन्धित है। इस कारण से उनकी चर्चा यहाँ पर नहीं की जा रही है।

कविपरक शोध प्रवृत्ति

डा० बल्देव प्रसाद मिश्र —

हिन्दी में कवि परक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत सर्वप्रथम डा० बल्देव प्रसाद मिश्र का नाम लिया जा सकता है। उनका ग्रन्थ 'तुलसी दर्शन' शीर्षक से सन् १९१८ में डी० लिट्० की उपाधि के लिए नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किया गया था। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय से शोध उपाधि के लिए स्वीकृत की जाने वाली किसी कवि के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम कृति थी। बाद में यह रचना हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई। इससे हिन्दी में कवियों के स्वतन्त्र अध्ययन की परम्परा का तीव्रगति से प्रसार हुआ और हिन्दी के अनेक महा कवियों के जीवन और कृतित्व से सम्बन्धित शोध कार्य हुआ।

अन्य समीक्षक :—

महाकवि तुलसीदास के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में तुलसीदास जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त, "तुलसीदास और उनका युग" के लेखक डा० राजपति दीक्षित "तुलसीदास जीवनी और विचारधारा के लेखक डा० राजाराम रस्तोगी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा —

महाकवि सूरदास के जीवन और कृतित्व पर स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत करके डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध का विषय 'सूर जीवनी और कृतियों का अध्ययन' था। यह ग्रन्थ बाद में हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् सूरदास पर अन्य भी अनेक शोध कर्ताओं ने शोध कार्य किया।

अन्य समीक्षक —

महाकवि सूरदास के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में 'सूरदास और उनका साहित्य" के लेखक डा० हरवंश लाल शर्मा तथा 'सूर की काव्य कला' के लेखक डा० मनमोहन गौतम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास तथा सूरदास के अतिरिक्त अन्य महाकवियों के स्वतन्त्र अध्ययन करने वाले समीक्षकों में "रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन' के लेखक डा० नगेन्द्र, "घनानन्द और उनका काव्य' के लेखक डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी केशवदास उनके रीति काव्य का विशेष अध्ययन' के लेखक डा० किरण चन्द्र शर्मा जायसी उनकी कला और दर्शन के लेखक डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, "रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला' के लेखक डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट मीराबाई' के लेखक डा० श्रीकृष्ण लाल "अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति' के लेखक डा० अम्बादत्त पन्त, 'घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा' के लेखक डा० मनोहर लाल गौड़ 'सन्त सुन्दरदास' के लेखक डा० महेशचन्द्र सिंहल 'कवि परमानन्द और उनका साहित्य" के लेखक डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, परमानन्ददास जीवनी और ग्रन्थ के लेखक डा० श्याम शंकर दीक्षित 'सन्त कवि मलूकदास' के लेखक डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, आचार्य केशवदास" के लेखक डा० हीरालाल दीक्षित आचार्य भिखारीदास के लेखक डा० नारायणदास खन्ना 'मतिराम कवि और आचार्य' के लेखक डा० महेन्द्र कुमार, 'सेनापति और उनका साहित्य' के लेखक डा० विजयपाल सिंह, कबीर की विचारधारा' के लेखक डा० गोविन्द त्रिगुणायत "हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन" के लेखक डा० रामचन्द्र मिश्र प्रसाद का काव्य' के लेखक डा० प्रेमशंकर तिवारी, "प्रसाद का काव्य और दर्शन" की लेखिका डा० ज्ञानवती अग्रवाल "हितदेव और उनका काव्य" के लेखक डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी "मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' के लेखक डा० उमाकान्त गोयल तथा "गुप्त जी का काव्य विकास" के डा० कमलाकान्त पाठक का नाम लिया जा सकता है।

सम्प्रदायपरक शोध प्रवृत्ति

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल :—

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके डा० पीताम्बर

दत्त बड़थ्वाल ने सन् १९३४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। यह ग्रन्थ बाद में पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर अवध पब्लिशिंग हाउस लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें लेखक ने हिन्दी शोध के क्षेत्र में एक दिशा की ओर संकेत किया जिसके अनुसार इसकी परम्परा का दीर्घ प्रसार परवर्ती काव्य में दिखायी पड़ता है।

डा० दीनदयाल गुप्त —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विविध साम्प्रदायिक काव्य सम्प्रदायों के शोधात्मक अध्ययन की परम्परा में अष्टछापी कवियों का विवेचन सर्वप्रथम डा० दीनदयालु गुप्त द्वारा किया गया। उन्होंने सन् १९४४ में प्रयाग विश्वविद्यालय से 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उनका ग्रन्थ बाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा दो भागों में प्रकाशित कर दिया गया। इस ग्रन्थ में लेखक ने अष्टछाप के अन्तर्गत गिने जाने वाले आठ कवियों सूरदास परमानन्ददास कुम्भनदास कृष्णदास नन्ददास चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी तथा छीतस्वामी के जीवन काव्य और विचारधारा का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के पश्चात् इन कवियों पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन की भी प्रेरणा मिली तथा अनेक शोध कर्ताओं ने इससे प्रभाव ग्रहण करके उनका अध्ययन किया।

डा० मुंशीराम शर्मा —

डा० मुंशीराम शर्मा ने सर्वप्रथम 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५१ में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी में भक्ति भावना और धर्म साधना के विवेच सन्दर्भ में लिखित यह विशिष्ट महत्व की कृति है। यह ग्रन्थ साधना सदन कानपुर द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। भक्ति भावना के विस्तृत अध्ययन से सम्बन्धित दूसरी शोध कृति की रचना डा० मुंशी राम शर्मा द्वारा "वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति" शीर्षक से की गयी। इस ग्रन्थ पर लेखक को आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५९ में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गयी। बाद में यह ग्रन्थ "भक्ति का विकास" शीर्षक से चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ। इतने व्यापक सन्दर्भ और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत की गयी यह अपने विषय की सर्वप्रथम शोध कृति है।

डा॰ विनय मोहन शर्मा —

इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत भिन्न भाषाओं के साम्प्रदायिक कवियों के अध्ययन की दिशा में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य डा॰ विनयमोहन शर्मा द्वारा किया गया। उन्होंने 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' शीर्षक प्रबन्ध पर पी॰ एच॰ डी॰ की उपाधि सन् १९५६ में नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा प्राप्त की। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत सन्त साहित्य पर 'मध्यकालीन सन्त साहित्य' के लेखक डा॰ रामखेलावन पाण्डेय तथा 'संत कवि रविदास और उनके पंथ' शीर्षक प्रबन्ध के लेखक डा॰ संगमलाल मिश्र ने भी कार्य किया।

अन्य समीक्षक —

सम्प्रदायपरक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत अन्य समीक्षकों में 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' के लेखक डा॰ बदरीनारायण श्रीवास्तव 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' के लेखक डा॰ भगवती प्रसाद सिंह 'स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य' के लेखक डा॰ गोपालदत्त शर्मा 'जायसी के परवर्ती सूफी कवि' की लेखिका डा॰ सरला शुक्ल, 'नाथ सम्प्रदाय के हिन्दी कवि' के लेखक डा॰ शान्ति प्रसाद चन्दोला 'निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके हिन्दी काव्य' के लेखक डा॰ रामचन्द्र तिवारी 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हितहरिवंश पंथ का विशेष अध्ययन' के लेखक डा॰ विजयेन्द्र स्नातक "हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' के लेखक डा॰ विजयेन्द्र स्नातक' 'सिद्ध साहित्य' के लेखक डा॰ धर्मवीर भारती तथा 'सूफी मत और हिन्दी साहित्य' के लेखक डा॰ विमलकुमार जैन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति

डा॰ रामशंकर शुक्ल 'रसाल' —

हिन्दी में शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति के प्रारम्भ का श्रेय डा॰ रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को है। उन्होंने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास' शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३७ में डी॰ लिट्॰ की उपाधि प्राप्त की। यह ग्रन्थ इस विषय पर प्रस्तुत की गयी सर्वप्रथम शोध रचना है। इसके पश्चात्

हिन्दी शोध के क्षेत्र में साहित्य शास्त्र के विविध सम्प्रदायों तथा प्रवृत्तियों से सम्बन्धित शोध कार्य हुआ।

डा० भगीरथ मिश्र —

इसी परम्परा में साहित्य शास्त्र के सभी सम्प्रदायों का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वांगीण अध्ययन उपस्थित करने की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य डा० भगीरथ मिश्र ने किया। उन्हें सन् १९४७ में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' शीर्षक प्रबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। बाद में यह ग्रन्थ लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित भी कर दिया गया।

अन्य समीक्षक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत साहित्य शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी शोध कार्य करने वालों से 'हिन्दी छन्द शास्त्र' के लेखक डा० जानकी नाथ सिंह 'मनोज' 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' के लेखक डा० भोलाशंकर व्यास 'मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धान्त का अध्ययन' के लेखक डा० कुंजबिहारी गुप्त 'राकेश' तथा 'आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द योजना' के लेखक डा० पुत्तूलाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाषा वैज्ञानिक शोध प्रवृत्ति

स्वरूप :—

भाषा वैज्ञानिक शोध की प्रवृत्ति का विकास हिन्दी में कई रूपो में हुआ। इस विषय पर लिखे गये शोध प्रबन्धों का विभाजन अनेक वर्गों में किया जा सकता है। अभी तक हिन्दी मे भाषा विज्ञान विषयक जो शोध कार्य हुआ है, वह प्रारम्भिक कार्य ही है तथा इस क्षेत्र मे व्यापक सम्भावनाओ की ओर संकेत करता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत हुए कार्य को ऐतिहासिक, व्याकरणिक शोधीपरक तुलनात्मक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक :—

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' के लेखक डा० धीरेन्द्र

वर्मा, 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास' के लेखक डा० उदयनारायण तिवारी अवधी का विकास' के लेखक डा० बाबूराम सक्सेना, 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' के लेखक डा० नलिनी मोहन सान्याल तथा 'मैथिली भाषा का विकास' के लेखक डा० सुभद्र झा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब रचनाओं में लेखकों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भाषा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना रहा है।

व्याकरणिक —

व्याकरणिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' के लेखक कामता प्रसाद गुरु तथा 'ब्रजभाषा व्याकरण' के लेखक डा० धीरेन्द्र वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बोली परक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'आजमगढ़ जिले की कृषक शब्दावली' के लेखक डा० हरिहर प्रसाद गुप्त, 'मथुरा जिले की कृषक और व्यावसायिक शब्दावली' के लेखक डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' 'गढ़वाली भाषा का अध्ययन' लेखक डा० मथुरा जिले की बोली' के लेखक डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी निमाड़ी भाषा और और साहित्य' के लेखक डा० कृष्णलाल हंस तथा 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० हीरालाल माहेश्वरी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

तुलनात्मक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' के लेखक डा० कैलाशचन्द्र भाटिया का नाम उल्लिखित किया जा सकता है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा का विकास अब तीव्रतर गति से होने की सम्भावनाएँ हैं, क्योंकि विविध क्षेत्रीय अध्ययन उपलब्ध हैं तथा उनके तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता अधिक है।

महत्व तथा सम्भावनाएँ —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भाषा विज्ञान विषयक शोध का क्षेत्र अभी तक बहुत उपेक्षित था। इस समय भी आवश्यक ग्रन्थों तथा साधनों के अभाव में इस दिशा में

सम्यक रूप से कार्य नहीं हो रहा है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति भी विद्वानों में अपेक्षाकृत कम रही है। अब अनेक विश्व विद्यालयों में भाषा विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन तथा शोध के विकास को महत्व देने के साथ ही उस क्षेत्र में रुचि भी बढ़ रही है और इस दृष्टि से इसकी सम्भावनाएँ भी आशाजनक हो सकती है।

व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

व्याख्यात्मक समीक्षा को 'इंटरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' भी कहते है। आधुनिक युग में इस समीक्षा प्रवृत्ति का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। इसका आधार शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त ही होते हैं यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण से कभी कभी नवीन तत्वों का समावेश भी इसमे दिखाई देता है। इस समीक्षा पद्धति के अनुसार साहित्यिक *दृष्टिकोण में वैयक्तिकता अथवा सामाजिकता का कट्टर आग्रह नहीं होता* प्राचीन सिद्धान्तो की मान्यता आवश्यक है। क्योंकि उनकी रचना ऐसे मनीषियो ने की थी जिनकी दृष्टि में विवेक के साथ यह सामर्थ्य भी थी कि वे युग और काल की परिधि के आगे देख सकें। इसलिये इस कोटि के महान् चिन्तकों द्वारा निर्धारित साहित्य सिद्धांत स्वीकार करके ही समीक्षा का कार्य करना चाहिए और यथा सम्भव शास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। साथ ही यह समीक्षा प्रवृत्ति युग जीवन के नवीनतर दृष्टिकोण की भी उपेक्षा नहीं करती है और समीक्षा के विषय के अनुसार दृष्टि निर्धारित करती है।

आरम्भ —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्याख्यात्मक प्रवृत्ति अपने प्रारम्भिक रूप में भारतेन्दु युग से ही मिलने लगती है। उस समय इसका जो रूप था वह टीका ग्रन्थों से मिलता जुलता था। भारतेन्दु युग के अनेक लेखकों ने इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जिस प्रकार की पुस्तकें लिखी उनमें विविध विषयक प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी थी। इस प्रकार की कृतियों में श्री मानसीनन्दन पाठक लिखित "मानस शंकावली" श्री शिवलाल पाठक द्वारा सम्पादित "मानस मयंक" तथा श्री शिवराम सिंह द्वारा लिखित

"मानसतत्वप्रबोधिनी" आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाद में धीरे धीरे इस प्रवृत्ति का स्वरूप परिवर्तित होता गया और इसके दृष्टिकोण में भी व्यापकता आयी। नवीन सिद्धान्तों और विचार प्रणालियों के समावेश से इसे अपेक्षाकृत अधिक मान्यता प्राप्त हुई। नीचे इस परम्परा में आने वाले प्रमुख समीक्षकों के विचारों का परिचयात्मक विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

ललिता प्रसाद सुकुल —

व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत "काव्य चर्चा" तथा "साहित्य जिज्ञासा" नामक कृतियों के लेखक प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल का नाम उल्लिखित करना आवश्यक है। सुकुल जी की आलोचना दृष्टि में सरलता के साथ ही साथ उच्च कोटि का गम्भीर चिन्तन भी मिलता है। उन्होंने जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य की महान् कृतियों की सन्तुलित और शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त अनेक समस्याओं पर भी चिन्तन किया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के लिये नयी दृष्टि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'साहित्य के सिद्धान्त मात्र का ज्ञान ही सफल आलोचक के लिए पर्याप्त नहीं उसे साहित्य के प्रत्येक अंग के निर्माण की व्यावहारिकता से भी परिचित होना चाहिए। यह वह तभी जान सकता है जब स्वयं विविध साहित्यांगों की रचना करने का प्रयास करे।" इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में दृष्टिकोण की रचनात्मकता पर सुकुल जी ने बहुत बल दिया है।

परशुराम चतुर्वेदी —

परशुराम चतुर्वेदी की समीक्षा कृतियों में मीराबाई की पदावली' 'सूफी काव्य संग्रह', हिन्दी काव्यधारा में प्रेमभावना का विकास "उत्तरी भारत की सन्त परम्परा सन्त काव्य 'मध्य कालीन प्रेम साधना" "मानस की राम कथा" तथा 'नव-निबन्ध' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चतुर्वेदी जी की व्याख्यात्मक शैली का मुख्य गुण उसकी सर्वांगीणता है। उन्होंने स्वयं एक स्थल पर लिखा है--किसी साहित्यिक कृति विशेष की आलोचना तभी यथा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो किन्तु उसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।" १

१ "आलोचना" अक्तूबर १९५१

इसी प्रकार स लेखक ने जिन कृतियों में मुख्यत: ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा की है वहाँ भी विषय विस्तार का गुण मिलता है।

पदुमलालपुन्नालाल बख्शी —

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। बख्शी जी ने काव्य क्षेत्र से साहित्य सेवा का प्रारम्भ किया था इसलिए उनकी शैली म भावात्मकता की अधिकता दिखाई पड़ती है। गम्भीर चिन्तन के साथ ही उनका कवि हृदय भी उनकी विचारात्मक रचनाओं म आभासित होता है। बख्शी जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "कवि का जीवन काव्य नहीं है किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक नहीं देख सकते।" उनके विचार से "काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी तब उपलब्ध होता है जब हम कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे।"१ इससे स्पष्ट है कि बख्शी जी काव्य या साहित्य के सन्दर्भ म युग जीवन पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। उनके विचार से युग जीवन से पृथकत्व साहित्य के लिए ठीक नहीं है। उन्होंने लिखा भी है कि "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन साधारण भाव और विचारधारा से हमारे आधुनिक साहित्य सेवियों के भाव और चिन्तन का व्यवधान क्रमश: बढ़ता जा रहा है इसलिए आधुनिक साहित्य जातीयभाव आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिए पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों जुलाहों मजदूरो आदि लोगों के अभावों आशाओं और आकांक्षाओं को जानना होगा।२ बख्शी जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्राचीनता का स्वीकरण किया तथा उसके साथ ही नवीनता का भी बहिष्कार नहीं किया। वह किसी भी कृति या कृतिकार की आलोचना करते समय उस युग की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना आवश्यक समझते हैं, जिसमे उसकी रचना हुई। इसलिए उनकी आलोचना में प्राय: उन कारणों के भी संकेत मिलते है जो किसी कृति की उच्चता या क्षुद्रता का निर्धारण करते है। "विश्व

१ "विश्व साहित्य" श्री पदुमलालपुन्नालाल बख्शी पृ० १२०।
२ "सरस्वती", सम्पादकीय, अप्रैल १९२८।

साहित्य", "हिन्दी साहित्य" "विमर्श प्रदीप" तथा "हिन्दी कथा साहित्य आदि कृतियों में उनका इसी प्रकार का दृष्टिकोण मिलता है।

सत्येन्द्र :—

इसी परम्परा में डा० सत्येन्द्र का नाम भी लिया जा सकता है। डा० सत्येन्द्र की समीक्षात्मक कृतियों में "साहित्य की झाँकी" "गुप्त जी की काव्य कला" "हिन्दी एकांकी" "प्रेमचन्द और उनकी कला" "ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन" "कला कल्पना और साहित्य" तथा "हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ" आदि हैं। डा० सत्येन्द्र की समीक्षा पद्धति मुख्यतः व्याख्यात्मक है जिसमें व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली कृतियों में निर्णयात्मकता भी मिलती है। कुछ रचनाओं का सम्बन्ध प्राचीन कवियों से है जिससे उनकी शैली ऐतिहासिक भी हो गई है। उनके दृष्टिकोण में प्राचीनता और आधुनिकता दोनों का ही सन्तुलन दिखाई देता है। कुछ स्थलों पर उनकी भाषा और शैली पर अंग्रेजी प्रभाव बिलकुल न दिखाई पड़ता है। आलोचना की प्रणाली के सम्बन्ध में सत्येन्द्र का कथन है कि "मैं एक फोटोग्राफर की भांति कैमरे की दृष्टि से विशेष भाग सौन्दर्य का देखता और उसके कारण देता हूँ। इसी स्थल पर पाठकों को कठिनाई होती है। वहाँ कठिनाई भले ही हो पर वस्तु व व्यक्ति तक पहुँचने का मार्ग यही है और आलोचना की प्रणाली इसके अतिरिक्त दूसरी कोई ऐसी नहीं जिससे न हम वस्तु (कृति) को समझ सकते हैं न व्यक्ति (कृतिकार) को।"

प्रभाकर माचवे :—

इसी परम्परा के समीक्षकों में भी प्रभाकर माचवे का नाम भी उल्लेखनीय है, प्रभाकर माचवे ने पं० रामचन्द्र शुक्ल के मूल्यांकन के सम्बन्ध में अनेक मतों का परीक्षण करने के पश्चात् अन्त में यह निष्कर्ष निर्धारित किया कि शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह ही है कि उन्होंने हिन्दी आलोचना के ज्ञान क्षेत्र का विस्तार किया और नवीनतम पाश्चात्य विचारों से हिन्दी समीक्षा को परिचित कराया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी समीक्षा के क्रमिक विकास व इतिहास पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने लिखा है "वैसे तो हिन्दी आलोचना का सूत्रपात ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु काल से ही हो गया था परन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि अरुचि तक सीमित था। जब बदरी नारायण चौधरी ने लाला श्री निवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" की विस्तृत और कठोर समालोचना "कादम्बिनी" के २१ पृष्ठों में छापी और उसमें लिखा

इसी प्रकार स लेखक ने जिन कृतियों मे मुख्यत ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा की है, वहां भी विषय विस्तार का गुण मिलता है।

पदुमलालपुन्नालाल बख्शी —

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। बख्शी जी ने काव्य क्षत्र से साहित्य सेवा का आरम्भ किया था इसलिए उनकी शैली मे भावात्मकता की अधिकता दिखाई पड़ती है। गम्भीर चिन्तन के साथ ही उनका कवि हृदय भी उनकी विचारात्मक रचनाओं में आभासित होता है। बख्शी जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक नही देख सकते।" उनके विचार से "काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी तब उपलब्ध होता है जब हम कवि के जीवन तथा तात्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे। १ इससे स्पष्ट है कि बख्शी जी काव्य या साहित्य के सन्दर्भ म युग जीवन पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। उनके विचार से युग जीवन से पृथकत्व साहित्य के लिए ठीक नही है। उन्होंने लिखा भी है कि "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन साधारण भाव और विचारधारा से हमारे आधुनिक साहित्य सेवियों के भाव और चिन्तन का व्यवधान क्रमश बढ़ता जा रहा है इसलिए आधुनिक साहित्य जातीभाव आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अग्रेजी पढ़े लिखों में ही तो सीमित नहीं है हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिए पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों मजदूरों आदि लोगों के अभावों आशाओं और आकांक्षाओं को जानना होगा। २ बख्शी जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्राचीनता का स्वीकरण किया तथा उसके साथ ही नवीनता का भी बहिष्कार नहीं किया। वह किसी भी कृति या कृतिकार की आलोचना करते समय उस युग की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना आवश्यक समझते हैं जिसमें उसकी रचना हुई। इसलिए उनकी आलोचना मे प्राय उन कारणों के भी इंगित मिलते हैं जो किसी कृति की उत्कृष्टता या निकृष्टता का निर्धारण करते हैं। "विश्व

१ "विश्व साहित्य", श्री पदुमलालपुन्नालाल बख्शी, पृ० १२०।

२ "सरस्वती", सम्पादकीय अप्रैल १९१८।

साहित्य", "हिन्दी साहित्य विमर्श प्रदीप" तथा "हिन्दी कथा साहित्य आदि कृतियों में क्रमशः इसी प्रकार का दृष्टिकोण मिलता है।

सत्येन्द्र —

इसी परम्परा में डा० सत्येन्द्र का नाम भी लिया जा सकता है। डा० सत्येन्द्र की समीक्षात्मक कृतियां में 'साहित्य की झाँकी' "गुप्त जी की काव्य कला' "हिन्दी एकांकी' प्रेमचन्द और उनकी कथा "ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन" "कला कल्पना और साहित्य" तथा "हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ" आदि हैं। डा० सत्येन्द्र की समीक्षा पद्धति मुख्यतः व्याख्यात्मक है जिसमें व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली कृतियों में निर्णयात्मकता भी मिलती है। कुछ रचनाओं का सम्बन्ध प्राचीन कवियों से है जिनमें उनकी शैली ऐतिहासिक भी हो गई है। उनके दृष्टिकोण में शास्त्रीयता और आधुनिकता दोनों का ही सन्तुलन दिखाई देता है। कुछ स्थलों पर उनकी भाषा और शैली पर अंग्रेजी प्रभाव विशेषता से दिखाई पड़ता है। आलोचना की प्रणाली के सम्बन्ध में सत्येन्द्र का कथन है कि "मैं एक फोटोग्राफर की भांति कैमरे की दृष्टि से विषय बाह्य सौन्दर्य को देखता और उसके कारण देता हूँ। इसी स्थल पर पाठकों को कठिनाई होती है। यह कठिनाई भ्रम ही है पर वस्तु से व्यक्ति तक पहुँचने का मार्ग यही है और आलोचना की प्रणाली इसके अतिरिक्त दूसरी कोई ऐसी नहीं जिससे हम वस्तु (कृति) को समझ सकते हैं न व्यक्ति (कृतिकार) को।"

प्रभाकर माचवे —

इसी परम्परा के समीक्षकों में श्री प्रभाकर माचवे का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रभाकर माचवे ने पं० रामचन्द्र शुक्ल के मूल्यांकन के सम्बन्ध में अनेक मतों का परीक्षण करने के पश्चात् अन्त में यह निष्कर्ष निर्धारित किया कि शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह ही है कि उन्होंने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र का विस्तार किया और नवीनतम पाश्चात्य विचारों से हिन्दी समीक्षा का परिचय कराया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी समीक्षा के स्वरूप विकास के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने लिखा है "वैसे तो हिन्दी आलोचना का सूत्रपात ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु काल में ही हो गया था परन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि अरुचि तक सीमित था। पं० बदरी नारायण चौधरी ने लाला श्री निवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" की विस्तृत और कठोर समालोचना "कादंबिनी" के २१ पृष्ठों में छापी और उन्हें लिखा

'यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने से पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद या चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं शेष छोड़ते नहीं दिखाते।" यह सन् १८८४ के समय की हिन्दी समालोचना का नमूना है।

रामकृष्ण शुक्ल "शिलीमुख" —

श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का स्थान व्याख्यात्मक समीक्षा की परम्परा में उल्लेखनीय है। उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण पर द्विवेदी युगीन प्रभाव विशेष रूप से मिलता है। इसीलिए उसकी रचनाओं में शास्त्रीयता तथा गुणनात्मकता के तत्व तो मिलते हैं परन्तु इनमें नवीनता का भी समावेश है। इस गुण के कारण इनमें आवश्यक दुरूहता और शुष्कता के दोष भी नहीं आ सके हैं जो प्रायः इस प्रकार की समीक्षा में दिखाई देते हैं। "शिलीमुख" जी की रचनाओं में "प्रसाद की नाट्य कला" "आलोचना समुच्चय "शिलीमुखी' "कला और सौन्दर्य" तथा "निबन्ध प्रबन्ध" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में लेखक के सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। समीक्षक के विषय में शिलीमुख जी ने लिखा है कि जो सब तरफ देखता है वही आलोचक है और इस दृष्टि से सबसे पहला आलोचक कवि होता है। समालोचक का स्थान कवि के बाद है। समालोचक को पूर्ण मनुष्य हृदय वाला होना चाहिए और उसका दृष्टिकोण विशाल मानवता का होना चाहिए।

महत्व तथा सम्भावनाएँ —

हिन्दी में व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का आधुनिक रूप एक सन्तुलित तथा समन्वयात्मक दृष्टि से युक्त दिखायी देता है। इसलिये अब इसमें प्राचीन दृष्टिकोण के आग्रह की रूढ़िवादिता के स्थान पर नवीन दृष्टिकोण रूपी व्यापकता का गुण लक्षित हो रहा है। इस दृष्टि से यह आधुनिक युग की कतिपय अन्य समीक्षात्मक पद्धतियों के पर्याप्त निकट प्रतीत होती है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिकता की दृष्टि से जो रचनाएँ मुख्यता रखती हैं उनमें प्रायः यही समीक्षा प्रवृत्ति दिखायी देती है। सैद्धान्तिक विचारधाराओं के सन्तुलित समन्वय का व्यावहारिक समीक्षा पर आरोप इस समीक्षा की विशेषता है। इस नवीन रूप में ही इसके भावी विकास की सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

समन्वयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में समन्वयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति के मूल में पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों के समन्वय की भावना है। इस समीक्षा प्रवृत्ति के प्रमुख विचारकों ने भारतीय साहित्य शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का अध्ययन करके उनमें से उन तत्वों को ग्रहण किया जो साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण करने में सहायक हो सकते हैं। इसलिए इस समीक्षा प्रवृत्ति को प्राचीन तथा नवीन दोनों दृष्टियों से सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करने वाली प्रवृत्ति कहा जा सकता है।

आरम्भ —

आधुनिक हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग से ही सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव का आगमन होने लगा था। डा० श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि समीक्षकों ने अपनी रचनाओं में जहाँ एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत विकसित विचारधाराओं का सैद्धान्तिक परिचय दिया था वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में हुए कतिपय वैचारिक आन्दोलनों की भी अवगति दी थी। प्रायः उसी समय से हिन्दी में इन दोनों समीक्षा दृष्टियों के समन्वय की भावना का विकास होने लगा था। आगे चलकर इस समीक्षा प्रवृत्ति को सम्मान्य समीक्षकों ने स्वीकारा और इसके विकास में योग दिया।

डा० विनयमोहन शर्मा —

डा० विनयमोहन शर्मा का नाम हिन्दी के समन्वयवादी समीक्षकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक युग भिन्न भिन्न मतों और वादों का युग है। इस युग में जो भी समीक्षक हैं, वे प्रायः किसी न किसी मत या वाद के कट्टर समर्थक हैं। इसलिये यदि कोई समीक्षक वादों के दुराग्रह से अलग तटस्थ दृष्टिकोण से समन्वयात्मक विचारधारा का संतुलित निर्वाह करता है, तो यह साधारण सामर्थ्य का द्योतक

होता है। शर्मा जी के महत्व का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अपनी समीक्षा में प्राचीन शास्त्रीय नियमों का तो अनुगमन किया ही है आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी स्वीकरण किया है। आधुनिक मानदंडो के साथ ही साथ उन्होंने प्राचीन मान्यताओं को समन्वित करके एक पूर्ण समीक्षा दृष्टि का परिचय दिया है। शर्मा जी की कृतियो में 'साहित्य कला' कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ" दृष्टिकोण साहित्यावलोकन और 'साहित्य शोध समीक्षा प्रकाशित हुई है। इनमें से यदि कुछ कृतियों में शर्मा जी की उच्चकोटि की समीक्षात्मक प्रतिभा का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी है, जिनसे यह मालूम होता है कि उनकी शोध वृत्ति कितनी परिष्कारयुक्त है। उपर्युक्त पुस्तकों में शोध निबन्ध शास्त्रीय निबन्ध विविध टिप्पणियाँ तथा ऐसी रचनाएँ है जो विश्वविद्यालयमी कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिये ही विशेष रूप से लिखी गयी है। इस प्रकार से यह कृतियाँ शर्मा जी की समीक्षात्मक सामर्थ्य और उनके गहरे चिन्तन का परिचय देने वाली है। क्योंकि शर्मा जी की कृतियों में प्राचीन तथा नवीन प्रत्येक युग और प्रकार की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के पुष्ट संकेत मिलते है।

नाट्य स्वरूप —

डा विनय मोहन शर्मा के विचार से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नाटकों के समुचित विकास न होने के अनेक कारणों में एक रंगमंच का अभाव भी है। नाटक मुख्यतः रंगमंच पर प्रस्तुत की जानेवाली वस्तु है इसलिये उनमें अभिनेयता का गुण होना भी आवश्यक है। उन्होंने लिखा है 'प्राचीन काल मे भी नाटकों की रचना अभिनय की दृष्टि से ही की जाती थी। इसीलिए हमारे यहाँ क आचार्यों ने नाटक के तत्वों की चर्चा करते समय प्रेक्षागृहों पर काफी प्रकाश डाला है। रंगमंच की लम्बाई चौड़ाई और उसके विभाजन आदि पर उन्होने विस्तार से विचार किया है। मुद्रण युग के पूर्व नाटक अभिनीत होकर ही सामाजिकों का मनोरंजन कर सकते थे। मुद्रण युग के पश्चात् नाटकों के साहित्यिक और रंगमचीय ऐसे दो भिन्न रूप हमारे सामने आये। सामाजिकों में भिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ नाटक पढ़कर रंगमंच की कल्पना द्वारा रसास्वाद लेने में समर्थ होते है और बहुत से ऐसे होते है जो उन्हें प्रत्यक्ष रंगमच पर देखकर ही रसार्द्र हो सकते है। ऐसी स्थिति मे यदि नाटक केवल पठनीय होने के साथ साथ अभिनय योग्य भी हो तो रस दुगुना बढ़ सकता है'

सृजनात्मकता —

साहित्य की सृजनात्मकता के विषय में विचार करते हुए डा० विनयमोहन शर्मा ने बताया है कि साहित्य के मूल में मुख्य प्रेरणा कल्पना की रहती है। उनके विचार से कल्पना "साहित्य का प्राण है जीवन का अंग है। यथार्थ को रूप देने के लिये भी हमें कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। कलाकार ने सृष्टि के 'जड़' और 'चेतन' में कभी भेद नहीं किया। उसे 'जड़' में भी अपनी 'चेतन' सत्ता का रूप दीख पड़ता है। जिस बात को कवि ने अपनी अन्तः प्रेरणा से अनुभव किया उसी का विज्ञान वेत्ता ने अपनी प्रयोगशाला में साक्षात्कार किया। यदि हम किसी दूकानदार का ज्यों का त्यों वर्णन कर दें तो वह एक व्यक्ति का फोटोग्राफ मात्र बन सकेगा। पर यदि हम अनेक व्यापारियों का निरीक्षण कर उनके समान स्वभाव प्रवृत्ति चाल ढाल का प्रदर्शक एक चित्र अंकित कर सकें तो हम व्यापारी का एक प्रतिनिधि चरित्र प्रस्तुत कर सकेंगे। कहा जाता है सीधी सादी भाषा लिखिये। उसे अलंकार से मत सजाइए। पर क्या यह संभव है? हम जीवन में क्या सर्वथा अलंकृत रहते हैं? हम उठते बैठते प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। लक्षणा व्यंजना हमारी भाषा का अंग बन गई है। प्रकृति का मानवीकरण हम सहज करते रहते हैं लहरें उठती हैं गिरती हैं। बसन्त आता है वर्षा जाती है। मनुष्य अपना ही रूप प्रकृति में सर्वत्र देखता है।"[१] शर्मा जी ने साहित्य को मानवीय अनुभवों की पूर्ण अभिव्यक्ति माना है जो कल्पना तथा प्रकृति का आश्रय लेकर विविध रूप ग्रहण करता है।

समालोचना का स्वरूप —

डा० विनयमोहन शर्मा ने समालोचना की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह साहित्य का यथार्थ दर्शन है। आलोचना को उन्होंने एक प्रकार का क्रियात्मक साहित्य माना है जो आलोचक की संस्कारितापूर्ण बुद्धि और ग्राहक हृदय व्यक्ति द्वारा रचा जाता है। उनका विचार है कि किसी भी युग में लिखे गये साहित्य का मूल्यांकन पूर्ण रूप से तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उस सामाजिक, धार्मिक और

१ "साहित्य शोध समीक्षा" डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ३३ ।

राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन न किया जावे जिनमें वह साहित्य रचा गया क्योंकि यद्यपि मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियाँ युगीन वातावरण से अधिक प्रभावित नहीं होती। परन्तु वैचारिक परम्पराओं में समाज का परिवर्तित रूप अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। इसलिये उन्होंने साहित्यालोचन के लिये इस पृष्ठभूमि को आवश्यक बताया। उनके विचार से समीक्षा के दो भाग होते हैं पहला शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में सिद्धान्त रचना होती है और परीक्षण में सैद्धान्तिक साहित्यालोचन। शर्मा जी ने लिखा है "समालोचना के दो अंग होते हैं। एक शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में श्रेष्ठ साहित्य के लक्षणों का विवेचन होता है। परीक्षण में साहित्य की शास्त्र के अनुसार या अन्य प्रकार से माप तौल होती है। शास्त्रीय समीक्षा में आलोचक तटस्थ होकर वैज्ञानिक की भांति शास्त्र नियमों की तुलना पर साहित्य को तौलता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में वह आलोच्य साहित्य से सर्वथा तटस्थ नहीं रहता। उसके साथ अपनी रुचि अरुचि का भी मेल करता जाता है। इस तरह अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में प्रभाववादी सौन्दर्यवादी प्रशंसावादी और मार्क्सवादी रूप मुख्य हैं। १

नन्ददुलारे वाजपेयी —

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी के वर्तमान समीक्षकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी समीक्षा पद्धति में प्राचीनता और नवीनता का संतुलित समन्वय मिलता है। उसमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी सम्मिश्रण है। उनके दृष्टिकोण में किसी प्रकार की अतिवादिता की सम्भावनाएं बहुत कम हैं क्योंकि उसमें अनेक समकालीन समीक्षकों की भांति प्राचीन या नवीन पूर्वी या पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्तों की ओर झुकाव नहीं दिखाई देता है। कभी यदि वे अपनी समीक्षा में भारतीय सिद्धान्तों को प्रमुखता देते हैं तो कभी पाश्चात्य विचारधारा प्रमुख हो जाती है परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है मुख्यतः एक समन्वयवादी समीक्षक का रूप ही उनमें प्रधान रहा है।

काव्य —

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के विचार से काव्य मनुष्य की अनुभूतियों का ऐसा

१ "साहित्यावलोकन", डा० विनयमोहन शर्मा पृ० ९९।

विषय है जो उसमें सौन्दर्य के प्रति सम्वेदना की उद्भावना करता है। उनके विचार से "कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति मात्रा और कोमलपन में अन्तर हुआ करता है, और अनुभूतियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है इसलिए काव्य विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्हीं विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। यों व्यावहारिक विभाग के लिए हम महाकाव्य गीति काव्य उपन्यास आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्वों का इतिहास और सामाजिक विकास क्रम में उनके परिवर्तित स्वरूपों का अध्ययन करते हैं। किन्तु काव्य साहित्य का तात्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही।"[1] इससे स्पष्ट है कि वाजपेयी जी काव्य को शाश्वत मानते हुए युग जीवन के अनुसार उसके स्वरूपात्मक परिवर्तन को आवश्यक समझते हैं।

आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ —

वाजपेयी जी ने अपनी आधुनिक साहित्य हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी" "नया साहित्य नया प्रश्न" तथा "जयशंकर प्रसाद" आदि पुस्तकों में जहाँ एक ओर अपने सैद्धांतिक विचारों का व्यावहारिक आरोपण किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हिन्दी साहित्य की विविध गद्य और और काव्य प्रवृत्तियों पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने यथासंभव तटस्थ दृष्टिकोण से ही उनके विषय में मूल्यांकन करते समय उनकी उपलब्धियों का निदर्शन किया है। ऐसा करते समय उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रचलित और विचारशील कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर भी अपने निष्पक्ष विचार प्रकट किए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रयोगवादी आन्दोलन और संचालकों के वादों और उपलब्धियों के विषय में सन्देह प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है, "प्रयोगवादी काव्य की इस अंधाधुंध में सबसे बड़ी बुराई यह हुई कि काव्य कला सम्बन्धी स्थिर परिमाणों पर किसी का विश्वास नहीं रहा और पंत जैसे *सिद्ध कवि भी कविता का पल्ला* छोड़कर वादों का रंग अलापने लगे। उससे भी

1 "आधुनिक साहित्य", श्री नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० ४०९।

अधिक उसका कारण यह हुई कि समीक्षा के क्षेत्र म काव्य सम्बन्धी विचार परम्परा सुरक्षित न रह सकी। काव्य और वाद को एक ही श्रेणी मे मिला दिया गया।

समीक्षा का रूप —

वाजपेयी जी के विचार से समीक्षक का मुख्य कार्य कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसन्धान करना है। ऐसा करने में उनका व्यापक अध्ययन सूक्ष्म सिद्धान्तों का सौन्दर्यदृष्टि और उसकी सिद्धान्त निरपेक्षता सहायक हो सकते है परन्तु जहाँ तक सिद्धांतों प्रश्न है व इस कार्य में बाधक ही बन सकते है। उनका यह दृढ़ विचार है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं करते। इनका कारण वह यह समझते हैं कि सभी सिद्धान्त सीमित हैं किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि किसी संकुचित दृष्टि से बाधित नहीं है।

वैचारिक आन्दोलन —

समीक्षा म विविध विचारधाराओं के अन्धानुकरण के फलस्वरूप जो वैचारिक संकुचितता और स्वच्छीनता दिखाई दे रही है इसके भी वाजपेयी जी विरुद्ध है। उनका यह विचार है कि जहाँ और कोई समीक्षक किसी सैद्धान्तिक विचारधारा का कट्टर अनुगमन करके निष्पक्ष समीक्षा नहीं कर सकता उसी प्रकार व किसी वाद का दृढ़ अनुगमन करने वाला समीक्षक भी न्यायपूर्वक समीक्षा नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने किसी भी वाद द्वारा निर्देशित मार्ग का स्वीकरण स्तरीय साहित्य की रचना और विकास के लिए बाधक बताया। उनका यह मत है कि प्राय साहित्य और समीक्षा क क्षेत्र जिन विचारधाराओं और सिद्धान्तों से प्रभावित रहे हैं उनका सम्बन्ध किसी न किसी राजनीतिक आर्थिक या सामाजिक आन्दोलन स रहता है। एक साहित्यकार या समीक्षक के लिए यह सीमाएं एक बड़ी बाधा हैं। इसलिए किसी भी वाद के प्रति कट्टर आग्रह उचित नहीं है इसके अतिरिक्त जहाँ तक समीक्षा दृष्टि का प्रश्न है वाजपेयी जी के मत के अनुसार समीक्षक को किसी कृति की समीक्षा स्वतंत्र रूप ही से करनी चाहिए क्योंकि जब तक ऐसा न होगा तब तक इस प्रकार की समीक्षा की सम्भावनाएं भी नहीं होंगी।

वाजपेयी जी को विविध विचारधाराओं तथा सिद्धान्तों की गहन जानकारी है।

इसका कारण यह है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन किया है। इसलिए किसी भी "वाद" का बाह्य आवरण या आकर्षण उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता। इसलिए वाजपेयी जी अनेक आधुनिक विचारधाराओं से किसी प्रकार की कोई सहानुभूति नहीं रखते। उदाहरण के लिए प्रगतिवादी विचारधारा से वाजपेयी जी की सैद्धान्तिक असहमति इस कारण से है क्योंकि उनका यह विचार है कि वह एक विशिष्ट वर्ग के लिए लिखित और समर्पित साहित्य को ही श्रेष्ठ समझता है इसलिए वह उसे त्याज्य समझते हैं। उन्होंने लिखा है "मार्क्सवादी सामाजिक आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और अग्राह्य भी हो जाती है। समाजवादी प्रतिष्ठा के पूर्व का संपूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है। अतएव मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ स्वागत योग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादियों की यह उत्पत्ति इसी दृष्टि से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है।

समीक्षात्मक मान्यताएं –

अपने 'नया साहित्य' नये प्रश्न' नामक निबन्ध संग्रह में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने एक निबन्ध में अपनी समीक्षात्मक मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया है। इसमें उन्होंने साहित्यिक आलोचना को व्यक्ति की निजी मान्यताओं की परिधि से बाहर बताया है। साहित्य समीक्षा के सिद्धान्त व व्यवहार पक्ष का प्रसार सुदीर्घ कालिक है। उनके विचार से "उसका प्रसार सहस्रों वर्षों और सुदूर देशों में होता रहा है। उसके निर्माण और विकास में संसार के कुछ महान् मस्तिष्कों ने योग दिया है। एक ओर उनका सिद्धान्त पक्ष है, जिसकी शाखाएं दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों में फैली हुई हैं और दूसरी ओर उसका क्रियमाण या व्यावहारिक रूप है जो मानव भावना कल्पना और सौन्दर्य चेतना की सांस्कृतिक भूमियों में प्रसारित है। सैद्धान्तिक आलोचना के बहुत से रूप तथा स्तर हैं जिनका सम्बन्ध विभिन्न देशों और कालों की रुचियों और प्रवृत्तियों से है। इसी प्रकार प्रयोगात्मक आलोचना की भी अनेकानेक विधियाँ शैलियाँ और प्रकार हैं जिन सब पर व्यक्ति विशेष की मान्यता कोई प्रभाव नहीं डाल सकती संक्षेप में साहित्यिक आलोचना की एक वस्तुगत सत्ता और ऐतिहासिक अस्तित्व है जो किसी की व्यक्तिगत मान्यता पर अवलंबित नहीं।"[1] इस प्रकार समीक्षा के व्यापक

१ नया साहित्य' 'नये प्रश्न' श्री नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० १११।

स्वरूप को स्वीकार करते हुए उन्होंने बताया है कि साहित्य का कार्य राष्ट्र को विकास की ओर उन्मुख करना है। इसके लिये महान् राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता है इसलिये उसके प्रति जागरूकता ही साहित्यकार का मुख्य कर्तव्य है।

डॉ० नगेन्द्र :—

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में समन्वयवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी समीक्षा कृतियों में 'सुमित्रानन्दन पन्त' 'साकेत' एक अध्ययन' 'आधुनिक हिन्दी नाटक' विचार और अनुभूति' 'विचार और विवेचन' 'रीति काव्य की भूमिका' देव और उनकी कविता' आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' तथा 'विचार और विश्लेषण' आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेक रचनाएं ऐसी भी हैं जो अनुवादित या सम्पादित हैं। उनमें भी विस्तृत भूमिकाओं के रूप में नगेन्द्र के समीक्षात्मक विचारों का परिचय प्राप्त होता है। डॉ० नगेन्द्र ने एक ओर जहाँ प्राचीन संस्कृत काव्य शास्त्र का गहन अध्ययन किया है वहाँ दूसरी ओर प्राचीन यूनानी और रोमीय शास्त्रीय परम्पराओं की भी अवगति उन्हें है। इसलिए उनका समीक्षा शास्त्रीय दृष्टिकोण भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र की समीक्षा पद्धति की एक प्रमुख विशेषता उसकी पुष्ट मनोविश्लेषणात्मक पृष्ठभूमि है।

काव्य —

काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते समय डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य के कुछ मूलभूत प्रश्नों और तत्वों की ओर संकेत किया है। साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित अनेक सिद्धान्तों की दृष्टि से परीक्षण करने के पश्चात् उन्होंने यह स्थापना की है कि 'काव्य में तीन तत्व अनिवार्य हैं रमणीय अनुभूति उक्ति वैचित्र्य तथा छन्द अर्थात् वर्ण संगीत और लय संगीत। इन तीनों तत्वों का समन्वित रूप से ही कविता है पृथक-पृथक किसी को कविता नहीं कहा जा सकता। इनमें पहले दो तत्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अंग हैं। तीसरा तत्व अर्थात् छन्द इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है। १

१ डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध सं० श्री भारत भूषण अग्रवाल पृ० २४।

रस —

रस के स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने इस विषय पर प्रस्तुत किये गये संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों के मतों का भी विश्लेषण किया है। फिर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठते हैं (१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है? (२) क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है? (३) क्या यह आनन्द अलौकिक और निराला है।"[1] और इनके सन्दर्भ में कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण भी सामने रखे हैं। अन्त में निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह बताया है कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति होते हुए भी साधारण न होकर भावित है। अनुभूति मनोजगत का अणु परमाणु है। काव्य की अनुभूति भी मूलतः सम्वेदन रूप ही है और वह शुद्ध तथा सरस होती है।

नैतिक मूल्य —

डा० नगेन्द्र ने साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के सन्दर्भ में नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर भी विचार किया है। उनके विचार से आत्माभिव्यक्ति का तो महत्व है ही इन मूल्यों का भी स्वतंत्र महत्व है। उन्होंने लिखा है "मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अनिवार्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण हैं, समाज की संघ शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है। साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उस जीवन के उपकरण दिये भौतिक और भावगत परम्पराएं दीं उसका ऋण शोध करना उसका धर्म है इससे स्वार्थ भावना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि

१ वही पृ० ८७।

होती है। १ इस प्रकार से उन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि लेखक का समाज के प्रति भी गम्भीर दायित्व केवल निश्छल आत्माभिव्यक्ति ही है क्योंकि इसी के कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार बन पाता है।

छायावाद —

आधुनिक काव्य प्रवृत्तियो में से छायावादी के विषय म विचार करते हुए डा नगेन्द्र ने उसे एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति कहा है जिसे जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। उनके विचार से 'इस दृष्टिकोण का आधेय नवजीवन के स्वप्नों और कुंठाओं के सम्मिश्रण से बना है प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है। भाव प्रवृत्ति के प्रतीकों द्वारा विचार पद्धति उसकी सर्वात्मवादी मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली। २ डा० नगेन्द्र का विचार है कि छायावादी कविता विश्व स्तर के दृष्टिकोण से प्रथम श्रेणी की नहीं है क्योंकि कुंठा द्वारा प्रेरित कविता कभी भी प्रथम श्रेणी की नहीं हो सकती। अन्त में उन्होंने छायावाद की उपलब्धियो का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि 'इस सीमा को स्वीकार कर लेने के बाद छायावादी को अधिक से अधिक गौरव दिया जा सकता है। और तब ही जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य चेतना जगाकर एक वृहद् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया जिसने उसकी वस्तु मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव वीचियों को पकड़ सके जिसने जीवन की कुंठाओ को अनन्त रंग वाले स्वप्नो मे गुदगुदा दिया जिसने भाषा को नवीन हाव भाव नवीन अनुभाव और नवीन विभ्रम कमाल प्रदान किये जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया चित्रो मे जगमग कर दिया, और अन्त में जिसने 'कामायनी का समृद्ध रूपक' "पल्लव" और "युगान्त' की कला "नीरजा" के मधु भीने गीत "परिमल" और "अनामिका" की अम्बर चुम्बी उड़ान दी उस कविता

१ 'विचार और विवेचन' डॉ० नगेन्द्र पृ० २२।

२ 'डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध' सं० श्री भारतभूषण अग्रवाल पृ० १००–१०१।

का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति काव्य ही कर सकता है।"[1]

प्रयोगवाद —

आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में हुए प्रयोगवादी आन्दोलन पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने बताया है कि सामान्य रूप से प्रत्येक युग की कविता प्रयोगवादी ही होती है। आधुनिक युग में प्रयोगवादी कविता के आन्दोलन में इसका प्रयोग भिन्न और रूढ़ अर्थ में किया गया है। प्रयोगवाद का जन्म हिन्दी कविता के क्षेत्र में छायावाद के प्रति असन्तोष की भावना से हुआ है। प्रयोगवादी कविता का मूल तत्व काव्य विषयक प्रयोग ही है। इसके कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही भाँति काव्य भी नैसर्गिक रूप से एक गतिशील सत्य है, जिसकी वास्तविक साधना उसके प्रयोग में ही है। प्रयोगवादी काव्य में वस्तु परक दृष्टिकोण की प्रखरता भी कहीं कहीं दिखायी पड़ती है। अधिकांश प्रयोगवादी कवियों की प्रवृत्ति एकान्त अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं।[2] भाव वस्तु और शैली शिल्प के क्षेत्र में भी इस विचारधारा का आग्रह प्रखर है। काव्य में प्रयोग का महत्व अवश्य है परन्तु मूल्यों का सन्तुलन बना रहना आवश्यक है।

डा० देवराज —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की समन्वयवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० देवराज का नाम भी लिया जा सकता है। उनकी समीक्षा कृतियों में "छायावाद का पतन" "साहित्य चिन्ता", "आधुनिक समीक्षा कुछ समस्याएँ" तथा "साहित्य और संस्कृति" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० देवराज ने संस्कृत साहित्य शास्त्र पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र, भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन शास्त्र और मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया है। इसी कारण उनकी समीक्षा दृष्टि में एक प्रकार का विलक्षण सन्तुलन और समन्वय दिखायी देता है।

१ "डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध" सं० श्री भारतभूषण अग्रवाल पृ० १०२।
२ 'डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध' सं० श्री भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १०२।

साहित्य —

डा० देवराज के विचार से साहित्य जीवन और जगत को एक विशिष्ट दृष्टि से देखता है। साहित्य में जीवन की विभिन्न स्थितियों के विश्लेषण के अवसर होते हैं। उनके विचार से 'साहित्य रागबोधात्मक अनुभूति अथवा वैसी अनुभूति की लिखित भाषा में अभिव्यक्ति है। दृष्टि या चेतना के सम्मुख आने वाले सभी विषयों के प्रति हम राग विराग अनुभव नहीं करते कारण यह है कि हम उन्हें अपने सुख दुख से सम्बन्धित करके अपने जीवन की परिधि में नहीं ला पाते। हमारा साधारण जीवन बहुत थोड़े से परिवेश से सम्बद्ध और उसी के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है। भौतिक और सामाजिक विज्ञान हमारी बोध चेतना का विस्तार करते हैं तब हम महसूस करते हैं कि हमारा क्षुद्र दीखने वाला भौतिक सामाजिक परिवेश देश काल में फैली हुई अनन्त वास्तविकता का अंग है और वह उस वास्तविकता के संचालक जटिल नियमों से नियमित है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा हम अपने जीवन को एक ओर विस्तृत प्रकृति जगत से और दूसरी ओर इतिहास एवं आर्थिक राजनैतिक शक्तियों या संगठनों से सम्बद्ध करके देखना सीखते हैं। १

समीक्षक —

एक समीक्षक के लिये अपेक्षित गुणों की ओर संकेत करते हुए डा० देवराज ने बताया है कि उसमें तीन योग्यताएँ, होनी चाहिए। साहित्यिक कृति को पहचानने अथवा कलात्मक अनुभूति को ग्रहण करने की योग्यता उस कृति या अनुभूति की विशेषताओं को भाषा में व्यक्त कर सकने की योग्यता और उसके मूल्यांकन के लिए एक दृष्टिकोण। २ इन गुणों में उन्होंने भावुकता अथवा सहृदयता को समीक्षक का प्रधान और आवश्यक गुण माना है। उन्होंने लिखा है "जो रसज्ञ या भावुक नहीं है जो काव्य कृति या काव्यानुभूति की देखते ही नहीं पहचान या हृदयंगम कर लेता वह आलोचक नहीं बन सकता। सफल आलोचक होने से पहले मनुष्य को सफल पाठक होना चाहिए। क्योंकि साहित्य

१ "साहित्य चिन्ता", डा० देवराज भूमिका, पृ० १।
२ वही पृ० ८।

कार अपनी अनुभूति को भाषा के प्रतीकों में व्यक्त करता है इसलिये प्रत्येक पाठक और आलोचक का भाषा से प्रगाढ़ परिचय होना चाहिये। और चूंकि काव्यगत अनुभूति एक विशिष्ट रसमयी होती है इसलिये उसमें विशिष्ट रसग्राहिता की उपस्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि विद्वान साहित्यकारों की कृतियाँ समझ सकने के लिये पाठकों और आलोचकों को सुशिक्षित होना चाहिये। वस्तुतः साधारण पाठकों की अपेक्षा आलोचकों का ज्ञान भंडार कहीं अधिक सम्पन्न होना चाहिए।"

छायावाद —

डा० देवराज के मतानुसार छायावादी कवियों की रचनात्मक शक्ति के त्वरीत ह्रास के अनेक कारण में से एक यह भी है कि उनके पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन, सामाजिक आदर्श या सामाजिक सन्देश नहीं था। उन्होंने लिखा है वस्तुतः छायावादी काव्य नैतिक धरातल पर अनलक्षित समत्वभावना और व्यक्ति की महत्व घोषणा का काव्य है। सामन्ती राजा रानियों के चरित्र के स्थान पर वह साधारण मनुष्य के साधारण मनोभावों और आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित करता है। महादेवी जी कहीं कह गई हैं कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यह वक्तव्य छायावाद की व्यक्तिवादी "स्पिरिट" को प्रकट करता है उसमें ब्रह्म और रहस्यवाद के महत्व का कोई संकेत नहीं है। निःसंदेह छायावाद इहलौकिक प्रेम और सौन्दर्य भावना का काव्य है। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप और प्रेम निवेदन को ब्रह्म विषयक घोषित करना, यह कहने का एक ढंग मात्र है कि छायावादी कवि का इन चीजों में अनुराग है। अन्ततः काव्य साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन और स्वयं मानवी भावनाएँ ही हैं, और काव्य का उच्चतम धरातल होता है दैवी या पारलौकिक नहीं।"२

प्रगतिवाद —

"प्रगति और परम्परा" शीर्षक निबन्ध में डा० देवराज ने प्रगति की व्याख्या करते हुए उसका अर्थ बताया है बाह्य तथा आन्तरिक यथार्थ चेतना का उत्तरोत्तर

१ 'साहित्य चिन्ता', डा० देवराज
२ आधुनिक समीक्षा डा० देवराज

विस्तार । उनके विचार से प्रगति के विभिन्न युगीन उपकरणों का आत्मसात् करने के लिये उच्चकोटि का विवेक अपेक्षित है। प्राचीनता और नवीनता का सन्तुलित स्वीकरण तभी सम्भव है। उन्होंने लिखा है "ऐसी स्थिति में प्रगति एवं प्रगतिवादिता का एक ही अर्थ हो सकता है मानवता के चेतना मूलक एवं सृजनात्मक जीवन को लगातार आगे की ओर बढ़ाते चलना। प्रगतिशील कलाकार को आवश्यक रूप में पुरानी शैलियों संगठन प्रकारों में परिवर्तन संशोधन अथवा क्रान्ति करनी पड़ती है, आवश्यक रूप से उसे अपनी कला में नवीन विषय वस्तु का समावेश करना पड़ता है। किन्तु इन सबका उद्देश्य एक ही होता है मानव मस्तिष्क में यथार्थ की अधिक समृद्ध चेतना उत्पन्न करना और सृजनात्मक संगठन के नये रूपों में मानव जीवन की विविधता एवं स्वतन्त्रता का प्रसार करना। इस दृष्टि से देखने पर प्रगति एवं परम्परा की माँगों अथवा मर्यादाओं में कोई मौलिक विषमता या विरोध नहीं है। १

प्रयोगवाद —

हिन्दी कविता के आधुनिक प्रयोगवादी आन्दोलन के स्वरूप पर विचार करते हुए डा० देवराज ने लिखा है कि हिन्दी में प्रयोगवाद का प्रयोग कुछ वर्षों से हो रहा है। उन्होंने बताया है कि यद्यपि यह ठीक है कि प्रायः सभी युगों में प्रयोग होते रहे हैं और साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ भी प्रयोगात्मक ही रही हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग सदैव सफलता तथा उच्चता के ही द्योतक होते हैं। उनके विचार से "कोई कृति केवल इसलिये महत्वपूर्ण नहीं बन जाती कि उसमें (विज्ञापित या स्थूल कोटि का) प्रयोग है कृति का महत्व उसमें निबद्ध अनुभूति की तीव्रता गहराई, विस्तार, सूक्ष्मता, तीव्रता, स्पष्टता आदि से निर्धारित होता है। दूसरे प्रकृति प्रयोग अभिव्यक्ति न उक्त विशेषताएँ लाने के उपकरण होते हैं। हिन्दी प्रयोगवाद अब तक जो काम करने की कोशिश करता रहा है युग की विशिष्ट संवेदना को प्रकाशित और गठित करने की और अभिव्यक्ति में नवीनता तथा ताजगी लाने की। उसमें अभी श्रेष्ठ काव्योचित गरिमा विस्तार और गहराई की कमी या अभाव है। लेखकों और परीक्षकों दोनों को समकालीन हिन्दी काव्य और कथा साहित्य से भी उन प्रकृत प्रयोगों की माँग करनी चाहिये जो उक्त गुणों की प्रतिष्ठा का साधन बनते हैं। २

१ आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज पृष्ठ ४८ ।
२ साहित्य और संस्कृति डा० देवराज पृ० ७८.

महत्व और सम्भावनाएँ —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित जिन प्रवृत्तियों की चर्चा ऊपर की गयी है उनमें से समन्वयवादी समीक्षा की प्रवृत्ति क्षेत्र के विस्तार तथा दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से सबसे अधिक प्रशस्त है। यह एक प्रकार से प्राचीन और नवीन, पूर्वी तथा पश्चिमी सभी विचारधाराओं का मिश्रण है। इसके अतिरिक्त इसमें न तो शास्त्रीय पद्धति की भाँति रूढ़िवादिता है और न आधुनिक युगीन विभिन्न वैचारिक पद्धतियों की भाँति कट्टर पंथानुगामिता। इसमें शास्त्रीय सिद्धान्तों का नवीन रूप तथा आधुनिक विचारधाराओं की विवेकपूर्ण स्वीकृति मिलती है। इसीलिए समीक्षा की अन्य पद्धतियों की तुलना में इसी की सम्भावनाएँ सबसे अधिक प्रतीत होती हैं।

निष्कर्ष —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित उपर्युक्त विशिष्ट प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनमें पर्याप्त विविधता तथा समयानुरूपता है। जैसा कि ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट है आधुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ भारतेन्दु युग के पूर्व ही हो चुका था। आरम्भ में हिन्दी समीक्षा का रूप प्रायः परम्परानुगामी ही रहा। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा समीक्षा के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम क्रिया शीलता रही। समीक्षा की धारा भी पर्याप्त अप्रौढ़ थी और किसी भी प्रकार से आधुनिक युग की चिन्तन परम्पराओं के अनुपात में गहनता लिये हुए नहीं थी। इसके अतिरिक्त उसमें एक प्रकार की अनिश्चयता की स्थिति भी थी जो प्रायः संक्रान्ति युग के साहित्य रूपों में होती है। इसका मुख्य कारण यह था कि न तो उसमें शास्त्रीयता का ही पूर्ण रूप से अनुगमन मिलता था और न उसमें पाश्चात्य प्रभाव को ही सम्यक् रूप से ग्रहण किया गया था।

भारतेन्दु युग से लेकर वर्तमान युग तक की विशिष्ट हिन्दी समीक्षा प्रवृत्तियों में व्याप्त गत्यशीलता इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि उनका स्वरूप प्रायः युग और परम्परा के अनुसार ही निर्धारित होता रहा है। भारतेन्दु युग में जो समीक्षा होती थी वह किसी कृति अथवा कृतिकार की प्रशंसा अप्रशंसा की पूर्व भावना से ही आग्रहीत थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह उनके गुण दोष कथन तक ही सीमित थी। द्विवेदी युग में भाषा और भाव की दृष्टि से भी उसका परीक्षण आरम्भ

हुआ। साहित्यकारों के प्रशस्ति गान के स्थान पर इस युग में उनकी कमियों की ओर भी विशेष रूप से संकेत किया गया तथा उनके परिष्कार की चेष्टा हुई। शुक्ल युग में हिन्दी समीक्षा क्षेत्र की व्यापकता और भी बढ़ी। समीक्षा के मान अपेक्षाकृत विशद दृष्टि से निर्धारित हुए। शुक्लोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वित रूप में समावेश के साथ धीरे धीरे स्थिरता प्राप्त करने लगी।

ऊपर जिन विशिष्ट समीक्षा प्रणालियों की चर्चा की गयी है, वे हिन्दी समीक्षा की व्यापक आधार भूमि और सम्भावनाओं का द्योतन करती हैं। उनमें जहाँ एक ओर प्राचीनतावादी परम्पराएं मिलती हैं वहां दूसरी ओर आधुनिक चिन्तन की नवीनतम प्रणालियों का भी परिचय प्राप्त होता है। विविध साहित्यिक आन्दोलनों की समीक्षात्मक परिणति का सूचन करने वाली ये प्रवृत्तियां समीक्षा क्षेत्रीय किसी भी अंश को रिक्त नहीं रखे हैं। यहाँ तक कि भाषा विज्ञान तथा शोध जैसे क्षत्रों में भी उनका तीव्र गति से जो प्रसार हो रहा है, वह उसकी रूपात्मक सम्पन्नता का परिचायक है। मनोविश्लेषण आदि का आधार लेकर जो प्रवृत्तियां विकसित हुई हैं, वे युग के अनुकूल चिन्तन का प्रमाण देती हैं। समन्वयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति भारतीय गौरव के अनुकूल ही विषय की विशदता और सम्पूर्णता से युक्त दृष्टिकोण की सूचक है।

हिन्दी समीक्षा की विविध पद्धतियों का सैद्धान्तिक आधार मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य तथा उससे प्रभावित परम्पराएं ही हैं यद्यपि पाश्चात्य समीक्षा का भी व्यापक रूप से तत्त्वगत समावेश उसमें मिलता है। भारतीय सिद्धान्तों में जो व्यापकता और सूक्ष्मता है वह उनके गहन चिंतनात्मक आधार की सूचक है। इसलिए हिन्दी समीक्षा के लिए उनकी अस्वीकृति सर्वथा असम्भवनीय है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि रूढ़िवादिता से हिन्दी समीक्षा का न तो स्तर ही ऊंचा उठ सकता है और न उसका आधुनिक युग प्रसार ही। इसलिए उसकी भावी सम्भावनाओं की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण स्वीकृति के साथ ही साथ पाश्चात्य नवीन चिन्तन धाराओं के ग्राह्य तत्त्वों को उस में समाविष्ट किया जाय। हिन्दी समीक्षा का वर्तमान रूप इसी दिशा में निर्धारण प्राप्त कर रहा है और इसलिए उसकी सम्भावनाएं सन्तोषजनक तथा क्षेत्र प्रशस्त है।

अध्याय १०

उपसंहार

सम्यक मान के निर्धारण की आवश्यकता और सम्भावनाएँ

पिछले अध्यायों में किये गये अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साहित्य के मानदंड के निर्धारण की समस्या अत्यन्त व्यापक होने के साथ ही साथ बहुमुखी भी है। इसका सम्बन्ध चिन्तन के उन पक्षों से है जो युगीन चेतना से प्रभावित होते हैं। युग परिवर्तन के साथ प्रायः सदैव ही नवीनता का आविर्भाव होता है। यह नवीनता दीर्घकालीन संभ्रान्ति और गतिरोध का परिणाम होती है। इसका आधार एक अनिश्चयात्मक स्थिति होती है। उससे कई सत्य द्योतित होते हैं। एक यह कि प्राचीन प्रवृत्तियों में ह्रासात्मकता दिखाई देती है और दूसरे यह कि अभिनव विकास की सम्भावनाएँ आभासित होती हैं। यह एक यथार्थता है और साहित्य तथा उसके मूल्यांकन के दृष्टिकोण से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न युगों का साहित्यिक इतिहास इस तथ्य का प्रमाण देता है।

आवश्यकता —

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या इस प्रकार से एक मूलभूत समस्या है जिसकी उपेक्षा कोई भी सजग चिन्तक नहीं कर सकता। साहित्य के मूल्यांकन के ऐसे मानदंड का निर्धारण करना, जो युग और प्रवृत्ति की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके गम्भीर और स्थायी रूप से साहित्य की कसौटी बन सके और उसकी श्रेष्ठता की परख कर सके *यही संक्रांति कालीन प्रबुद्ध विचारक के सामने प्रधान चिन्तन बिन्दु* है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है यथार्थ साहित्य स्वर की उपेक्षा करके उसका निर्धारण नहीं हो सकता। साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न युगों में जो प्रयत्न विविध आन्दोलनों के रूप में किए जाते हैं उनका उद्देश्य केवल एक ही दृष्टिकोण से साहित्य की परख करना होता है। सर्वांगीण रूप से साहित्य को आधार बनाते हुए उसका शाश्वत मान निर्धारण इस प्रकार के आन्दोलनों का उद्देश्य नहीं होता। साहित्य

के क्षेत्र में जो सैकड़ों आन्दोलन अब तक आयोजित किए गए हैं और जिन दर्जनों वादों का प्रचलन होता रहा है उनमें एकांगिता की व्याप्ति का यही मुख्य कारण है।

रूपात्मक आधार की प्रधानता :—

भारतीय अथवा पाश्चात्य भाषाओं में समीक्षा के क्षेत्र में जितने भी आन्दोलन हुए और जो मानदंड निर्धारित किए गए, उनका अध्ययन करने पर हमें इस तथ्य की अवगति होती है कि प्रायः प्रत्येक युग मे साहित्य के रूपात्मक आधार को ही प्रधानता दी गई है। यह कथन पाश्चात्य आन्दोलनों के सन्दर्भ में विशेष रूप से सत्य है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि सक्रान्ति या प्रतिरोध के युगों में जिन आन्दोलनों का सूत्रपात होता है, वे प्रायः उसके उन्ही तत्वों से सम्बन्ध रखते हैं जो व्यापक होते हैं और अन्य तत्वों से सम्बन्ध नहीं रखते प्राचीन भारतीय समीक्षात्मक सिद्धान्तों के विषय में भी यही कथन सत्य है। रूपवाद प्रतीकवाद तथा अभिव्यंजनावाद आदि विदेशी एवम् वक्रोक्ति तथा अलकार आदि भारतीय वादों और सिद्धान्तों का स्वर और आधार भी हमारे इस कथन का प्रमाण है।

सैद्धान्तिक एकांगिता —

समीक्षा की प्रक्रिया और स्वरूप का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते है कि वह एक प्रकार का पूर्ण इतिहास है जो मूलतः एक सांस्कृतिक कृत्य का आभास देता है। उसमें किसी विशिष्ट दृष्टिकोण की स्थिति इसीलिए अनिवार्य है क्योंकि उसके अभाव में उसका महत्व समाप्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो अनेक प्रकार की समीक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन सब में मुख्यतः एक ही मूल तत्व दृष्टिगत होता है। उनमें हमें यह दिखाई देता है कि किसी साहित्य में कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं। साहित्य मानवी अनुभूतियों की स्पन्दन युक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। इसीलिए पाठक पर उसका प्रभाव पड़ता है। ऊपर जिस रूपात्मक कसौटी का उल्लेख किया गया है उसको हम इसी कारण से अपूर्ण या एकांगी मानदंड कहते हैं क्योंकि साहित्य की रचना की व्यापक प्रक्रिया के केवल एक ही पक्ष से उसका सम्बन्ध है। जो भी साहित्यवाद और समीक्षात्मक मानदंड विभिन्न युगों में आविर्भूत होते हैं वे साहित्य के व्यापक स्वरूप में से केवल किसी एक अंग का चयन कर लेते हैं और उसे एक विशेषता अथवा तत्व मान कर केवल उसी

से सम्बद्ध रहते हैं। समीक्षात्मक मानदंडों और प्रवृत्तियों में जो भारी अन्तर और पारस्परिक विरोध पाया जाता है उसके मूल में भी यही कारण है।

समीक्षा के एकांगी होने के कारणों की ओर ऊपर संकेत किया गया परन्तु हमें तो मुख्यतः इस बात पर विचार करना है कि सम्यक मानदंड का निर्धारण कैसे हो सकता है। बाह्य रूप का परीक्षण करने वाले जो मानदंड हैं वे अभिव्यक्ति के प्रकार की कसौटी मात्र कहे जा सकते हैं। उनका सम्बन्ध साहित्य में निहित अन्य तत्वों से विशेषतः नहीं होता। इसी प्रकार से समीक्षा के जो मानदंड उसके आन्तरिक तत्वों का परीक्षण करते हैं उसके बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति के प्रकार पर अधिक गौरव नहीं देते और उसकी उपेक्षा करते हैं। कहने का आशय यह है कि साहित्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूपों का पृथक-पृथक रूप से मूल्यांकन करने वाले समीक्षात्मक मानदंड पूर्ण नहीं कहे जा सकते। यदि उसकी विषय वस्तु की परख करने वाले मानदंड में एकांगिता होती है तो उसके बाह्य रूप का परीक्षण करने वाले मानदंड में भी अपूर्णता होती है।

पूर्ण समीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसमें उपर्युक्त प्रकार की एकांगिता न हो। यह तभी सम्भव होगा जब उसमें युग अथवा साहित्य के किसी भी यथार्थ की उपेक्षा न की जाए। सम्यक समीक्षा का सृजन करने वाला मानदंड हम उसी को कह सकेंगे जिसमें उपर्युक्त सक्षमता विद्यमान हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि समीक्षात्मक मान में अनिवार्य रूप से इतनी पूर्णता हो कि वह किसी साहित्य की मूल अनुभूति का भी परीक्षण कर सके और इसके साथ ही साथ उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार की उपयुक्तता की परख कर सके।

संस्कृत समीक्षा सिद्धान्त —

प्राचीन संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत जो चिन्तन हुआ है और उसमें समीक्षा का जो स्वरूप मिलता है उसमें अधिकांशतः साहित्य के गुण दोष निरूपण की प्रवृत्ति ही विद्यमान दिखाई पड़ती है। दूसरे शब्दों में संस्कृत समीक्षात्मक सिद्धान्तों में भी वह एकांगिता दिखाई देती है, जो पाश्चात्य विचारधाराओं में मिलती है यद्यपि आनुपातिक रूप में वह पाश्चात्य समीक्षा की अपेक्षा अधिक व्यापकता और पूर्णता के परिचायक हैं। उनमें भी साहित्य को या तो रसात्मकता की दृष्टि से परखा गया है और या

फिर अलंकार निरूपण की दृष्टि से। इस प्रकार के दृष्टिकोण में यद्यपि कलात्मक पूर्णता का अभाव नहीं मिलता परन्तु यह भी निश्चित है कि उसमें अनेक महत्वपूर्ण तत्व पूर्णरूप से उपादेय भी प्रतीत होते हैं। क्षेमेन्द्र जैसे पंडित जब औचित्य निरूपण प्रस्तुत करते हैं तब वे पद औचित्य स्वभाव औचित्य तथा प्रतिभा औचित्य आदि का उल्लेख करते हुए औचित्य की दृष्टि से साहित्य की परख की कसौटियाँ बताते हैं। तब वह नीति औचित्य तथा सौन्दर्य औचित्य अथवा धर्म औचित्य जैसे औचित्यों का उल्लेख तक नहीं करते। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय दृष्टिकोण से यद्यपि संस्कृत के साहित्य शास्त्री बहुत उच्चकोटि के चिन्तक थे परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने कभी भी यथार्थ रूपसे किसी मूल अनुभूति को समग्र मानवता अथवा शाश्वतता की पृष्ठभूमि में नहीं देखा। इसीलिए हम यहाँ पर अपना यह कथन फिर दुहराते हैं कि संस्कृत समीक्षा के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में विशेष रूप से साहित्य की बाह्य रूपात्मक अथवा अभिव्यक्तिगत विशेषताओं की ही परख करने की चेष्टा की गई। इसलिए संस्कृत समीक्षा के सिद्धान्त आधुनिक युग में रचे गये अधिकांश साहित्य की परख के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होते।

हिन्दी रीति सिद्धान्त —

संस्कृत समीक्षा के पश्चात् उसी का पूर्ण आधार और प्रेरणा लेकर हिन्दी समीक्षा का आविर्भाव और विकास हुआ। इसीलिए हिन्दी समीक्षा के लिए भी यह आवश्यक था कि आरम्भ में वह संस्कृत समीक्षा का ही सैद्धान्तिक रूप से अनुगमन करती। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में जो समीक्षा साहित्य लिखा गया, उसका आदर्श प्रायः संस्कृत समीक्षा के सिद्धान्त ही हैं। जहाँ तक आधुनिक हिन्दी समीक्षा का सम्बन्ध है भारतेन्दु युग से इसका आरम्भ माना जा सकता है। यद्यपि इस युग में कुछ लेखकों ने समीक्षक का कार्य किया परन्तु इस युग के समीक्षकों की दृष्टि में जो रूढ़िवादिता और परम्परानुगामिता की प्रवृत्ति व्याप्त थी उसमे युग की हिन्दी समीक्षा का सम्यक् रूप से विकास नहीं होने दिया। आगे चलकर द्विवेदी युग में हिन्दी समीक्षा को यद्यपि एक प्रशस्त मार्ग मिला, परन्तु उसमें भी रूढ़िवादिता का अभाव न रहा। भारतेन्दु युग की भाँति इस युग के समीक्षक भी साहित्य के उच्च मूल्यों और उदात्त तत्वों की उपेक्षा करके उन गुण और दोषों का ही विवेचन करते रहे और इसी अपना कर्तव्य की इति भी समझते रहे। इस कारण हिन्दी रीति सिद्धान्त में आगे चलकर परम्परा के रूप में ही मान्य रह गये।

आधुनिक सिद्धान्त —

इस युग तक हिन्दी समीक्षा में प्रायः संस्कृत का पिष्टपेषण ही किया गया है। शुक्ल युग में इस स्थिति में अवश्य कुछ सुधार हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को उसकी उच्चतम सम्भावना के स्तर पर ले जाकर प्रतिष्ठित किया। भारतेन्दु और द्विवेदी युग की समीक्षा जिस प्रकार दोषों से युक्त थी उसका शुक्ल युग में निमूलन करने का प्रयत्न किया गया। इसलिए उसके क्षेत्र में क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ दिखाई दी। साहित्य के सामान्य गुण दोष विवेचन से सुधारवादी परम्परा का परित्याग किया गया और उसमें नवीनतर तत्वों को समाविष्ट किया गया। समीक्षा का शास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में समझा गया और संकुचित वृत्तियों को त्याज्य घोषित किया गया। साहित्यिक मर्यादा की धारणा का स्पष्टीकरण हुआ और यह मान्य किया गया कि समीक्षा के कार्य का दायित्व चिन्तन की पद्धति की उच्चता और पूर्णता से ही निर्देशित और प्रभावित होता है।

अनुभूति का महत्व —

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के जो मान अनुमोदित किए, उनमें अनुभूति की सच्चाई और गहराई पर बल दिया गया। किसी भी प्रकार के संकुचित अथवा दूषित वाद का अनुगमन उन्होंने कभी भी अनुमोदित नहीं किया और सर्वत्र ही उन आन्दोलनों और प्रवृत्तियों की उपेक्षा की जिनका संचालन किन्हीं सामयिक विचार तत्वों की तीव्र चर्चा के फलस्वरूप होता है। इसीलिए शुक्ल जी ने समाज की नीति और मर्यादा का साहित्य की रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में जो स्वरूप निदर्शन किया उसमें प्राचीनता का समर्थन और उसी की ओर झुकाव तो दिखाई देता है परन्तु रूढ़िवादिता या परम्परानुगामिता का संकुचित स्वरूप नहीं है। इसीलिए उनके सिद्धांतों को हिन्दी समीक्षा की महानतम उपलब्धियों के रूप में मान्य किया जाता है।

सैद्धांतिक प्रशस्ति —

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा का स्तर उच्चतर तो न हो सका परन्तु उसके विकास के अनेक नए मार्ग अवश्य खुल गए। हिन्दी समीक्षा में अनेक नए तत्व समाविष्ट होने लगे और वह पाश्चात्य आधुनिक वादों और प्रवृत्तियों के प्रभाव ग्रहण करने लगे। हिन्दी के क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक आन्दोलन आरम्भ किए

गए और उन्होंने भी हिन्दी समीक्षा की विकास गति को प्रभावित किया। हिन्दी समीक्षकों के अनेक वर्ग हो गए और वे सब विविध प्रवृत्तियों में योग देने के कारण विशिष्टता प्राप्त करने लगे। सौन्दर्य की नई भावनाओं और बौद्धिक सम्भावनाओं ने भी समीक्षा को प्रशस्त किया और उसका विकास हुआ।

सामयिक मान —

समीक्षा के कुछ मानदंड अस्थायी अथवा सामयिक होते हैं। इनका निर्धारण समय-समय पर होने वाले साहित्यिक और वैचारिक आन्दोलनों के फलस्वरूप होता है। योरोप के रूपवाद तथा हमारे यहाँ के प्रयोगवाद आदि आन्दोलन इसी प्रकार के हैं। इनमें मुख्य रूप से साहित्य के बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति के प्रकार के आधार पर ही उसका परीक्षण किया जाता है। इन आंदोलनों को दूसरे शब्दों में युगीन साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के रूप में भी मान्य किया जा सकता है। प्रवृत्तियाँ यद्यपि मूल रूप से सामयिक साहित्य के सन्दर्भ में प्रवर्तित होती हैं परन्तु अन्ततः उनका सम्बन्ध साहित्य के शाश्वत रूप से जोड़ा जाता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य के बाह्य रूपगत प्रयोग के क्षेत्र में प्रायः प्रत्येक युग में नई सम्भावनाएं विद्यमान रहती हैं। इसलिए इस प्रकार शाश्वत मानदण्डों में भी उसी प्रकार की अपूर्णता या एकांगिता विद्यमान रहती है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं।

अंगीकरण की आवश्यकता —

समीक्षा शास्त्र एक उच्च कोटि की प्रतिभा की अपेक्षा करता है। उसे आत्मसात् करने के लिए एक श्रेष्ठ समीक्षक को एक तरह की अनुशासनात्मक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। तभी वह अपने आप में इस बात की सामर्थ्य उत्पन्न करता है कि वह इस विषय के उच्चतर प्रश्नों के सम्बन्ध में चिन्तन कर सके और उनका हल निकाल सके। उसे अनेक प्रकार की विकृतियों और संकुचितताओं से बचना पड़ता है और एक सामान्य पाठक की अपेक्षा अधिक सहानुभूति पूर्वक साहित्य का पारायण करके अपना मन्तव्य स्थापित करना पड़ता है। चूंकि यह कार्य बिना एक व्यापक दृष्टिकोण अथवा मानदंड के नहीं किया जा सकता इसलिए उसे चिरन्तन मानदंड की भी खोज करनी पड़ती है। उसकी रस ग्राहिणी शक्ति और प्रबुद्ध विवेक इस कार्य में उसकी सहायता करता है। वह यह देखता है कि समीक्षा का सम्यक मानदंड ऐसा होना चाहिए जो उसकी अनुभूति का परीक्षण तो कर ही सके इसके साथ ही उसकी कोटि निर्धारण करने में भी समर्थ हो।

सिद्धांत समीक्षा —

इस प्रकार से जो समस्या अब सामने आती है उसका क्षेत्र न केवल रचनात्मक साहित्य के परीक्षण तक ही सीमित रहता है वरन् समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित मानदंडों का परीक्षण भी हो जाता है। इसमें से प्रथम पक्ष सम्भवतः उतना विषम नहीं है क्योंकि समीक्षा का कार्य ही रचनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करना है। परन्तु इस मूल्यांकन की आधारभूत मानदंडों का औचित्य परीक्षण एक सर्वथा जटिल कार्य है। मानदंड स्वयं साहित्य की श्रेष्ठता का परीक्षण करता है। उस मानदंड के भी औचित्य का परीक्षण द्विगुणित रूप से दुरूह हो जाता है। वास्तव में समस्या यह हो जाती है कि जो मानदंड हम रचनात्मक साहित्य के मूल्यांकन के निर्धारित करना चाहते हैं उसके औचित्य का परीक्षण किस प्रकार से हो ?

औचित्य का परीक्षण —

स्थूल रूप से समीक्षात्मक मानदंड के औचित्य का परीक्षण इस दृष्टिकोण से किया जा सकता है कि चूंकि समीक्षा का काम किसी रचनात्मक कृति के महत्व का निर्धारण करना है अतः समीक्षात्मक मानदंड को स्पष्ट रूप से यह निश्चित संकेत कर सकना चाहिए कि साहित्य की श्रेष्ठता का वास्तविक वर्गीकरण किस प्रकार से किया जा सकता है। जो भी समीक्षात्मक मानदंड इस प्रकार की समर्थता से युक्त होगा वह निश्चित रूप से विभिन्न संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके स्थायित्व प्राप्त कर सकेगा। इसके विपरीत जो मानदंड इस प्रकार की सामर्थ्य से रहित होगा वह किसी भी प्रकार से युग व्यापी नहीं सिद्ध हो सकेगा चाहे ही उसमें दृष्टिगतमत कितनी भी विगदता हो अथवा मापक निश्चितता हो। इसलिए साहित्य का परीक्षण करने वाला सर्वमान्य समीक्षात्मक मानदंड निर्धारित करने की दिशा में जो मुख्य और आवश्यक निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं वह यही है कि उसे पाठक के सार्वभौम अनुभव की विवेचना करने में समर्थ होना चाहिए।

परिवर्तनशीलता —

ऊपर के वक्तव्य का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि समीक्षात्मक सिद्धांतों अथवा मानदंडों में जो परिवर्तनशीलता या अस्थिरता की प्रवृत्ति होती है वह कोई ह्रासोन्मुख संकेत है। वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि ये मानदंड मूलतः साहित्यिक कृतियों

के महत्व का निदर्शन करते हैं। इसलिए साहित्य में अभिव्यक्त नवीनतर अनुभूति के लिए सदैव ही कोई रूढ़िवादी मानदंड नहीं प्रयुक्त किया जा सकता। साहित्य में जो नवीनता समय-समय पर दिखाई देती है उसका मूल्यांकन सम्यक रूप से किया जा सकने के लिए यह आवश्यक है कि उस मानदंड में भी नवीनता का समावेश समय-समय पर होता रहा है। यह एक स्वाभाविक विकास का सूचक है और इसीलिए समीक्षात्मक मानदंड परिवर्तन शील होते हैं।

परिवर्तनशीलता के कारण :—

समीक्षा के सिद्धांतों और मानदंडों में परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति का एक और कारण होता है। जो भी सिद्धांत या मानदंड किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से रचनात्मक साहित्य का परीक्षण करता है वह उसी समय तक औचित्यपूर्ण भासित होता है जिस समय तक वह उसके उपयुक्त प्रमाणित होता रहे रचनात्मक साहित्य अथवा कृति की किसी विशिष्ट सिद्धान्त द्वारा की गई व्याख्या जब तक पुरानी नहीं पड़ती है अथवा किसी नवीन अर्थ की अपेक्षा नहीं रखती, तब तक उस सिद्धान्त मे भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं मालूम होती। परन्तु जैसे ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है उस सिद्धांत मे भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, क्योंकि नवीन व्याख्या के लिए सदैव एक नवीन दृष्टिकोण भी आवश्यक होता है, जो प्रायः रूढ़िवादी और परम्परावादी विचारधारा से मेल नहीं खाता और इसीलिए बहुधा उसका विरोध होता है।

विकासशीलता —

सम्यक समीक्षात्मक मानदंड निर्धारण के लिए भी यह आवश्यक है कि समीक्षा क्षेत्रीय विविध सिद्धान्तों का परीक्षण करते हुए यह देखा जाए कि उनमें किस प्रकार की भिन्नता और पारस्परिक विरोध की भावना विद्यमान है। इसके अतिरिक्त यह अध्ययन करना भी आवश्यक होगा कि समीक्षात्मक मानों में अस्थिरता क्यों होती है और क्यों वे परिवर्तित होते रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि चूंकि समीक्षा का मानदंड रचनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति का परीक्षण करता है और यह अनुभूति सदैव परिवर्तित रूप में व्यक्त होती है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी व्याख्या करने वाला समीक्षात्मक मानदंड भी उसी अनुपात में परिवर्तित होता रहे। इस दृष्टि से यदि हम समीक्षात्मक मानदंड को रचनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति की व्याख्या करने वाला एक माध्यम मानते हैं तो हमें यह भी

स्वीकार करना होगा कि उसमें भी विकासशीलता के कारण यह परिवर्तन होना अनिवार्य है, जो उसके सामाजिक रूप में भी अस्थिरता का मूल कारण होता है।

बहुरूपता —

विविध समीक्षा सिद्धान्तों के परिचयात्मक इतिहास के देखने पर इस बात का भी पता चलता है कि इस क्षेत्र में व्यापक रूप से बहुरूपता विद्यमान है। जैसा कि पीछे के अध्यायों में हमने देखा है कि समीक्षात्मक उद्देश्य की भिन्नता भी इस अनेकरूपता का एक बड़ा कारण है। प्रत्येक समीक्षा पद्धति एक सीमित रूप में ही मान्यता प्राप्त है। इसमें किसी तरह की एकांगिता अवश्य विद्यमान है और इसलिए दूसरे सिद्धान्तों के प्रवर्तन की सदैव सम्भावना बनी रहती है। दूसरा सिद्धान्त उसी प्रकार से अपूर्णता लिए रहता है क्योंकि यदि वह एक क्षेत्रीय अपूर्णता से बचने की चेष्टा करता है तो उसमें किसी दूसरे प्रकार की एकांगिता आ जाती है। इसके अतिरिक्त इसी का एक दूसरा परिणाम यह दिखाई देता है कि एक प्रकार की समीक्षा जिन सिद्धान्तों पर आधारित रहती है, दूसरे दृष्टिकोण से वे सर्वथा अपूर्ण रहते हैं। इसी तरह से दूसरे प्रकार की समीक्षा के सिद्धान्त प्रथम दृष्टि से अपूर्णता लिए होते हैं। इसी प्रकार से एक समीक्षा प्रणाली के तर्क दूसरी को तथा दूसरी समीक्षा प्रणाली के तर्क पहली को अमान्य रहते हैं। किसी भी प्रकार से ऐसी कोई समीक्षा प्रणाली नहीं दिखाई देती जो सभी प्रकार की एकांगिताओं और अपूर्णताओं से बचकर सम्पूर्णता का आदर्श उपस्थित कर सके और सर्वमान्य हो सके। इससे यह प्रतीत होता है कि व्यावहारिक अथवा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कोई भी समीक्षा पद्धति समग्र रूप से ऐसी नहीं हो सकती जिसमें विविध प्रकार की समीक्षा प्रणालियों की अपूर्णताओं और एकांगिताओं का अभाव हो। इसलिए समीक्षा के व्यापक मानदंड के निर्धारण के लिए प्रचलित और मान्य प्रणालियों की एकांगितों की तो परख करनी ही होगी उसके साथ ही साथ नवीन स्वरूप के सन्दर्भ में भी विविध प्रणालियों की एकांगिताओं का बहिष्कार और पूर्णताओं का चयन करना आवश्यक होगा।

मान निर्धारण की प्रक्रिया :—

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कोई भी नवीन सिद्धान्त या वाद किसी न किसी युग में अवश्य ही रूढ़िवादियों द्वारा त्याज्य घोषित किया जाता है तथा एक युग ऐसा भी आता है, जब वह स्वयं रूढ़िवादी सिद्ध होने लगता है तथा उस समय के नवीन

सिद्धान्त द्वारा उसका खण्डन होता है और वह स्वयं उस नवीन सिद्धान्त का विरोध करता है समीक्षा के क्षेत्र म सदैव से यही प्रवृत्ति व्याप्त दिखाई देती है। परन्तु इसके मूल म विरोध की भावना होते हुए भी किसी प्रकार की संकुचितता नहीं होती। वास्तव म ऐसे समय आते है जब समृद्ध पूर्ण और व्यापक साहित्य सिद्धान्त भी युग के साथ नही चल पाते और उनमे अपूर्णता आभासित होने लगती है। जो भी नया सिद्धान्त आविर्भूत होता है, वह यथासम्भव इस अपूर्णता से अपने आपको बचाये रखने की चेष्टा करता है और उन सभी अभावों को पूर्ति करने भाव मे लिए रखता है जो उस सिद्धान्त विशेष म होते है इसलिए कभी यह कहना सर्वथा भ्रामक और असत्य होगा है कि कोई सिद्धान्त विशेष सभी अर्थों म रूढ़िवादी अथवा परम्परानुगामी है क्योंकि युग विकास के साथ ही प्रत्येक प्रकार की समीक्षा दृष्टि मे विकासशीलता के कारण परिवर्तन आवश्यक होता है और प्राय यह इसके हित में भी होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य की भाँति ही समीक्षात्मक साहित्य में भी कुछ प्रगतिशील तत्त्व होते है जो इस सिद्धान्तगत अथवा रूपगत परिवर्तन का मूल कारण होते है। जब भी कोई सिद्धान्त अपूर्ण अथवा असामयिक प्रतीत होने लगता है तब स्वाभाविक रूप से किसी न किसी ऐसे सिद्धान्त का आविर्भाव अवश्य होता है जो किसी न किसी अर्थ म उसका पूरक सिद्ध होता है।

मानों की अपूर्णता —

जब हम किसी पूर्ण समीक्षात्मक मानदण्ड की चर्चा करते है तब यह आशंका बराबर रहती है। चूँकि सभी मानदंड किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता लिए रहते है इसीलिए कोई पूर्ण सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। यह एक व्यापक सत्य है, जिसे किसी भी परिस्थिति में अस्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि हम दिशा मे प्रयत्न ही न किया जाए अथवा किसी पूर्ण सिद्धान्त के निर्माण की सम्भावना पर विचार न किया जाए। हमारे विचार म किसी भी नए मानदंड की सार्थकता इतने मात्र से सिद्ध हो जाती है कि वह किसी भी विशेष अर्थ में अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्त या मानदंड की अपेक्षा अधिक पूर्णता लिए हुए है। इसके अतिरिक्त यदि उसम परिवेशगत व्यापकता भी है और युगीन यथार्थ की सम्पूर्णता के साथ व्याख्या करने की सामर्थ्य है तो उसके लिए अवश्य चेष्टाशील रहना चाहिए।

मानदंडों का औचित्य परीक्षण —

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षा के उचित और पूर्ण

मानदंड का निर्धारण एक जटिल समस्या है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा शास्त्र के इतिहास का अवलोकन करने पर भी इस बात का पता लगता है कि ऐसा मानदंड कभी भी मान्य नहीं हो सका। विविध युगों में रचनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए जो मानदंड प्रचलित रहे वे सदैव ही किसी न किसी अतिवादिता अथवा रूढ़िवादिता से आक्रांत थे। उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो अधिक संयत थे इतना निश्चित था कि वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे के विरोधी थे। इसलिए समीक्षात्मक चिन्तन के क्षेत्र में जो मुख्य समस्या रही है वह यही है कि ऐसा मानदंड किस प्रकार निर्धारित हो जो सर्वथा औचित्यपूर्ण हो। ऐसा तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम विविध समीक्षात्मक मानदंडों की परख करके उनके औचित्य का भी निर्धारण न कर लें।

मूल्य निर्धारण और नियंत्रण —

समीक्षात्मक मानदंड की मूल प्रेरणा भिन्न भिन्न जीवन मूल्यों की अंतर्निबद्धता से निर्देशित होती है। इन मूल्यों का व्यष्टिगत और समष्टिगत रूपों में जब प्रतिफलन होता है और समाज के सांस्कृतिक विकास पर उनका आरोपीकरण होता है तब उनकी यथार्थ चेतना की अवगति विचारकों को होती है। मूलतः चेतना की यह अवगति ही समीक्षात्मक कसौटी की जन्मदात्री होती है। परन्तु मूल चेतना की अवगति का रूप निर्धारण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि किसी बड़े काल खंड के मध्य अर्जित की गयी सांस्कृतिक और वैचारिक उपलब्धियों का प्रचुर यथार्थ लेखा-जोखा सामने न हो। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक और वैचारिक संवर्द्धना ही इन मूल्यों की निर्धारक और नियंत्रक होती है। इसके अतिरिक्त इसी का एक दूसरा पक्ष भी है। उसके अनुसार जब तक एक दीर्घ इतिहास के फलस्वरूप प्राप्त समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर किसी भाषा के विचारकों के पास नहीं होगी तब तक उच्च साहित्यिक कसौटियाँ और जीवन मूल्यों का निर्धारीकरण नहीं हो सकता। यह सांस्कृतिक धरोहर ही जीवन मूल्यों का निश्चितीकरण करती है और इन मूल्यों के आरोपीकरण से प्रत्येक ऐसी चेष्टा का मूल्यांकन होता है, जिसका लक्ष्य सांस्कृतिक उपलब्धियाँ होती हैं। विशेष रूप से जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है वह पूर्ण रूप से सांस्कृतिक चेष्टा का सृजन करता है। इसलिए उसके परीक्षण में जीवन मूल्यों की यह कसौटी सर्वाधिक रूप से सार्थक होती है। इसका कारण यह होता है क्योंकि जहाँ एक ओर साहित्य सर्वजनित होता है वहाँ दूसरी ओर यह सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी भाषा जाति और समाज की सांस्कृतिक धरोहर की मापक होती है।

अलंकरण और अभिव्यक्ति

समीक्षा के प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में निर्देशित जो मानदंड हैं वे कई अर्थों में पाश्चात्य सिद्धान्तों से भिन्नता रखते हैं। उदाहरण के लिए अलंकार सिद्धान्त आदि साहित्य के स्वरूपगत सौन्दर्य का परीक्षण सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि अलंकार तथा अन्य सभी सिद्धान्त बहुत पुष्ट रूप से विकसित हुए हैं तथा उनकी बहुत पुष्ट परम्पराएँ मिलती हैं परन्तु फिर भी यह कहना कठिन है कि अन्य विकसित मानदंडों की अपेक्षा अलंकार की कसौटी अधिक उपयुक्त है। यह सत्य है कि साहित्य में अलंकार का महत्वपूर्ण स्थान है और साहित्य में अलंकार का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अलंकार के आधार पर हम इस बात की परख कर सकते हैं कि किसी साहित्य में जो मूल अनुभूति निहित है उसमें अभिव्यक्ति-गत सौन्दर्य किस कोटि का है। इस प्रकार से अलंकार की कसौटी सिद्धान्त अथवा मानदंड अपने आप में पूर्ण रूप से व्यवस्था लिए हुए हैं फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा यह सिद्धान्त अधिक व्यापक रूप से साहित्य का परीक्षण नहीं करता। एक दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं है कि अलंकार के समावेश से साहित्य के सौन्दर्य की वृद्धि ही हो। यह भी हो सकता है कि उसमें उससे कुरूपता आ जाए और जटिलता अथवा दुरूहता के कारण वह सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य न हो सके। इसलिए अलंकार का काव्य या साहित्य में समावेश अपने ही स्तर के अनुसार काव्य या साहित्य की भी कोटि का निर्धारण करता है। दूसरे शब्दों में यदि अलंकार स्वाभाविक और भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले हैं तब तो उनके समावेश से साहित्य का मूल्य बढ़ता है अन्यथा वे अनुमोदनीय नहीं कहे जा सकते हैं।

अनुभूति और अभिव्यक्ति —

साहित्य के अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण के अनुसार अनुभूति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक महत्व की वस्तु होती है। इस विचारधारा के अनुसार साहित्य मूलतः एक ऐसी कला है जिसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। दूसरे शब्दों में साहित्य की अभिव्यक्ति उसमें निहित का मूर्त रूप है। इससे स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार यह बात समान रूप से सिद्धान्ततः ग्रहण की जा सकती है कि साहित्य का विषय कुछ भी हो सकता है। विषय के अनुसार साहित्य की श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं हो सकता।

मानव के जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सभी विषय साहित्य में समान रूप से ग्राह्य हो सकते हैं और उनकी उच्चता, हीनता, विशिष्टता अथवा समानता से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस बात से अन्तर पड़ता है वह यह है कि साहित्यकार जिस अनुभूति को प्रस्तुत कर रहा है उसका मूर्त रूप क्या है अथवा उसकी अभिव्यक्ति में कितनी कलापूर्णता है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य का प्रधान कार्य ही नहीं है कि वह विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करे। किसी कल्पना मूल को एक ऐसा मूर्त रूप प्रदान करे जो पाठक के लिए ग्राह्य हो सके। इस मूर्तता का उनके विचार से अनुभूति के प्रकार से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार से इस दृष्टिकोण की व्यापक सम्भावना पर जब हम विचार करते हैं तब हमें यह प्रतीत होता है कि जहाँ एक ओर यह सिद्धान्त अनुभूति तथा विषय वस्तु के क्षेत्र में अत्यन्त व्यापकता का परिचय देता है वहाँ दूसरी ओर केवल अभिव्यक्ति पर ही बल देकर और उसी के आधार पर मूल्यांकन की प्रवृत्ति का सूचक होकर यह एकांगिता का आभास भी देता है। इसीलिए हमारे विचार से इस सिद्धान्त को एक विशिष्ट दृष्टिकोण के रूप में तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु समीक्षा के पूर्ण मानदंड के रूप में नहीं।

सौन्दर्यात्मकता निहिति और प्रभाव —

समीक्षा के ऐसे सभी मानदंड जिनका आधार अथवा विशेषता सौन्दर्यात्मकता के तत्व रहे हैं दूसरे मानदंडों से दृष्टिकोणगत वैभिन्य रखते हैं। सौन्दर्य को साहित्य शास्त्र में एक व्यापक गुण के रूप में मान्य किया गया है। सौन्दर्य की अनेक परिभाषाएं की गई हैं और इसके निर्धारक भिन्न भिन्न सिद्धान्त और धारणाएं हैं। वास्तव में सौन्दर्य प्रभावात्मकता की दृष्टि से द्विमुखी होता है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य की निहिति एक वस्तु में रहती है और उसका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। साथ ही एक निश्चित प्रक्रिया के अनुसार सौन्दर्य और उसके प्रभाव का चक्र चलता है। यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य अपनी अभिव्यक्ति अथवा प्रभाव के लिए एक माध्यम की खोज करता है। माध्यम की अनुकूलता सौन्दर्याभिव्यक्ति की पूर्णता तथा प्रभावात्मकता से सम्बन्ध रखती है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि कला के जितने भी रूप हैं वे सब अभिव्यक्ति के माध्यम तथा प्रभावात्मकता की पूर्णता के कारण एक दूसरे से स्पष्ट भिन्नता रखते हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उसके सौन्दर्य का अभिव्यंजन जिन माध्यमों से होता है वे अन्य कलाओं के विषय गुण होते हैं। उदाहरण के लिए साहित्य में संगीतात्मकता, लयात्मकता तथा चित्रात्मकता के जो

तत्व होते हैं, उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध संगीत कला से होता है इसी प्रकार से भिन्न भिन्न कलाओं में भिन्न प्रकार का सौन्दर्य निहित होता है जो कला के एक सम्पूर्ण रूप का द्योतन करता है समीक्षा के जो सौन्दर्यवादी मानदंड हैं व किसी साहित्यिक कृति में निहित सौन्दर्य की मात्रा और कोटि का परीक्षण करते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र तथा यूरोपीय ग्रीक रोमन तथा अग्रजी साहित्य शास्त्र में समीक्षा की जो परम्पराएं रही हैं उनमे सौन्दर्य चेतना का प्रभाव नहीं रहा है।

युगीन सत्य और चेतना —

समीक्षा के प्रवृत्तिगत विकास को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक युग में किन्हीं विशिष्ट मानदंडों को ही प्रधानता दी जाती रही है। उदाहरण के लिए साहित्य की एक व्यापक कसौटी यथार्थानुकारिता है। कला और साहित्य का यह मानदंड साहित्य के बाह्य रूप से अपेक्षा कृत कम सम्बन्ध रखता है। यह उसके मूल स्वर की परख करता है और उसमें निहित यथार्थता की भावना और उसकी श्रेणी का निर्णय करता है। महान साहित्य मे युग और जीवन की यथार्थ चेतना प्रतिबिम्बित होती है इसलिए उसका परीक्षण भी यथार्थात्मक रूप से सम्यक प्रकार से हो सकता है। हो सकता है कि इस मन्तव्य से कुछ विचारक असहमति प्रकट करें परन्तु इतना निश्चित है कि साहित्य बाह्य रूपात्मक परीक्षण पर गौरव देने वाले अन्य संकुचित मानदंडों की अपेक्षा यह कसौटी साहित्य से एक ठोस अभिव्यक्ति की मांग करती है जिसका आधार पूर्ण रूप से कल्पनात्मक न हो। इसीलिए इसे एक पक्षीय भी नहीं कहा जा सकता। यह दृष्टिकोण साहित्य के किसी एक तत्व की श्रेष्ठता का माप न करके युग जीवन की समग्रता के सन्दर्भ में उसका परीक्षण करता है। परन्तु इस कथन से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यथार्थवादी समीक्षा पद्धति साहित्य के बाह्य रूप या अभि व्यक्ति के प्रकार की उपेक्षा करती है। वास्तव में यदि किसी साहित्य में यथार्थात्मकता की निहिति सहज रूप से होगी तो उस साहित्य का प्रणयन कर्ता अपनी प्रखर प्रतिभा से उसे आकर्षक और प्रौढ़ शिल्प रूप में ढाल भी सकेगा। इसके अतिरिक्त एक प्रबुद्ध और प्रतिभाशाली साहित्य सृजन के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वभावतः यथार्थान्वेषक हो। इसलिए भी यथार्थात्मक मानदंड साहित्य के परीक्षक के रूप में अधिक व्यापक और सर्वयुगीन होने के कारण शाश्वत रूप में मान्य किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि यद्यपि युगीन यथार्थ भी विविध कालों में परिवर्तित होता रहता है, परन्तु इससे समीक्षात्मक मानदण्डों के निर्धारण में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि यथार्थता का परिवर्तन ही मानवता का चिरन्तन सत्य है। यथार्थात्मकता की रचनात्मक साहित्य में तभी सम्भावनाएं होती हैं जब साहित्यकार की दृष्टि जन जीवन के भिन्न भिन्न परिवर्तों से स्पर्शित रहे और युग की यथार्थ चेतना की अवगति प्राप्त करती रहे। सत्य के जितने प्रकार हैं उनमें से यथार्थ सत्य को परख सके और मिथ्या सत्य से भ्रमित न हो। जीवन की चेतना को उसके वास्तविक रूप में समझे और उसी का समग्रता के साथ साहित्य में अंकन करे। समीक्षा का यथार्थवादी मानदण्ड उससे यही मांग करता है।

यथार्थात्मकता —

ऊपर हमने साहित्य की श्रेष्ठता के मापक प्रगतिवादी, मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। जहाँ तक इस सिद्धान्त के मूल दृष्टिकोण का प्रश्न है इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यथार्थात्मकता साहित्य की श्रेष्ठता की एक अनिवार्यता है। परन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि केवल मानव समाज के आर्थिक वर्गीकरण तथा सम्बन्धों को ही देखते हुए उससे अपने दृष्टिकोण को संकुचित बना लेना भी अनुमोदनीय नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि आर्थिक पक्ष और कठिनताएं भी यथार्थता का ही एक अंग हैं परन्तु इसके साथ ही साथ यह बात भी विचारणीय है कि इसके वर्णन के द्वारा हम समाज के सांस्कृतिक विकास में कितना योग दे सकते हैं। यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो फिर यह कसौटी भी अपूर्ण कही जायगी।

साहित्य समीक्षा के इस दृष्टिकोण के पोषक विचारों के अनुसार केवल यथार्थात्मकता के तत्वों से पूर्ण साहित्य ही सार्थक है। उनके विचार से कल्पनात्मक साहित्य से हीन कोटि का साहित्य कोई दूसरा नहीं हो सकता। यह कथन सर्वथा विवादास्द है। यह कहना कि उच्चतम कोटि की कल्पना सृष्टि भी निकृष्टतम कोटि यथार्थता से कम महत्व रखती है सर्वथा असंगत है। हमारा यह विचार है कि कोई अनुभूति अपने मूल रूप में चाहे जितनी यथार्थ हो परन्तु उसकी कलात्मक परिणति ही श्रेष्ठ हो सकेगी क्योंकि उच्च कोटि की कल्पनात्मकता हीन कोटि की यथार्थात्मकता

की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक विश्वसनीयता का आभास देने में समर्थ होती है। इसके विपरीत कभी कभी तो कल्पनात्मकता का योग यथार्थात्मकता से प्रभावात्मकता की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः उपर्युक्त दृष्टिकोण भी एकांगी ही है।

तुलनात्मकता —

तुलनात्मक समीक्षा के जो मान हैं वे इस दृष्टि से तो पूर्ण हैं कि वे भिन्न भिन्न युगों में लिखी गई महान् साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन युगीन यथार्थ और बौद्धिक चेतना के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं परन्तु जब तक भिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य का परिचय देने वाले उच्चकोटि के साहित्यकारों की कृतियों में प्राप्त मौलिकता गहन अनुभूति व्यापकता तथा अर्थपूर्णता का उचित विश्लेषण नहीं होगा तब तक किसी भी समीक्षा दृष्टि में पूर्णता नहीं आ सकेगी। इसके अतिरिक्त यह सत्य भी ध्यान में रखना होगा कि प्रत्येक महान् साहित्यकार अनिवार्य रूप से मनुष्य के जीवन का मौलिक द्रष्टा होता होता है। इसलिए समीक्षा का कार्य यह है कि वह उसकी इसी मौलिक दृष्टि का मूल्यांकन करे और यह तभी सम्भव होगा जब साहित्य के केवल बहिरंग का परीक्षण करने वाली संकुचित भावना का परित्याग किया जायगा।

उपर्युक्त समीक्षा सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी है। उसके अनुसार समीक्षा का दृष्टिकोण यह होता है कि वह किसी साहित्यिक कृति में अभिव्यक्ति अनुभूति की रूपात्मक यथार्थता का परीक्षण करने की अपेक्षा इस बात का परीक्षण करे कि युग के यथार्थ के प्रति उस रचनात्मक लेखक की क्या धारणा है। इसके साथ ही उस यथार्थ के प्रति उसके हृदय में किस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। युगीन यथार्थ के प्रति उसकी धारणा और प्रतिक्रिया से मिलकर उसके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्धारण होता है। प्रथम दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण कुछ भिन्नता रखता है, क्योंकि यह उसकी भाँति केवल आर्थिक और वर्गगत संघर्ष तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखता। यह यथार्थ के दूसरे पक्ष को भी देखता है और अपेक्षाकृत व्यापक दृष्टिकोण से उसकी व्यवस्था करता है। इसलिए जब तक साहित्य के अन्तरंग एवम् बहिरंग के परीक्षक मानदंडों को उनके गुणों के सन्दर्भ में देखकर तुलनात्मक रूप से उनकी सीमा संकोच और सीमा विस्तार की परख नहीं की जायगी तब तक यह निष्कर्ष निकालना कठिन होगा कि उनकी सार्थकता कितनी है। कोई भी साहित्य यदि समृद्ध है, तो उसका गुण

के यथार्थ से अनिवार्य रूप से सम्बन्ध होगा। यथार्थता का स्वरूप प्रत्येक युग में बदलता है। इसीलिए नए युग में नई दृष्टि की अपेक्षा होती है। विविध साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन और निष्कर्ष एक विचारक में इस बात का विवेक उत्पन्न करता है कि वह यह देख सके कि युगीन भिन्नता के अनुसार साहित्यक उपलब्धियों का अनुपात किस प्रकार से नियंत्रित हुआ है। उसका उचित आभास तभी सम्भव है जब विविध युगों के साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके कोई निष्कर्ष निकाला जाए।

दार्शनिकता —

समीक्षा के क्षेत्र में कभी कभी कुछ ऐसे मानदंडों का प्रचलन होते देखा जाता है जिनका आधार मुख्यतः दार्शनिक है। ये मानदंड दर्शन शास्त्र के किसी एक अथवा अनेक पक्षों से आगृहीत होकर साहित्यकार के लिए उच्चकोटि की तत्व मीमांसा करते हुए मानव जीवन के सन्दर्भ में उनकी उपयोगिता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण वाले समीक्षक साहित्य मे जीवन दर्शन के समावेश की भी मांग करते हैं। यद्यपि उच्च कोटि के साहित्य में जीवन दर्शन का कोई प्रौढ़ रूप अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु बहुधा किसी विशेष प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाले साहित्य में उसका पूर्ण अभाव भी हो सकता है। उदाहरण के लिए यथार्थानुकारिता के तत्वों से युक्त साहित्य आवश्यक रूप में जीवन दर्शनमय नहीं भी हो सकता है। कभी कभी यथार्थवादी साहित्यकार भी मनुष्य के जीवन की शाश्वत समस्याओं पर अपने साहित्य में चिन्तन करता है परन्तु किसी भी स्थिति में इस एक अनिवार्य स्थिति के रूप में नहीं रखा जा सकता।

नैतिकता —

नैतिकता की कसौटी भी रचनात्मक साहित्य से इस बात की मांग करती है कि वह उन मूल्यों का विश्वसनीय आभास दे जो चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हो। नैतिकता का यह मानदंड भी विश्व के समीक्षा साहित्य में अपनी चिरन्तनता के कारण विशिष्टता रखता है और इसीलिए स्वभाव से ही साहित्य नैतिकता की अपेक्षा रखता है और इसीलिए नैतिक होता है। विश्व का महान् क्लैसिकल साहित्य इस बात का प्रमाण है कि सदैव नीति का पोषण और अनीति का अस्वीकरण करने वाला साहित्य ही युग और काल की बाधाओं को हटाता हुआ जीवित रहा। इसलिए समीक्षा के नैतिक मानदंड को भी सर्वयुगीन कसौटी के रूप में अंशतः मान्य किया जा सकता है।

प्रभाववादिता —

समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रचलित मानदंड प्रभाववादिता का है। इसके अनुसार समीक्षा का आधार किसी साहित्य का पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव ही देखा जाना चाहिए। रचनात्मक साहित्य में मूल तत्त्व उसमें अभिव्यक्त अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही रचनात्मक साहित्य की प्रक्रिया द्वारा पाठक के हृदय तक पहुँचती है और उसको प्रभावित करती है। इस दृष्टिकोण से समीक्षा का प्रभाववादी मानदंड केवल इस बात की माप करेगा कि कोई विशिष्ट साहित्यिक कृति किस सीमा तक पाठक को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती है। इससे स्पष्ट है कि यह मानदंड किसी कृति का व्यापक दृष्टिकोण से परीक्षण नहीं करता। यही नहीं यह उसके अनेक तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा भी करता है। इसीलिए हम इसे सर्वमान्य मानदंड के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते।

समाजशास्त्रीयता और ऐतिहासिकता —

समीक्षा के समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक मानदंड साहित्य की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ उसकी युगीन विश्वसनीयता पर भी विचार करते हैं। इसी से कुछ भिन्न रूप यथार्थवादी मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी समीक्षा का होता है जहाँ ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षाएँ केवल युगीन विश्वसनीयता पर ही दृष्टि रखती हैं वहाँ यथार्थवादी मार्क्सवादी और साम्यवादी समीक्षाएँ मुख्यतः यह देखने की चेष्टा करती हैं कि युगीन यथार्थ का कितना सत्य रूप किसी कृति में प्रतिबिम्बित हुआ है। स्थूल रूप से ये सभी समीक्षा पद्धतियाँ अनुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रता गहनता अथवा व्यापकता पर अधिक विचार नहीं करतीं वरन् केवल उसके प्रकार पर ही बल देती हैं। इन सभी पद्धतियों के अनुसार समीक्षा का मुख्य कार्य इस तथ्य का परीक्षण करना होना चाहिए कि किसी साहित्यकार की कृति के उस युग के सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक आर्थिक अथवा धार्मिक वातावरण से किस रूप में और कितना सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त किसी साहित्यकार ने अपने युग के यथार्थ को उसी रूप में अभिव्यक्त किया है अथवा उसका आदर्शीकरण करके किसी उदात्त स्वरूप की कल्पना की है। उसका यह प्रयत्न किसी भी सीमा तक सांस्कृतिक विकास के परिष्कार और प्रसार की क्षमता रखता है अथवा नहीं। उसकी कृति में जिन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति

की गई है वे युगीन यथार्थ के प्रति कितनी और किस प्रकार की प्रतिक्रियात्मकता से परिपूर्ण हैं। यह तो इस समीक्षा दृष्टि का व्यापक रूप हुआ। इसके अतिरिक्त जहाँ तक उसके संकुचित रूप का सम्बन्ध है, उसके अनुसार मूल्यांकन का काम केवल विभिन्न वर्गों के आर्थिक संघर्ष के स्वरूप और कारणों का विवेचन करना मात्र होता है क्योंकि मनुष्य की आर्थिक जीवन की अनिवार्यताओं का लेखा-जोखा ही इनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

अस्थिरता —

समीक्षा का स्थायी मानदंड इसलिए भी कठिन प्रतीत होता है क्योंकि उसका आधार जो मान्यताएँ और नियम होते हैं वे स्वयं समूल परिवर्तित होते रहते हैं। उनका निर्माण मनुष्य अपने अनुभव के आधार पर करता है। ऐसी स्थिति में पूर्व अनुभव के आधार पर निर्मित सिद्धान्त और नियम अपूर्ण प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए नवीन और अपेक्षाकृत व्यापक अनुभव के आधार पर उन नियमों तथा धारणाओं में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। विविध विषयक साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही यदि हम सामाजिक आचार शास्त्र के नैतिक विकास का अध्ययन करें, तो हमें यह ज्ञात होगा कि सदाचार के नियमों और धारणाओं में बराबर परिवर्तन होता आया है। यद्यपि मानव हृदय की मूल अनुभूतियाँ सदैव अपरिवर्तित रहती हैं परन्तु उनकी प्रतिक्रियाएँ सदैव नवीनतर होती हैं।

इसलिए जब एक नए युग में कोई विचारक समीक्षा के मानदंडों का निर्धारण करता है तब उसे यह देखना पड़ता है कि सामाजिक जीवन किन आचार शास्त्र और व्यावहारिक नियमों से संचालित होता है उसके क्षेत्रों में उच्चतम स्तर अथवा धारणा क्या है। दूसरे शब्दों में नीति और आचार के क्षेत्रों में जो उच्चतम आदर्श होता है वह इन नियमों के निर्धारण में आरोपित रहता है। परन्तु इसके साथ ही साथ इनके क्षेत्रों में पूर्ववर्ती धारणा और उसकी भावी सम्भावना का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है क्योंकि पूर्ववर्ती युगों में भी नियम निर्धारण की प्रक्रिया समरूप समान रहती है और अपने युग की उच्चतम चिन्तन उपलब्धियों का संकेत देती है। साहित्यिक और कलात्मक उदात्तता की धारणा उसके मूल में क्रियाशील रहती है और निश्चित रूप से वह परवर्ती युगों में होने वाले मानदंडों के नवनिर्माण में सहायक होती है।

सिद्धान्त और व्यवहार —

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साहित्य का मूल्यांकन करने वाला मानदंड निश्चित रूप से केवल सैद्धान्तिक रूप से अपूर्व नियमों द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता। प्रत्येक सिद्धान्त या विचारधारा केवल उसके एक पक्ष पर दृष्टि रखती है, अतः एकांगिता की सूचक होती है। इसलिए पूर्ण और व्यापक मानदंड का निर्धारण हमारे पूर्व निष्कर्ष के अनुसार इस क्षेत्र में प्राप्त वे महान उपलब्धियाँ ही नहीं जो पूर्वयुगीन सांस्कृतिक उच्चता की सूचक होती हैं। ये दोनों ही वस्तुएं एक ही प्रकार के उदात्तीकरण का परिचय देती हैं। इसलिए इनसे अधिक उपयुक्त कसौटी और दूसरी कोई नहीं हो सकती। परन्तु जैसा कि इसके साथ सम्बद्ध नियम है, इसके लिए व्यापक अध्ययन और दीर्घ अनुशासन अपेक्षित है क्योंकि विश्व की महान कृतियों में निहित उच्चतम जीवन मूल्यों का परीक्षा और उनका समीक्षा के व्यावहारिक मानदंड में अराधीकरण दो भिन्न वस्तुएं हैं और यह कार्य उसी व्यक्ति के लिए सम्भव हो सकता है जो उन कृतियों में अभिव्यक्त मूल मानवीय अनुभूतियों को अनुभूत रूप से परख कर उनकी विश्वसनीयता के सम्बन्ध में आश्वस्त हो चुका हो। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि मान निर्धारण के लिए यह प्रक्रिया दीर्घ सूत्री तो अवश्य है परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी निश्चित है कि इसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जाएगा अथवा जिस मान का निर्धारण होगा वह स्पष्टतः व्यापक रूप से व्यावहार्य होगा क्योंकि उसमें यह सामर्थ्य होगी कि वह मूल मानवीय अनुभूतियों का उच्चतम स्तर से परीक्षण करके उनका श्रेणीकरण कर सके और आनुपातिक रूप से किसी अनुभूति की श्रेष्ठता अथवा हीनता की माप कर सके तथा इसके साथ ही वह यह भी निर्देश कर सके कि संयुक्त रूप से उसमें कितनी श्रेष्ठता अथवा जीवन्तता है।

चिरन्तनयुगीन मान :—

ऊपर के विवरण में हमने जिस प्रकार के मन्तव्यों को प्रस्तुत किया है उससे यह भ्रम हो सकता है कि समीक्षा का ऐसा कोई स्थायी मानदंड नहीं हो सकता जो पूर्ण हो इसलिए इस दिशा में प्रयत्न करना अधिक उपयुक्त न होगा। किसी सीमा तक यह बात सम्भव भी हो सकती है क्योंकि जब हम समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों और विविध विचारधाराओं के विकास के इतिहास का अध्ययन करते हैं तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक समीक्षात्मक मानदंड या तो एक दूसरे का विरोधी है और या एक दूसरे का पूरक। जहाँ वह विरोधी है वहाँ दूसरे सिद्धान्त की संकुचितताओं और कमियों के

उसमें संकेत मिलते हैं और जहाँ वह दूसरे सिद्धान्त का पूरक है, वहाँ वह उसकी एकांगिता दूर करने की चेष्टा करता है। कहने का आशय यह है कि विभिन्न सिद्धान्तों में या तो इतना पारस्परिक विरोध है कि उनका एक दूसरे के कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता है और या उनमें इतनी अधिक एकरूपता और विभिन्नता का एक कारण यह है कि समीक्षा सिद्धान्तों का विकास क्रमिक रूप में हुआ है। विकास की प्रक्रिया यह रही है कि पहले किसी आन्दोलन का प्रवर्तन करके किसी सिद्धान्त की स्थापना की जाती है। उस सिद्धान्त की व्यावहारिक सफलता अथवा असफलता के अध्ययन के पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया के रूप में कोई दूसरा सिद्धान्त आरम्भ किया जाता है। इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक आरोपीकरण तथा तुलनात्मक परीक्षण किसी नए सिद्धान्त की रूपरेखा को स्पष्ट करता है और फिर उसका स्वरूप स्थापित किया जाता है। पिछले अध्यायों में हमने समीक्षा के मानदंडों के जिन आधारभूत सिद्धान्तों व सम्प्रदायों के प्रवर्तन और विकास का जो विवरण उपस्थित किया है उसमें यही प्रक्रिया लक्षित होती है। अतः जैसा कि हमने संकेत किया है विकासकालीन युगों में मानदंड की पूर्णता कम ही सम्भाव्य रहती है।

मूल्यगत ह्रास एवं संक्रमण —

यहाँ एक सीधा प्रश्न यह किया जा सकता है कि समीक्षात्मक मूल्यों का ह्रास एवं संक्रमण केवल एक आकस्मिक अथवा सामयिक घटना होती है या वह साहित्यिक विकास की वैचारिक प्रक्रिया का ही एक अंग है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि यद्यपि समीक्षात्मक चिन्तन के क्षेत्र में मूल्यगत संक्रमण की अनेक स्थितियाँ आती हैं, परन्तु जब वैचारिक प्रगति वैज्ञानिक उन्नति की तुलना में पिछड़ जाती है, तब यह संक्रमण अधिक व्यापक रूप में दिखाई देता है क्योंकि वैज्ञानिक और यांत्रिक चरम विकास के युगों में मनुष्य की आस्था भावना असन्तुलित हो जाती है और वैचारिक अस्थिरता बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में ये संक्रान्ति युगीन लक्षण होते हैं और उनका सामान्य युगों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

आधुनिक युग में प्रचलित और विकसित कुछ प्रमुख वैचारिक आन्दोलनों पर यदि हम विचार करें तो हम देखेंगे कि जब भी संक्रान्ति युग आते हैं तब प्रतिक्रियात्मक रूप में मानवतावादी मूल्यों में मनुष्य की आस्था बढ़ने लगती है और यांत्रिक उपलब्धियों की दौड़ उसके विश्वास और सामर्थ्य को खोखला बना देती है। इसलिये संक्रान्ति युगों

में मूल्यों के ह्रास की समस्या विशेष रूप से जटिल होकर सामने आती है और तभी ऐसा भी प्रतीत होता है जैसे वैज्ञानिक प्रगति और वैचारिक उपलब्धियों में इस प्रकार का समझौता होना आवश्यक है क्योंकि इनमें से एक भी पक्ष अनियंत्रित हो जाती है अथवा दोनों में विकासगत प्रतिकूलता लक्षित होने लगती है तब मूल्यगत प्रतिकूलता लक्षित होने लगती है। मूल्यगत संक्रमण गम्भीर रूप में वैचारिक चेतना को प्रभावित करते हैं और फिर यह समस्या गम्भीरतर रूप में सामने आती है क्योंकि युग के विकास और जीवन के स्तर में सामंजस्य और सन्तुलन लाने के लिये यह सर्वथा आवश्यक होता है।

युगीन उपलब्धियाँ —

समीक्षा के स्थायी मान निर्धारण के सन्दर्भ इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि जब तक समीक्षा के माध्यम से पाठक को इस चेतना की प्रतीति न होगी कि युग की साहित्यिक उपलब्धियाँ क्या हैं, एवं अन्तर्दृष्टि के रूप में उसे एक माध्यम न मिलेगा तब तक समीक्षा अपूर्ण समझी जाएगी। इसके अतिरिक्त रचनात्मक साहित्यकार को भी साहित्य के उपलब्ध मूल्यों एवं सम्भावनाओं के विषय में सक्षम बनाना होगा। इसलिये जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं कि साहित्य के मान दंड के कौन से आधार हैं तब हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि समीक्षा के जो विविध युगीन मान्य सिद्धान्त हैं उनमें कितना स्थायित्व अथवा विस्तार है। यहाँ पर यह संकेत करना भी असंगत न होगा कि विविध युगों में भिन्न भिन्न भाषाओं में जो सिद्धान्त कभी मान्य रहे वे युगीन युग भावना के अनुसार अविकसित अथवा अपूर्ण थे। वास्तव में भारत और यूरोपीय देशों की विविध भाषाओं के प्रमुख समीक्षात्मक सिद्धान्तों का अपना महत्व है और उनकी उपलब्धियाँ भी निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण रही हैं। भावी विकास के युगों में जो युगगत संक्रमण की स्थितियाँ आती हैं वे इतिहास की बड़ी भूमिका में ही अपूर्ण प्रतीत होती हैं। दूसरे शब्दों में साहित्य की मूलभूत मान्यताओं के विषय में प्रायः प्रत्येक युग में एकमता रही है। यद्यपि इसके साथ ही साथ प्रत्येक उच्चकोटि के विचारक में दृष्टिकोणगत वैभिन्य भी रहा है। उदाहरण के लिये काव्य अथवा साहित्य के उद्देश्य के विषय में संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के विचारक किसी सीमा तक एक मत हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों तर्कों और विचार प्रणालियों में भारी अन्तर दिखाई देता है।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति एकात्मक स्वरूप :—

ऊपर हमने एक स्थल पर लिखा है कि अनुभूति के रूप तथा उसकी अभिव्यक्ति में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध होता है। इसीलिये श्रेष्ठ साहित्यकारों की कृतियों में हमें यह विशेषता दिखाई देती है कि उनकी अनुभूति समान रूप से अभिव्यक्तिगत महत्ता भी रखती है। दूसरे शब्दों में श्रेष्ठ साहित्यकार की अनुभूति स्वाभाविक रूप से निर्दोष रहती है क्योंकि अनुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यमों पर उसका विशेष रूप से अधिकार रहता है। केवल कुछ परिस्थितियों में इन दोनों में सौन्दर्यगत विपर्यय दिखाई देता है जब रचनात्मक लेखक किसी प्रकार के दुराग्रह के वशीभूत हो जाता है। इसलिये यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी कृति की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की शैली यद्यपि दो पृथक तत्व हैं परन्तु इनकी अन्तर्सम्बद्धता को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि शैली को भी अनुभूति की ही एक विशेषता के रूप में मान्य किया जाए और इस प्रकार से रचनात्मक साहित्य के इन दोनों तत्वों का पृथक्करण न किया जाए। वास्तव में उच्चकोटि का रचनात्मक साहित्यकार अपनी अनुभूति को जो अभिव्यक्ति देता है वह एक काल्पनिक अथवा चामत्कारिक वस्तु नहीं होती, वरन् स्वाभाविक रूप से उस अनुभूति की सरसता के अनुपात में कलात्मक परिपूर्णता से युक्त होती है। इसीलिए अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम स्वतन्त्र कलात्मक और वैज्ञानिक विशेषताएँ रखते हुए भी एक प्रकार की एकात्मकता से युक्त है क्योंकि इनकी रचना प्रक्रिया इनमें कोई स्पष्ट विभेद नहीं घोषित करती। जहाँ एक ओर किसी साहित्यकार की अनुभूति की सरसता से हम प्रभावित होते हैं वहाँ दूसरी ओर उसकी शैली भी हमारे ऊपर चामत्कारिक प्रभाव डालती है। यह भी इन दोनों तत्वों के एकात्मक स्वरूप का एक प्रमाण है।

ऊपर कई स्थलों पर हमने इस बात की चर्चा की है कि साहित्य का अन्तरंग और बहिरंग रूप से परीक्षण करना किस परिस्थिति में कितने महत्व का अधिकार है तथा इन दोनों में कौन पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठायी जा सकती है कि रचनात्मक साहित्य के इन दोनों पक्षों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा इनमें किसका महत्व कितना अधिक है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मन्तव्य है कि यद्यपि इन दोनों पक्षों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है परन्तु फिर भी इतना निश्चित है कि बाह्य रूप से समृद्ध होता है क्योंकि तीव्र और गहन अनुभूति निश्चित

रूप से अभिव्यक्ति के आकर्षण से भी सम्पन्न होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में दोनों पक्ष पारस्परिक रूप से अवश्य अन्तर्सम्बद्ध होते हैं।

समीक्षा के मानदंडों के विषय में यह कहना आवश्यक है कि उसे किसी रचनात्मक साहित्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के रूपों पर ध्यान देते हुए तब उसका मूल्यांकन करना चाहिए। केवल यह कहना कि उसका परीक्षण केवल अन्तरंग रूप से होना चाहिए बहिरंग रूप से नहीं अथवा बहिरंग रूप से होना चाहिए अन्तरंग रूप से नहीं दृष्टिकोणगत अपूर्णता का सूचन करता है। हमारा निश्चित मत है कि समीक्षा का पूर्ण मानदंड केवल वही हो सकता है जो इन दोनों पर दृष्टि रखे और उन दोनों की श्रेष्ठता के आधार पर उनका मूल्यांकन करे। यदि इनका आपेक्षिक महत्व निर्धारित करना आवश्यक ही हो तो अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि चूंकि साहित्य का अन्तरंग उसके बहिरंग से अधिक महत्वपूर्ण होता है इसलिए वही दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कहा जाएगा जो अन्तरंग के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता का माप करे और उसके विषय में निर्णय दे। इस सम्बन्ध में यह कहना भी असंगत न होगा कि किसी भी कोटि के साहित्य के बहिरंग के आधार पर उसका उचित मूल्यांकन कदापि नहीं किया जा सकता। चूंकि मूलतः साहित्य की रचना प्रक्रिया दो पक्षों में विभक्त होती है। प्रथम अनुभूतिगत अभिव्यक्ति और द्वितीय उस अभिव्यक्ति का स्वरूप। इनमें से प्रथम उसकी अन्तः सामर्थ्य और द्वितीय उसकी शिल्प विशेषताओं का परिचय देती है। यद्यपि इन दोनों की ही उच्च कोटीय परिणति के लिए श्रेष्ठ प्रतिभा की अपेक्षा होती है, परन्तु प्रथम का सम्बन्ध जहाँ एक ओर रचयिता की कलात्मक सामर्थ्य से होता है वहाँ द्वितीय का वैज्ञानिक है।

श्रेष्ठता और कलात्मकता —

इसी पक्ष से सम्बन्धित कुछ अन्य तत्व भी ऐसे होते हैं जो इन दोनों पक्षों के निर्णायक होते हैं। उदाहरण के लिये सौन्दर्यात्मकता का तत्व भी उसके कलात्मक पक्ष से ही सम्बद्ध है। इसलिए यह कहना साहित्य के इन दोनों रचनात्मक पक्षों में से कौन उच्च अथवा हीन है अथवा कम या अधिक महत्व रखता है, एक निरर्थक विवाद है। विश्व के श्रेष्ठ साहित्य की अवगति इस तथ्य का सूचन करती है कि श्रेष्ठतम

कोटि की रचना सर्वेव श्रेष्ठता के आवरण से भी युक्त होती है। पृथक् पृथक् रूप से यदि हम चाहें तो इनका मूल्यांकन अवश्य कर सकते हैं परन्तु इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि श्रेष्ठ कलाकार अपनी दृष्टि को प्रथम पक्ष तक ही सीमित रखता है, द्वितीय के क्षेत्र में उसकी सम्भावनाएं स्वाभाविक रूप से उद्भूत होती हैं। अपवाद रूप में भले ही कभी कोई भिन्नता अथवा असाधारणता हमें दिखाई दे, परन्तु सामान्य रूप से इसमें किसी प्रकार के विपर्यय अथवा असमंजस्य के लिए अधिक स्थान नहीं रहता।

कृतित्व की कसौटी —

यहां पर हम एक और तथ्य की ओर संकेत करना चाहेंगे। वह यह है कि समीक्षा का मान स्वयं श्रेष्ठ कृतियां ही होती हैं। उसके निर्धारण का आधार कोई बाह्य तत्व कभी नहीं होते। किसी भी महान् लेखक की अमर कृति जब किसी युग में प्रस्तुत की जाती है, तब वहां के समीक्षात्मक मानदण्डों की भावना में मूलभूत परिवर्तन होता है। तब जो नया मानदंड बनता है वह उसी कृति की महत्ता के क्षेत्र से नियमित होता है। इसके पश्चात् जब फिर कोई महान् कृति रची जाती है तो उसका मूल्यांकन करने वाला समीक्षात्मक मानदंड पुनः परिवर्तित होता है। कभी-कभी असाधारण उपलब्धियों के कारण इन मानदंडों के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। दूसरे शब्दों में जब भी कोई भिन्न अथवा नवीन प्रकार की उपलब्धि सामने आती है तभी अनिवार्य रूप से नवीनतर मानदंड की अपेक्षा होती है। समीक्षात्मक मानदंड का निर्धारण उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार महानतम कृतियों के आधार पर ही होना चाहिए। जो स्थायी या क्लासिकल महत्व की कृतियां हैं वे स्वयं मूल्यांकन या समकालीन प्रचलित मानदंड होती हैं। उनकी श्रेष्ठता की माप किसी भी पूर्ववर्ती या समकालीन प्रचारिक मानदंड के अनुसार नहीं की जा सकती है। प्रत्येक महान साहित्यकार स्वयं एक नवीन मानदंड का अनुसार निर्धारण करता होता है। उसकी कृति साहित्यिक श्रेष्ठता की कसौटी होती है। अपने अपने काल में जो जो साहित्यकार होते हैं वे सभी एक एक परिवेश के एक मात्र उपलब्धिकर्ता सिद्ध होते हैं। विश्व के महानतम साहित्यकारों में इसी कारण से हम भारी विषमता देखते हैं। महर्षि वेदव्यास होमर, कालिदास शेक्सपीयर मिल्टन तुलसी सूर, बिहारी कीट्स टाल्सटाय आदि महान् मनीषियों में कठिनाई से जो ऐसे मिलेंगे जो स्थूल अर्थों में परिवेशगत एकात्मकता रखते हैं। अथवा अनुभूति क्षेत्रीय विशिष्टता या एकरूपता की दृष्टि से

उनमें कोई साम्य हो यद्यपि मूल मानव अनुभूतियों के रूप तथा अभिव्यक्ति के स्तर की प्रौढ़ता की दृष्टि से उन सब में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में उच्चतम कोटि के मनीषी अपनी अमर कृतियों में अपने अपने युग की मानवीय मनोवृत्ति की विवृति करते हुए वास्तविकताओं का सम्पूर्णता के साथ अत्यन्त प्रामाणिक और विश्वसनीय रूप में अंकन करते हैं। श्रेष्ठ कलाकार इन एकरूपताओं के साथ कल्पनात्मक परिस्थितियों की सृष्टि से भी पारस्परिक समानता रखता है। इसलिए इन साहित्यकारों द्वारा प्रणीत कृतियों के लिए पृथक पृथक मानदंड की अपेक्षा होती है और उनके स्वयं के आधार पर साहित्य का माप करने वाली स्थायी कसौटियों का निर्माण होता है।

उपलब्धियों की अवगति —

समीक्षात्मक मानदंड की पूर्णता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें कुछ ऐसे नियमों का विधान हो जिनके माध्यम से यह देखना सम्भव हो कि जिस साहित्य की परीक्षा की जा रही है उसका रचयिता किस प्रकार के अनुभव से अपने साहित्य को समृद्ध करता है। यदि उसमें विश्व की प्रधान भाषाओं में रचित श्रेष्ठ साहित्य की अवगति है और वह उनकी उपलब्धियों और महत्ता से सुपरिचित है तो उसके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। तब यह भी पता चल जाता है कि उसके साहित्यिक प्रयत्न एक पूर्व अनुशासित शैक्षिक कार्य से गुजर चुके हैं और वह जिस बात को कह रहा है उसको कहने का सर्वथा योग्य और अधिकारी है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ साहित्य का पारायण उसे इस विवेक से सम्पन्न बनाता है जिसके द्वारा महान् उपलब्धियों का श्रेणीकरण किया जाता है।

मान का प्रयोग —

यदि हम अपेक्षाकृत उदार और व्यापक दृष्टिकोण से विचार करें तो हम ऐसा प्रतीत होगा कि समीक्षा का कोई भी मानदंड प्रत्येक प्रकार के साहित्य पर आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि चाहे वह जितना व्यापक क्षेत्रीय हो परन्तु अधिक से अधिक वह साहित्य के परीक्षण की एक कसौटी मात्र है। इसलिए किसी भी भिन्न कोटि के साहित्य का परीक्षण उसके माध्यम से सम्भव नहीं है। कोई भी रचनात्मक कृति एक ही मानदंड से परीक्षित करना उसके साथ अन्याय करना है, क्योंकि यदि कोई कृति किसी अनुभूतिगत संकुचित परिवेश में रची गयी है, तो उसका परीक्षण किसी व्यापक

मानदंड के आधार पर करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि किसी कृति में किसी वैयक्तिक अनुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है तो उसका परीक्षण मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित मानदंड से नहीं हो सकता। इसलिए किसी रचनात्मक कृति में अभिव्यक्त अनुभूति का परीक्षण उसकी विश्वसनीयता के आधार पर किया जाना चाहिए। इस रूप में वह एक शास्त्रीय कसौटी होने के साथ ही साथ उसकी रचना प्रक्रिया की विवृति करने वाला एक व्याख्यात्मक मान भी होगा। समीक्षा का मान साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्धारण और माप करने के साथ यह भी देखता है कि कोई लेखक साहित्य सृजन करते समय चेतना के समृद्ध आवर्त को अपनी हृदयानुभूति से मिश्रित करके किस रूप में उसका प्रस्तुतीकरण करता है। इसलिए साहित्यिक श्रेष्ठता का माप उसमें निहित बहुमुखी चेतना से भी किया जा सकता है।

सम्यक मान का स्वरूप —

अंत में सम्यक मान निर्धारण के स्वरूप के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वह समन्वयात्मक होना चाहिए। समीक्षा का कार्य साहित्य का मूल्यांकन और आलोचनात्मक सिद्धान्तों का परीक्षण है। समीक्षात्मक उद्देश्यों की यह बहुरूपता उसकी रूपात्मक भिन्नता का कारण होती है। इसलिए, हमारे विचार से समीक्षा का समन्वित परिवेश युग और प्रवृत्ति की संकुचितता से मुक्त होना चाहिए। उसे प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य मानदंडों की भाँति केवल साहित्य के आन्तरिक अथवा बाह्य रूप का परीक्षक न होकर उसमें अभिव्यक्त मूल अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति की परख करनी चाहिए। उसमें न तो पूर्वग्रह रूढ़िवादिता या विश्लेषण हो और न नवीनता का अनावश्यक आग्रह वरन् इनके मध्य का मार्ग होना चाहिए। यदि वह यथार्थानुकारिता का परीक्षक हो तो सत्य के सभी रूप उसके परिवेश में हों उसे पाठक के सार्वभौम अनुभव की विवेचना करने में भी समर्थ होना चाहिए। उसमें युगीन परिवर्तनों को ग्रहण करने की क्षमता भी होनी चाहिए, क्योंकि परिवर्तन की आवश्यकता ही उसके पुराने पड़ जाने की सूचक है और नवीन व्याख्या के लिए नवीन दृष्टिकोण आवश्यक है। उसमें इतना लचीलापन होना चाहिए कि समय समय पर नवीनता का समावेश होता चले क्योंकि रचनात्मक साहित्य के साथ ही साथ उसके परीक्षक मानदंड में भी विकास होना चाहिये। पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के उच्चतम के आधार पर नवीन नियमन में रस ग्राह्यता के साथ प्रबुद्ध विवेक भी होना चाहिये। इसीलिए समीक्षा का उपयुक्त और सम्यक मानदंड समन्वयात्मक ही हो सकता है। जहाँ तक उसके निर्धारण की सम्भाव मार्गों का सम्बन्ध है, वे तभी हो सकती हैं जब साहित्य की विभिन्न युगीन महान् कृतियों

और उपलब्धियों का संयोजन करके वैज्ञानिक विकास के साथ उनका संतुलन करें, क्योंकि समीक्षा का मान और आदर्श स्वयं उत्कृष्ट कृतियाँ ही होती हैं।

निष्कर्ष रूप में हम यह कहना चाहेंगे कि समीक्षा के क्षेत्र में मान निर्धारण की की समस्या का निदान तभी प्रस्तुत हो सकता है, जब हम अपने देश के प्राचीन विचारकों के सिद्धान्तों का गम्भीरता के साथ विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से अध्ययन करें। हमारे देश में प्राचीन युगीन साहित्य शास्त्र की समृद्धि का एक कारण यह भी था कि विद्वों के अतिरिक्त जन सामान्य में भी काव्य रुचि और शास्त्र प्रवृत्ति थी। हम इस प्रवृत्ति को प्रचारित कर सकते हैं यदि हम में साहित्य शास्त्रीय मूल्यों की चेतना जाग्रत हो। विज्ञान के वर्तमान युग में आधुनिक युगीन साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से हम पाश्चात्य देशों की अपेक्षा महत्तर उपलब्धियों से हीन हैं। हमें यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए कि विकास के किसी भी युग में प्राचीन सिद्धान्तों और उनकी परम्पराओं का परित्याग नहीं किया जा सकता। ये किसी भी स्वाभिमानिनी और अतीत गर्विणी जाति के लिए सांस्कृतिक गौरव की बात भी नहीं होगी। इसलिए उन्हें हम ग्रहण करेंगे और उनके महत्वपूर्ण अंशों को स्वीकृत करके शास्त्रान्वेषण की प्रवृत्ति को जाग्रत करते हुए उसकी चेतना की पृष्ठभूमि में नयी सम्भावनाओं पर चिन्तन करेंगे। ऊँचे स्तर के सर्जनात्मक चिन्तन के लिए सांस्कृतिक गौरव का बोध आवश्यक और अन्तर्दृष्टिदायक भी होता है। अतः अतीत की महान् वैचारिक परम्पराओं और आधुनिक चिन्तन की समृद्ध धाराओं का विवेकपूर्ण समन्वय ही समीक्षा का सम्यक मान निर्धारण कर सकेगा एवं इस क्षेत्र में हमारा मार्ग प्रशस्त करने में समर्थ होगा।

परिशिष्ट १

सहायक ग्रन्थों की सूची

क हिन्दी

" अनुसन्धान का स्वरूप" सं० डा० सावित्री सिन्हा
" अनुसन्धान की प्रक्रिया", सं० डा० सावित्री सिन्हा तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक
"अरस्तू का काव्य शास्त्र", अनु० डा० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी
"अलंकार चन्द्रोदय" रसिक सुमति
अलंकार पंचाशिका", मतिराम
'अलंकार पीयूष" डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
"अलंकार भूषण" लाला भगवानदीन
"अलंकार मंजूषा", लाला भगवानदीन
"आचार्य केशवदास", डा० हीरालाल दीक्षित
"आधुनिक कवि", भाग १ श्रीमती महादेवी वर्मा
"आधुनिक समीक्षा डा० देवराज
"आधुनिक साहित्य", श्री नन्द दुलारे बाजपेयी
"आधुनिक साहित्य", प्रतापनारायण टंडन
"आधुनिक हिन्दी साहित्य" श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त
"आलोचनांजलि" प० महावीर प्रसाद द्विवेदी
"आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त" डा० एस० पी० खत्री
"आलोचना समुच्चय" श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'
"कर्णाभरण" गोविन्द
"कविकुल कंठाभरण" दूलह कवि

(ध)

(न)

(फ)

(ब)

(ल)

(ह)